प्रकाशक—
महेन्द्र, सञ्चालक
साहित्य-रत्न-भण्डार
४, गांधी मार्ग, आगरा।

प्रथम संस्करण	१९३८
द्वितीय ,,	१९४०
तृतीय ,,	१९४१
चतुर्थ ,,	१९४२
पञ्चम् ,,	१९४३
षष्ठम् ,,	१९४४
सप्तम् ,,	१९४६
अष्टम् ,,	१९४७
नवम् ,,	१९४८
दशम् ,,	१९४८
एकादश ,,	१९४९
द्वादश ,,	१९५०
त्रयोदश ,,	१९५१

मुद्रक—
साहित्य-प्रेस,
आगरा।

निवेदन

इतिहास में नामों की अपेक्षा प्रवृत्तियों और परिस्थितियों का अध्ययन अधिक आवश्यक है क्योंकि उनके ही द्वारा विकासक्रम की श्रेणियाँ समझी जा सकती हैं। यद्यपि हमारा मूल ध्येय तो विकास-क्रम का अध्ययन ही रहा है तथापि यथासम्भव नामों की उपेक्षा नहीं की गई है। हिन्दी साहित्य की उन्नति दिन-दूनी रात-चौगुनी हो रही है, उसके साथ कदम मिलाये रखना सहज नहीं है। फिर भी प्रायः प्रत्येक संस्करण में हम इस पुस्तक में संशोधन और परिवर्तन करते गये हैं। अब यह पुस्तक का तेरहवाँ संस्करण है। इस पुस्तक की बिक्री की उत्तरोत्तर वृद्धि सहृदय पाठकों की गुण ग्राहकता का ही फल है। इसके लिए मैं पाठकों का हृदय से आभारी हूँ। इस संस्करण में आवश्यक संशोधन करने के साथ ही बहुत-कुछ परिवर्तन भी किया गया है; इतने पर भी यदि कुछ लेखकों के नाम रह गये हों तो वे लेखक की असावधानी समझ कर क्षमा कर दें।

इस पुस्तक के लिए परम श्रद्धाभाजन मिश्रबन्धु-गण तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डाक्टर श्यामसुन्दर दास और डाक्टर रामकुमार वर्मा की पुस्तकों से तथा अन्य पुस्तकों और लेखों से लाभ उठाया गया है। गोस्वामी तुलसीदासजी के निम्नोल्लिखित शब्दों में उन महानुभावों का आभार स्वीकार करना मैं अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ :—

"अति अपार जे सरितवर, जो नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिका परम लघु, बिनु श्रम पारहिं जाहिं॥

गोमती-निवास, आगरा
बसन्त पञ्चमी
२००७

—गुलाबराय

विषयानुक्रम

हिन्दी

साहित्य का सुबोध इतिहास

हिन्दी के पूर्व की भाषाएं

हिन्दी साहित्य के इतिहास के विषय में कुछ कहने से पूर्व उनकी पूर्ववर्तिनी भाषाओं के सम्बन्ध में दो शब्द कह देना आवश्यक है। हिन्दी से पहले की भाषाएँ इस प्रकार मानी गई हैं—

१—वैदिक संस्कृत—इसका प्राचीनतम रूप ऋग्वेद में मिलता है। यह भारतीय आर्यों की भाषा थी।

२—संस्कृत—वैदिक भाषा व्याकरण के नियमों से पूर्णतया जकड़ी हुई न थी। उसमें एक शब्द के कई रूप थे। (जैसे क्षुद्रक-क्षुल्लक, पश्चात् पश्चा देवैः-देवेभिः) जिनसे प्रतीत होता है कि उसका तात्कालिक बोलचाल की भाषा से विशेष सम्पर्क था। जब शिष्ट लोगों के व्यवहार की भाषा अलग होकर नियमबद्ध हो गयी, तब वह संस्कृत अर्थात् संस्कार की हुई या संशोधन की हुई कहलायी। उसमें एक रूपता आगयी और वह सारे देश की भाषा बन गई, किन्तु उसके साथ-साथ उसका विकास भी बन्द हो गया। भाषा को एक रूपता देने तथा व्याकरण के ढाँचे मे बाँधने वालों में पाणिनि का नाम विशेष आदर से लिया जाता है। उनका समय ६०० ईसा पूर्व के लगभग माना जाता है।

३—पहली प्राकृत या पाली—संस्कृत का व्याकरण-बद्ध रूप साहित्य में प्रतिष्ठा पागया, किन्तु व्याकरण की जटिलता के कारण वह जन-समुदाय के लिए कुछ दुरूह हो गयी। वह विद्वानों की ही भाषा

रही और जन-समुदाय की भाषा स्वतन्त्ररूप से विकसित होती रही। बुद्ध भगवान ने जनता में अपने सिद्धान्तों के निमित्त लोक भाषा को ही अपनाया। बौद्ध लोग उसी जन-समुदाय की भाषा को मागधी या मूल भाषा (मागधी मूल भाषा) कहते हैं। पीछे से इसकी पाली (पालि अर्थात् पंक्ति *) नाम से प्रतिष्ठा हुई। प्राचीन बौद्ध ग्रथों में तथा अशोक के शिला-लेखों में यह रूप मिलता है। अशोक के शिलालेख ब्राह्मी तथा खारोष्ट्री दोनों ही लिपियों में मिलते हैं। कुछ लोग बौद्ध की इस मूल भाषा को पहली प्राकृत कहते हैं।

हिन्दू पण्डितो का विचार है कि संस्कृत से प्राकृत का उदय हुआ। उनके मत से उच्चारण की सुगमता सम्बंधी प्राकृतिक नियमो के कारण संस्कृत ने वह रूप धारण कर लिया। उन्होंने संस्कृत से प्राकृत मे रूपान्तर करने के लिए नियम भी दिये हैं। अन्य विद्वानो का मत है कि प्राकृत जन-समुदाय की स्वाभाविक (प्राकृत) भाषा थी जिससे संशोधित होकर संस्कृत (संस्कार की हुई) भाषा बनी।

४—दूसरी प्राकृत—यह प्राकृत के नाम से ही पुकारी जाती है। इसको साहित्यिक प्राकृत भी कहते हैं। कालान्तर में जन-समुदाय की भाषा साहित्य में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती है। ऐसी दशा में साहित्यिक भाषा एक निश्चित-रूप धारण कर लेने के कारण विद्वानों की भाषा हो जाती है और जन-समुदाय की भाषा प्राकृतिक नियमो के अनुसार विकसित होती रहती है। इस प्रकृति के अनुकूल जन-समुदाय की भाषा ने अपभ्रंश का रूप धारण किया।

दूसरी प्राकृत के चार रूप थे—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्द्ध मागधी। इनमें वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को प्रधानता दी है। इसी

---

* पंक्ति पति पत्ती (देखो धेनपुत्री विदग्ध माधव पृष्ठ १८) 'पंक्ति से पट्टी, पट्टी से पाटी और उससे पाली'—डा० श्यामसुन्दरदास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य।'

को आदर्श मानकर अन्य प्राकृतों के नियम इसी से भेद करके बतलाये गये हैं। वह राष्ट्र में व्यापक होने के कारण महाराष्ट्री कहलायी। शौरसेनी का प्रचार देश के मध्य भाग में होने से और व्रज-मण्डल से विशेष संबंध होने के कारण उसका नाम शौरसेनी (अर्थात् शूरसेन के अधिकृत देशों की भाषा) पड़ा। कुछ लोग शौरसेनी को मुख्यता देते हैं और कुछ लोग महाराष्ट्री को। संस्कृत नाटकों में स्त्रियों तथा मध्यवर्ग के पुरुषों की भाषा शौरसेनी है, मागधी का प्रचार मगध (विहार) में था, और अर्द्ध-मागधी का प्रचार कौशल (अवध) में था। अर्द्ध मागधी का क्षेत्र शौरसेनी प्रान्त और मगध के बीच में था। बुद्धदेव और महावीर स्वामी ने इसी भाषा में उपदेश दिया था। पैशाची नाम की एक पाँचवी प्राकृत भी (जिसका प्रचार काश्मीर में था) मानी गयी है। काश्मीर का उत्तर प्रान्त पिशाच या पिशास (कच्चा मास खाने वाला प्रदेश) कहलाता था, इसी के आधार पर इस भाषा का नाम पैशाची पड़ा। पञ्जाबी पर इसका विशेष प्रभाव है।

५—अपभ्रंश—जब साहित्यिक प्राकृत बोलचाल की प्राकृत से पृथक होगयी तब जन-साधारण की भाषा ने स्वतन्त्र रूप धारण कर लिया और वह अपभ्रंश कहलायी जाने लगी। साहित्यिक लोग भी अपढ़ या कम पढ़े लोगों की भाषा को अपभ्रंश अर्थात् बिगड़ी हुई भाषा कहते थे। पहले तो विद्वन्मण्डली में यह तिरस्कार की दृष्टि से देखी जाती थी, पर पीछे उसका भी आदर होने लगा और उसमें भी साहित्य पर्याप्त मात्रा में रचा गया। हेमचन्द्र ने इसका व्याकरण भी रच डाला। गुजरात के जैनाचार्यों ने इस भाषा में ग्रंथ रचना कर इसका मान बढ़ाया। इस भाषा का जैन कथा साहित्य बहुत सम्पन्न है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों की प्राकृतें मानी गयी हैं उसी प्रकार भिन्न-भिन्न अपभ्रंश भाषाएँ भी मानी गयी हैं। शौरसेनी अपभ्रंश ही से व्रजभाषा की उत्पत्ति हुई। शौरसेनी अपभ्रंश एक प्रकार से उत्तरी भारत की व्यापक भाषा थी। "प्राकृत सर्वस्व" के कर्त्ता आचार्य मार्क-

ण्डेय ने तीन प्रकार की अपभ्रंश भाषाएँ मानी हैं—

(१) नागर—जिसमें शौरसेनी का अधिक प्रभाव था और जो गुजरात व राजपूताने में प्रचलित थी (२) ब्राचड़—जो सिन्ध में प्रचलित थी। (३) उपनागर—जो नागर और ब्राचड बोले जाने वाले प्रांत के बीच में बोली जाती थी। (४) प्राचीन हिन्दी—अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के बीच की श्रेणी है। इसे अवहट्ट (या अपभ्रष्ट) नाम दिया गया है। इसको डिंगल से पृथक भाषा भी कहा गया है।

हिन्दी के पूर्व की भाषाओं का काल-विभाग

श्रीयुत डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने स्व-रचित भाषा के इतिहास में प्राचीन भाषाओं के समय इस प्रकार दिये हैं—

१—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा-काल—१५०० पू० ई० से ५०० पू० ई० ।

२—मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल—५०० पू० ई० से १००० ई० ।

क—पाली तथा अशोक की धर्मलिपियाँ—५०० पू०ई० से १ पू०ई० ।

ख—साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ—१ ई० से ५०० ई० तक ।

ग—अपभ्रंश भाषाएँ—५०० ई० से १००० ई० तक ।

३—आधुनिक आर्य भाषा-काल—१००० ई० से वर्तमान समय तक ।

डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने अपने 'हिन्दी भाषा का इतिहास' नाम के ग्रन्थ में हिन्दी के विकास की तीन श्रेणियाँ दी हैं:—

प्राचीन काल—(११००—१५०० ई०) इस काल में हिन्दी भाषा प्राकृत तथा अपभ्रंशों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो पाई थी । इसके नमूने शिला-लेखों, अपभ्रंश काव्य एवं चारण काव्य में मिलते हैं ।

मध्यकाल—(१५००—१८०० ई०) इस काल में हिन्दी की बोलियाँ विशेष कर ब्रज और अवधी अपने पैरों पर खड़ी होने लगी थीं और संस्कृत के तथा अपभ्रंशों के प्रभाव से मुक्त हो गई थीं ।

आधुनिक काल—(१८००)—इस काल में हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्दों को अधिक स्थान मिलने लगा और क्रमशः खड़ी बोली ने ब्रज और अवधी को दबा लिया ।

हिन्दी साहित्य का काल-विभाग

हिन्दी साहित्य का इतिहास चार कालों में विभाजित किया जाता है। वे इस प्रकार हैं:—

१—आदिकाल—(वीरगाथा या चारण-काल संवत् १०५० से १३७५)।

२—पूर्व मध्यकाल—(भक्ति-काल या धार्मिक-काल सं० १३७५ से १७००)।

३—उत्तर मध्यकाल—(रीति-काल संवत् १७०० से १९००)।

४—आधुनिक काल—(स्वातन्त्र्य-काल सं० १९०० से ......)।

यह विभाग बहुत मोटा विभाग है। जिस साहित्यिक प्रवृत्ति का जिस काल में प्राधान्य रहा उसी के नाम से वह काल प्रसिद्ध है। वैसे तो आजकल भी रामभक्ति और कृष्णभक्ति की परम्परा चल रही है और एक प्रकार से वीर-काव्य भी लिखा जा रहा है किन्तु वर्तमान काल को भक्ति-काल या वीरगाथा-काल नहीं कह सकते। यह विभाजन आचार्य शुक्लजी के अनुकूल है। उन्होंने वर्तमान काल को गद्य-काल कहा है। इस काल में गद्य का प्राचुर्य अवश्य है किन्तु इस काल की कविता कम महत्वपूर्ण नहीं है। इस काल की कविता में छन्दों और नियमों की स्वतन्त्रता की ओर अधिक प्रवृत्ति रही। गद्य में भी स्वभावतः स्वतन्त्रता की ओर प्रवृत्ति है।

आदिकाल

(वीर गाथा काव्य)

प्रारम्भिक—यह कहना कठिन है कि हिन्दी का आरम्भ कब से हुआ। कुछ लोग हिन्दी का आरम्भ संवत् ७७० वि० से मानते हैं। 'शिवसिंह सरोज' में तत्कालीन राजा मान के सभासद पुष्य नामक एक कवि का उल्लेख किया गया है जिसने दोहों में कोई अलङ्कार ग्रंथ रचा था, किन्तु इसके लिए हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह राजा भोज के पूर्वज राजा मान के सभासद थे, उनका काल ७७० और इससे भी कुछ पूर्व माना जाता है।

हिन्दी का आदिकाल संवत् १०५० से १३७५ तक माना गया है। इस काल में अपभ्रंश का प्राधान्य था। अपभ्रंश उस समय की बोल-चाल की भाषा तो न थी परन्तु साहित्यिक परम्परा की भाषा अवश्य थी जिसका कि प्रयोग एक प्रचलित रूढ़ि के कारण कवि लोग अपनी रचनाओं में कर रहे थे। उस समय की बोलचाल की भाषा के नमूने हमको खुसरो और कबीर में मिलते हैं। विद्यापति ने अवहट्ट और अपने प्रान्त की प्रचलित भाषा दोनों को ही अपनाया है। विद्यापति की 'कीर्तिलता' अवहट्ट भाषा में है। इस प्रकार आदिकाल का हिन्दी काव्य दो प्रकार के काव्यों में विभक्त है—एक अपभ्रंश काव्य और दूसरा देश-भाषा काव्य।

अपभ्रंश-काव्य—अपभ्रंश काव्य अधिकतर दूहा अर्थात् दोहा के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। जिस प्रकार गाथा कहने से प्राकृत-काव्य का बोध होता है, उसी प्रकार दूहा कहने से अपभ्रंश-काव्य लक्षित होता है। अपभ्रंश काव्य का जो सबसे प्राचीन रूप हमको मिलता है, वह दशवीं शताब्दी के अन्तिम भाग का है। देवसेन (सं० ९९० वि०) के श्रावकाचार नामक एक जैन-ग्रंथ में अपभ्रंश

का अधिक प्रचलित रूप दिखाई पड़ता है। उसका एक दोहा यहाँ पर दिया जाता है :—

जो जिण सासण भाषियउ सो मई कहियउ सारु।
जो पालइ सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

बौद्धों की महायान शाखा से प्रभावित सहजिया सम्प्रदाय की कतिपय पुरानी पोथियों में उस समय के कुछ दोहे मिलते हैं। बौद्धों के चौरासी सिद्धों में सरहपा* नाम के एक सिद्ध हुए हैं, उनका नीचे का दोहा उदाहरणार्थ दिया जाता है। इसका समय ६६० वि० माना गया है।

जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नाहि पवेस।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरेहे कहिअ उवेस॥

सिद्धों के सहजिया सम्प्रदाय में मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को महत्ता देकर एक प्रकार के स्वच्छन्दतावाद का प्रतिपादन हुआ। गोरख-पंथ इसी स्वच्छन्दतावाद की प्रतिक्रिया में चला। उसने वज्रयान की अश्लीलता और वीभत्सता को कुछ कम कर दिया था। गोरख पंथ ने कबीर आदि को प्रभावित किया। उसके हठयोग की प्रतिक्रिया सूर और तुलसी में दिखाई देती है।

इन धर्म-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य स्थानों में भी अपभ्रंश-काव्य के नमूने मिलते हैं। गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (११५०-११६६) के समय में जैनाचार्य हेमचन्द ने सिद्ध हेमचन्द शब्दानुशासन नामक एक वृहत व्याकरण ग्रन्थ बनाया था। उसमें से अपभ्रंश भाषा में लिखा हुआ एक 'दूहा' उदाहरणार्थ नीचे दिया जाता है:—

भल्ला हुआ ज मारिया, वहिणि महारा कंतु।
लज्जेजं तु वयसिअहु, जइ भग्गा घरु एंतु॥

अर्थात् हे वहिन! अच्छा हुआ जो हमारा पति (रण) में मारा

*इनको राहुल-भद्र और सरोज वज्र भी कहते हैं। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए 'गङ्गा' का पुरातत्वाङ्क (जनवरी १६३३) देखिए।

गया। यदि भाग कर घर लौट आता तो मैं अपनी उमर की सखियों में लज्जा को प्राप्त होती।

सोमप्रभसूरि—इन्होंने संवत् १२४१ में 'कुमारपालप्रतिबधो, नामक एक संस्कृत-प्राकृत-काव्य लिखा। उसमे कुछ प्राचीन अपभ्रंश काव्य के नमूने और कुछ उनके ही बनाये हुये दोहों के नमूने मिलते हैं।

जैनाचार्य मेरुतुङ्ग—इन्होंने संवत् १३६१ में 'प्रबन्धचिन्तामणि, नामक एक ग्रन्थ बनाया, जिसमें बहुत से प्राचीन राजाओं की कथा संग्रहीत हैं। इन कथाओं के अन्तर्गत राजा भोज के चचा मुञ्ज के कहे हुए बहुत से दोहे मिलते हैं। उनमें से उदाहरणार्थ एक दिया जाता है:—

जा मति पच्छइ संपजई, सा मति पहिली होइ।
मुंज भणई, मुणालवइ! विघन न वेढ़ई कोइ॥

अर्थात् जो बुद्धि घटना के पीछे प्राप्त होती है वह यदि पहले हो तो मुञ्ज कहता है कि हे मृणालवती! किसी को विघ्न न घेरें।

शार्ङ्गधर—(चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में लिखित) इनका 'शार्ङ्गधर-पद्धति, नामक सुभाषित ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। यह भी कहा जाता है कि इन्होने हम्मीर-रासो नामक एक वीरगाथा-काव्य भी रचा था जो आजकल उपलब्ध नहीं है।

विद्यापति की 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' भी अपभ्रंश के अन्तर्गत हैं। ये पुस्तकें तिरहुत के राजा कीर्तिसिंह की प्रशंसा में लिखी गई हैं। एक उदाहरण 'कीर्तिलता' से दिया जाता है:—

सब्बउ नारि विअक्खनी, सब्बऊ सुस्थित लोक।
सिरि इमराहिमसाह गुणे नहि चिन्ता नहिं शोक॥

उपसंहार—पुरानी हिन्दी का विकास अपभ्रंश काव्य में ही हुआ। जहाँ पर अन्तर थोड़ा होता है वहाँ पर संक्रान्ति के समय का पता लगाना कठिन हो जाता है। सं० १०५० के लगभग अपभ्रंश के

दूहा-साहित्य का खूब प्रचार था। उसी समय से हिन्दी का जन्म समझना चाहिए।

प्राचीन हिन्दी के सम्बन्ध में राहुल साँकृत्यायन ने बहुत कुछ खोज की है उसी के आधार पर काशी प्रसाद जायसवाल के सरहाँ या सरहपा नाम के एक सिद्ध को हिन्दी का प्रथम लेखक माना है। वह सातवीं शताब्दी में विद्यमान था। जो कुछ हो, यह कहना पड़ेगा कि पुरानी हिन्दी के विकास में जैनाचार्यों तथा बौद्ध-सिद्धों का बहुत कुछ हाथ था। उनकी लिखने की प्रवृत्ति धर्म की ओर थी, उन्होंने साहित्यिक विषयों को कम स्पर्श किया। इसी कारण साधारण जनता में उनकी कम प्रसिद्धि हुई। उसका अधिकांश में साम्प्रदायिक रूप ही रहा।

दूसरी बात जो इस सम्बन्ध में ध्यान देने की है वह यह है कि जैसे जैसे हिन्दी का विकास होता गया, वह प्राकृत के बन्धनों से छूटती गई और संस्कृत के तत्सम शब्दों को अपनाती गई।

वीर-गाथा काव्य—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आदि-काल में दो प्रकार की रचनाएँ हुई। एक अपभ्रंश की और दूसरी देश-भाषा की। अपभ्रंश की पुस्तकों में चार साहित्यिक पुस्तकों का उल्लेख किया जाता है, और देश-भाषा काव्य में आठ पुस्तकें प्रसिद्ध हैं:—

अपभ्रंश काव्य—(१) विजयपाल रासो, (२) हम्मीर रासो, (३) कीर्तिलता, (४) कीर्तिपताका।

देश भाषा काव्य—(१) खुमान रासो, (२) वीसलदेव रासो, (३) पृथ्वीराज रासो, (४) भट्ट केदार कृत जयचन्द प्रकाश, (५) मधुकर कवि-कृत जयमयङ्क जसचन्द्रिका, (६) परमाल रासो, (७) खुसरो की पहेलियाँ, (८) विद्यापति की पदावली।

परिस्थिति एवं सामान्य परिचय—हिन्दी साहित्य का जन्म ऐसे समय में हुआ जब कि मुसलमानों के आक्रमण आरम्भ हो गये थे। हिन्दू

राजा लोग अपने-अपने राज्यों की रक्षा में लगे हुए थे। मुसलमानों की लूटमार जारी थी। ये लोग कभी खदेड़े जाते थे और कभी प्रबल होकर अपना अधिकार जमा लेते थे। गजनी, गौरी के आक्रमणों ने राजपूतों को शिथिल कर दिया था। राजपूत राजा लोग अपने-अपने वैयक्तिक गौरव की अधिक परवाह करते थे। देश के गौरव का उन्हें कम ध्यान था। उनमें वीरता थी किन्तु वह वीरता का कोष प्रायः आपस की प्रतिद्वन्द्विताओं में खाली किया जा रहा था। इन प्रतिद्वन्द्विताओं के कारण राजा लोग एक-सूत्र-बद्ध सामूहिक शक्ति का परिचय न दे सके। मुसलमानों के पैर धीरे-धीरे जमते गये। उन दिनों कन्नौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाड (गुजरात) आदि राजधानियाँ ही प्रधान क्रियास्थली थीं। प्रमुख वीर-गाथा-काव्य दिल्ली और कन्नौज के राजाओं तथा उनके अनुयायियों के प्रतिद्वन्दितापूर्ण चरित्रों पर आश्रित हैं। चन्द ने पृथ्वीराज का वर्णन किया तो भट्ट केदार और मधुकर कवि ने जयचन्द का यश गाया।

यह युग युद्ध का युग था। साहित्य समाज का प्रतिविम्ब होता है। इसी नियम के अनुकूल तत्कालीन साहित्य पर वीरता की छाप पड़ी। उस काल के साहित्य-निर्माता चारण लोग थे जो अपने आश्रयदाताओं का यश गान कर उन्हें युद्ध के लिए प्रोत्साहन देते और कभी-कभी लेखनी या वाणी के चमत्कार और कौशल के साथ-साथ तलवार का भी कौशल दिखलाकर युद्ध-क्षेत्र में वीर-गति को प्राप्त होते थे। इन लोगों में भी अपने आश्रयदाताओं की भाँति वैयक्तिक भावना की मुख्यता थी। इसी कारण इनकी कविता में जो राष्ट्रीय-भावना वाँछ-नीय थी उसका अभाव रहा। वे अपने आश्रयदा राजाओं का ही यशो-गान करना जानते थे। 'जिसका खाना उसका गाना' की लोकोक्ति प्रसिद्ध है ही। उस समय का काव्य, वीर-काव्य अवश्य था किन्तु उसके राष्ट्रीय-काव्य होने में सन्देह है।

वीर-गाथाओं के साथ इस प्रकार के काव्य में शृङ्गार का भी पुट

पर्याप्त मात्रा में रहता था क्योंकि प्रायः स्त्रियाँ ही पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता और झगड़े का कारण होती थीं और उनके रूप तथा प्रतिद्वन्द्वियों से उनकी रक्षा का वर्णन ही ऐसे काव्यों का रुचिकर विषय होता था। ऐसे काव्यों के विषय में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें तत्कालीन युद्धों का बड़ा सुन्दर और सजीव वर्णन है। संक्षेप में वीरगाथा काव्य ग्रन्थों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

१—आश्रयदाताओं की प्रशंसा।

२—वीर रस के साथ शृङ्गार का पुट।

३—युद्धों का सुन्दर एवं सजीव वर्णन।

४—कल्पना का प्राचुर्य।

५—इतिहास की अपेक्षा काव्य की मात्रा अधिक।

वीर-गाथा काव्य प्रबन्ध-काव्य के रूप में भी मिलता है और वीर गीतों के रूप में भी। ये ग्रन्थ रासो के नाम से प्रसिद्ध हैं। रासो का सम्बन्ध रसायन और कहीं-कहीं रास (आनन्द) से लगाया जाता है। 'रास प्रगासी वीसलदे राइ'। 'रासो' शब्द का सम्बन्ध रहस्य से भी बतलाया गया है। प्रबन्ध-काव्य के रूप में आये हुए रासो-ग्रन्थों में खुमान रासो और पृथ्वीराज रासो प्रसिद्ध हैं।

खुमान रासो—यह दलपति विजय का बनाया हुआ ग्रन्थ है। कहा जाता है कि मूल पुस्तक में चित्तौड़ के दूसरे खुमान (८७०-९००) के युद्धों का वर्णन है। वर्तमान प्रतियों में महाराणा प्रताप तक का वर्णन है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रायः आठ सौ वर्ष तक इसमें परिवर्तन होता रहा है। इनमें यह नहीं कहा जा सकता कि प्रक्षिप्त भाग कितना है, और यह भी नहीं कहा जा सकता कि दलपति विजय मूल ग्रन्थ का रचयिता है अथवा पिछले भाग का।

पृथ्वीराज रासो—पृथ्वीराज रासो वीरगाथा-काल के ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध है। साधारणतया यह उस काल का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। यह प्रबन्ध-काव्य है और इसमें वीर भावों की बड़ी सुन्दर

अभिव्यञ्जना की गयी है। यह ग्रन्थ हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जाता है, किन्तु रामायण, महाभारत आदि में जो जातीय भावों का उद्घाटन दिखाई देता है, वह इसमें नहीं है। इस ग्रन्थ में कल्पना की उड़ान और उक्तियों की चमत्कारिता का अच्छा परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ में ६९ समय अर्थात् अध्याय हैं। इसमें छप्पय, कवित्त, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या छन्दों का प्राचुर्य पाया जाता है। इस ग्रन्थ की कथा चन्द की दूसरी स्त्री गौरी से कही गयी थी।

इस ग्रन्थ के रचयिता श्री चन्दवरदाई (सं० १२२५-१२४९) माने जाते हैं। ये महाकवि भट्ट जाति के अन्तर्गत जगात गोत्र के थे। ये दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट महाराज पृथ्वीराज के सखा, सामन्त और राजकवि थे। कहा जाता है कि पृथ्वीराज और इनका जन्म एक ही तिथि को हुआ था और मृत्यु भी एक ही तिथि को हुई। इस प्रकार पृथ्वीराज के साथ इन्होंने पूर्ण मित्रता निभाई। ऐसा कहा जाता है कि जब महाराज पृथ्वीराज गजनी पकड़ कर ले जाये गये तो कुछ दिनों बाद चन्द भी वहाँ पधारे। पृथ्वीराज चन्द के इशारे पर शहाबुद्दीन को शब्द भेदी बाण से मार कर स्वयं चन्द के हाथ से मर गये तथा उसी समय चन्द ने अपना भी प्राणान्त कर लिया। कादम्बरी के रचयिता बाण की भाँति इनको भी अपने ग्रन्थ का अपूर्ण भाग अपने पुत्र जल्हन को सौंपना पड़ा था। इसका उल्लेख रासो में इस प्रकार आता है—

'पुस्तक जल्हन हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज'

पृथ्वीराज रासो में अग्निकुल के क्षत्रियों की उत्पत्ति से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तार वर्णन है। सुप्रख्यात इतिहासवेत्ता रायबहादुर साहित्यवाचस्पति स्वर्गीय श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने काश्मीरी कवि जयानक के 'पृथ्वीराज विजय' नामक ग्रन्थ के आधार पर रासो में वर्णित घटनाओं की सत्यता में सन्देह प्रकट किया है। उनके मत से रासो एक जाली ग्रन्थ है जो पीछे से चन्द नाम के अन्य

किसी कवि ने लिख दिया है। इस मत का मूल आधार यह है कि पृथ्वीराज रासो की कई घटनाएँ इतिहास से भिन्न हैं और बहुत से संवतों में भी अन्तर है। रासो के संवत् शिलालेखो और दानपत्रों के संवतों से नहीं मिलते। ओझाजी का कथन है कि चन्द ने पृथ्वीराज द्वारा शहाबुद्दीन गोरी का सात बार हराया जाना लिखा है किन्तु इतिहास से एक बार का भी हराया जाना प्रमाणित नहीं होता। रासो में पृथ्वीराज की माता का भी नाम ठीक नहीं दिया है। पृथ्वीराज रासो मे उनका नाम कमला है। पृथ्वीराज विजय मे उनका नाम कर्पूरदेवी दिया गया है। शिलालेखो से न तो चौहान आदि राजवंशों के अग्निकुण्ड से उत्पत्ति और न सयोगिता-स्वयंवर की बात प्रमाणित होती है, किन्तु यह शिलालेखों की गवाही अभावात्मक है। सम्भव है उन शिलालेखों के समय तक रासो में वर्णित कथाओं का पूरा-पूरा प्रचार न हुआ हो।

ओझाजी के मत के विरुद्ध प० मोहनलाल विष्णुलाल पाण्ड्या ने रासो के असली होने के पक्ष में यह युक्ति दी है कि यद्यपि रासो के सवतों और इतिहास प्रमाणित संवतों में अन्तर है तथापि वह अन्तर सब स्थानों मे एक-सा है। यह ९० वर्ष का अन्तर है। ९० वर्ष के अन्तर देने का यह कारण बतलाया जाता है कि नन्द-वशीय राजा शूद्र थे और राजपूत गौरव के रक्षक चारण गण उस काल को राजपूतों के इतिहास में नहीं रखना चाहते थे। इसलिए वे उस समय को छोड कर काल गणना पृथक रीति से करते हैं और इसी कारण वह अनन्द अर्थात् नन्द रहित सवत माना गया है। अनन्द का अर्थ भी ९० लगाया है (अ = ०, नन्द = ९)। ओझाजी ने सिद्ध किया है कि अनन्द संवत् की कल्पना करने पर भी रासो की तिथियाँ ठीक नहीं बैठतीं।

शहाबुद्दीन गोरी के सात बार हराये जाने के सम्बन्ध मे मिश्र बन्धुओं का कहना है कि सम्भव है कि मुसलमान इतिहासकारों ने ये घटनायें अपनी हीनता छिपाने के लिए न लिखी हों। आचार्य शुक्लजी

का मत रायवहादुर गौरीशङ्कर हीराचन्द से मिलता है। उनका विचार है कि चन्द नाम का कोई कवि पृथ्वीराज के पुत्र या उनके किसी वंशज के यहाँ रहा होगा। उसने अपने आश्रयदाता के पूर्वजों की प्रशंसा में कुछ छन्द लिखे होंगे। उसमें और छन्द मिलाकर एक ग्रन्थ तैयार हो गया और चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन वतला कर वह ग्रन्थ उसके नाम से प्रख्यात कर दिया गया।

रायवहादुर वा० श्यामसुन्दरदासजी चन्द को पृथ्वीराज का समकालीन होना मानते हैं और यह भी मानते हैं कि उसने कुछ छन्द रचे होंगे और वे वहुत से प्रक्षिप्त छन्दों से मिलकर वर्तमान ग्रन्थ के रूप में आ गये। अव यह कहना कठिन है कि कितना अंश प्रक्षिप्त है और कितना मूल। मिश्रवन्धु भी पाण्ड्याजी के मत का समर्थन करते हुए कहते हैं कि यह वात विचार में नहीं आती कि कोई कवि एक कल्पित कवि के नाम से ढाई हजार पृष्ठ का एक ग्रन्थ रचकर खड़ा करदे, क्योंकि अपने परिश्रम का यश दूसरे को देना सहज कार्य नहीं है। रासो के पक्ष में यह भी कहा जाता है कि उसमें अधिकांश वर्णन वर्तमान काल के रूप में आये हैं। जिससे प्रकट होता है कि उसका लिखने वाला समकालीन कवि है। ओझाजी ने भाषा के सम्वन्ध में जो आपत्ति उठाई है वह यह है कि रासो में प्रायः दश प्रतिशत फारसी अरवी के शब्द आये हैं और पृथ्वीराज के समय में फारसी शब्दों का इतना प्रचार नहीं था। इस सम्वन्ध में भी मिश्रवन्धुओं का कथन है कि पृथ्वीराज के समय फारसी शब्दों का चलन था क्योंकि मुसलमान भारतवर्ष में वहुत काल पहले से आये हुए थे और चन्द लाहौर के रहने वाले होने के कारण मुसलमानों की भाषा से परिचित थे। वास्तव में रासो में कई स्तर की भाषा हैं। कुछ प्रचीन हैं और कुछ नवीन और कहीं-कहीं प्राचीन का सा आभास है।

चन्द के वंशज नानूराम ने पं० हरप्रसाद शास्त्री को रासो की एक प्राचीन प्रति दिखलाई थी जिसको वे संवत् १४५५ की लिखी

बतलाते हैं किन्तु उस ग्रन्थ की पूरी-पूरी जाँच नहीं हुई और जो कुछ जाँच हुई है यह उसकी प्रमाणिकता में सन्देह उत्पन्न करती है।

अब नयी खोज पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता की ओर झुकती जा रही है। पण्डित दशरथ शर्मा का कथन है कि बीकानेर पुस्तकालय में जो रासो की प्रति है उसमें वे स्थल नहीं हैं जिन पर कि ओझाजी को आपत्ति है। दूसरी बात यह है कि मुनि जिनविजयजी को अपभ्रंश के प्रबन्धों में चार छन्द ऐसे मिले हैं जिनका रूपान्तर रासो में मिलता है* इससे यह सिद्ध होता है कि रासो का मूल रूप चाहे जितना छोटा हो किन्तु वह तेरहवीं शताब्दी में रहा होगा।

रायबहादुर श्यामसुन्दरदासजी के मत से रासो प्राचीन काल की साहित्यिक डिंगल भाषा का ग्रन्थ है। इस सम्बन्ध में उनका कथन इस प्रकार है—

ये काव्य (वीर काव्य) दो प्रकार की भाषा में लिखे जाते थे। एक भाषा का ढाँचा तो बिल्कुल राजस्थानी या गुजराती का होता था

---

* उन छन्दो मे से एक का मूल और रूपान्तर नीचे दिया जाता है—यह नागरी प्रचारिणी पत्रिका में डा० श्यामसुन्दरदासजी द्वारा लिखित रासो विषयक एक लेख से उद्धृत किये गये हैं।

१—मूल

इक्कु वाणु पहु वीसु जु पइँ कइ बासइ मुक्कओ,
उर भिंतरी खडहडिउ धीर कक्खँतरि चुक्कउ।
वीअं करि संधोउँ भँमइ सुमेसर नन्दण।
एहु सु गाडिदाहिमओ खणइ खुद्दइ सइँमरि वणु।
फुडि छँडि न जाइ इहु लुब्भिउ वारइ पलकउ खल गुलह
न जाँणउँ चन्दबलद्दिउ किं न वि छुट्टइ इह फलह।

—पृष्ठ ८६ पद्याङ्क (२७५)

जिसमें प्राकृत के पुराने शब्द भी बहुतायत से मिले रहते थे। यह भाषा जो चारणों में बहुत काल पीछे तक चलती रही है, डिंगल कहलाती है। दूसरी भाषा एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी जिसका व्यवहार ऐसे विद्वान कवि करते थे जो अपनी रचना को अधिक देश-व्यापक बनाना चाहते थे। इसका ढाँचा पुरानी ब्रजभाषा का होता था जिसमें थोड़ा-बहुत खड़ी या पञ्जाबी का भी मेल हो जाता था। वास्तव में हिन्दी का सम्बन्ध इसी भाषा से है। पृथ्वीराज रासो इसी साहित्यिक सामान्य भाषा में लिखा हुआ है। पृथ्वीराज रासो से पिंगल भाषा का डाक्टर साहब ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है।

'तिहि रिपुजय पुरहन को भये प्रथिराज नरिंद'

किन्तु अधिकांश लोग उसे डिंगल भाषा का मानते हैं। राजपूताने की भाषा डिंगल कहलाती है। उसमें प्राचीन हिन्दी का वह रूप है जो अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त नहीं है। डिंगल शब्द का अर्थ टेसीटेरी साहब ने अनियमित (Irregular) बताया है। कुछ विद्वानों ने इस शब्द को डिम (डमरू) और गल (गला या ध्वनि) का योग बतलाया है क्योंकि इसके पढ़ने में डमरू वाली ध्वनि होती है। इसका सम्बन्ध राजपूती डींग (डींग मारने) से भी लगाया गया है। कहीं-कहीं छोटे-छोटे छन्दों में अनुस्वारों की भरमार है, जो

रूपान्तर

एक बान पहुमीनरेस कैमासह मुक्यौ।
उर उप्पर थरहर्यौ वीइ कष्पंतर चुक्यौ॥
बियो बान संधान हन्यौ भीमेसर नन्दन।
गाढ़ो करि निग्रह्यो पनिव गड्यौ संभरि धन॥
थल छोरि न जाइ अभागरौ गाड्यो गुन गहि आगरौ।
इम जंपै चन्दबरद्दिया कहा निघट्टे इय प्रलौ॥

—रासो पृष्ठ १४६६ पद्य २३६

सस्कृत का प्राकृतिक अनुकरण मालूम देता है। कहीं-कहीं शब्दों और विभक्तियों के रूप प्राचीन हैं और कहीं-कहीं क्रियाएँ नए साँचे में ढली हुई मालूम देती हैं। डिङ्गल के विरोध में पिङ्गल ब्रजभाषा का नाम हो गया था। पिंगल डिंगल की अपेक्षा अधिक साहित्यिक और सुव्यवस्थित है। चन्द की भाषा में माधुर्य एवं प्रसाद की मात्रा कम तथा ओज की विशेष है। रासो की कथा के उदाहरण-स्वरूप दो छन्द नीचे दिये जाते हैं :—

बिहसि तवंर१ लगन लिन्नोन नरिंदं।
बजी द्वार द्वारं सु आनन्द दुंन्दं॥
गढनं गढ़ंपति सब बोल नुंत्ते।
आयँ भूप सर्वं कुटुम्ब संजुते॥
चले दस सहस्सं असव्वार जानं २।
पूरियं पैदलं तेतीस थानं॥
मदं गल्लित मत्त सैपञ्च३ दन्ती४।
मनो साम ५ पाहार वग पति पन्ती॥
घुरासान मुलतान खंधार मीरं।
बलख स्यो बलं तेग अच्चूक तीरं॥
रुहंगी६ फिरंगी ६ हलव्वी,६ सुमानी७।
ठठीद ठट्ट भल्लोच ढालं निसानी६॥
मँजारी चषी१० मुक्ख जन्बुक लारी११।
हजारी हजारी हुंके जीध भारी॥

उस समय के कवित्त, छप्पय, दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या आदि सभी प्रसिद्ध छन्दों का इसमें व्यवहार हुआ है। छन्दों के बदलने के कारण यह ग्रन्थ अरुचिकर नहीं होने पाया है।

---

१ = शीघ्र। २ = बरात। ३ = पाँचसौ। ४ = हाथी। ५ = काले, ६ = जातियों के नाम। ७ = खूब गर्व से भरे। ८ = दल इकट्ठे हुए। ९ = झण्डे। १०—बिल्ली की सी आँख वाले। ११ = लोमड़ी।

जिस प्रकार चन्दबरदाई ने पृथ्वीराज का यशगान किया है इसी प्रकार भट्ट केदार तथा मधुकर कवि ने संवत् १२२३-१२४३ जयचन्द की कीर्ति का विस्तार किया था। उनके जयचन्दप्रकाश और जयचन्दजस चन्द्रिका दो ग्रन्थ बताये जाते हैं किन्तु वे अप्राप्य हैं।

मुक्तक वीर-गीत-काव्य

वीसलदेव रासो—इस काव्य की रचना संवत् १२१२ में हुई थी। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

बारह से बहोत्तरा मझारि, है जेठ बदी नवमी बुधवार।
नाल्ह रसायण आरम्भइ, सारदा तूठी ब्रह्म कुमार॥

साहित्य वाचस्पति डाक्टर गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने इसका निर्माण-काल सवत् १२७२ माना है। उन्हें ना० प्र० सभा की प्रति के बहत्तरा पाठ से बहत्तर अर्थ ही ठीक जँचता है। प्रकाशित प्रति का पाठ इस प्रकार दिया है—

बारह से वहोत्तरा हो मझारि। जेठ बदी नवमी बुधवार॥

शुक्लजी ने बहोत्तरा को बहोत्तरा (दादशोत्तर) का रूपान्तर माना है।

इनका रचयिता नरपति नाल्ह कवि अपने आश्रयदाता बीसलदेव के समकालीन था। इसमें विग्रह राज चतुर्थ (उपनाम बीसलदेव) के चरित्र का वर्णन है। वीसलदेव बड़े वीर और पराक्रमी राजा थे। इन्होंने मुसलमानों के प्रतिकूल कई सफल युद्ध किये। इनके युद्धों का वर्णन सोमदेव रचित ललित विग्रहराज नाटक में, जो कि सस्कृत में लिखा हुआ है, पाया जाता है। इस रासो में नाल्ह ने वीसलदेव के वीर चरित्रों का वर्णन न कर भोज-तनया राजपूती के साथ उनका विवाह, उनके उड़ीसा चले जाने पर रानी का विरह वर्णन और

उनके लौट आने आदि का वर्णन किया है।

इनकी भाषा राजस्थानी है। बीच-बीच में साहित्यिक पिंगल भाषा के मिलाने का भी प्रयत्न किया गया है। इसमें कुछ फारसी, अरबी और तुर्की शब्दों का भी समावेश पाया जाता है। गाने की चीज होने के कारण इसकी भाषा में फेर-फार होता रहता मालुम, होता है। रायबहादुर प० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना कहा है। इस ग्रन्थ में शृङ्गार के आधिक्य के कारण कुछ विद्वान् इसको वीर-गीतों की संज्ञा में रखते हुए संकोच करते हैं। इस बात में कुछ सत्य अवश्य है किन्तु वीरों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली सभी बातें वीर-गाथा में आजाती हैं। उदाहरण—

कड़वा बोल न बोलिस नारि। तू मेल्हसी१ चित विसार॥
जीम२ न जीम विगोयनों३। दव४का दाधा कुपली मेल्हइ५॥
जीभ का दाधा नु पांगूरई६। 'नाल्ह' कहइ सुणीजइ सब कोई॥

आल्हाखंड—प्रचार की दृष्टि से वीर-गीत काव्य बहुत व्यापक है, किन्तु इसका वर्तमान रूप इसके प्राचीन रूप से, जो उपलब्ध नहीं है, बिल्कुल भिन्न बतलाया जाता है। इसका वर्तमान रूप प्राचीन गीतों के आधार पर रचा हुआ है। इस ग्रन्थ का मूल कर्ता जगनिक (सं० १२३०) है, जो महोबे के चन्देल राजा परमाल के राज-दरबार में रहता था। परमाल जयचन्द का मित्र था। यह ग्रन्थ वास्तव मे वीर रसात्मक है। इसमें मुख्यतः आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) की वीर कृतियों का वर्णन है। ये लोग पृथ्वीराज से भी लड़े थे। इसमें वीर बनाफरों की भी ५२ लड़ाइयों और अनेकों विवाहों का वर्णन है यद्यपि इसमें बहुत सी भौगोलिक अशुद्धियाँ हैं, तथापि यह साधारण पाठकों के लिए बड़ी उत्साहप्रद कथा है।

---

१ = भूल आ। २ = बचन। ३ = छिपाना। ४ = दावाग्नि। ५ = कोपल निकल आये। ६ = पनपता है।

स्फुट रचनाएँ—वीरगाथाओं में जो भाषा प्रयुक्त होती थी वह तत्कालीन बोलचाल की भाषा न थी। साहित्यिक गौरव के लिये लोग प्राचीन भाषा का प्रयोग करना अच्छा समझते थे। बोलचाल की भाषा का प्रवाह स्वतन्त्र रूप से चलता रहा और कुछ कवियों ने उसको भी अपनाया। खुसरो में हम बोलचाल की भाषा का पश्चिमी रूप देखते हैं और विद्यापति में पूर्वी का।

खुसरो—(सं० १३१०—१३८२) मीर खुसरो ने सवत् १३४० के आसपास रचना आरम्भ की। इनकी रचनाओं में देहली के आस पास की खड़ी बोली का रूप दिखलाई पड़ता है जिसमें व्रज-भाषा की ओर भी कुछ झुकाव मालूम देता है। खुसरो ने बोलचाल की भाषा को अपना कर अपनी पहेलियों और मुकरियों द्वारा जनता का अच्छा मनोरञ्जन किया है। खुसरो की कविता से वह बात प्रमाणित होती है कि खड़ी बोली उर्दू में से फारसी शब्द पृथक् करके नहीं बनी वरन् उर्दू, फारसी, अरबी शब्द भर बनी है। खुसरो की पहेलियों के कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं :—

जब मेरे मन्दिर में आवे।
सोते मुझको आन जगावे॥
पढ़त फिरत वह विरह के अच्छर।
ऐ सखि साजन! ना सखि मच्छर॥
वह आवे तब शादी होय।
उस बिन दूजा और न कोय॥
मीठे लागे उसके बोल।
ऐ सखि साजन! ना सखि ढोल॥

× × × ×

एक थाल मोती से भरा,
सब के सिर पर औंधा धरा।

चारों ओर वह थाली फिरे,
मोती उससे एक न गिरे ॥—'आकाश'
न मारा ना खून किया,
मेरा सिर क्यों काट लिया ॥—'नाखून'
श्याम वरण और दाँत अनेक,
लचकत जैसे नारी।
दोनों हाथ से खुसरो खींचे,
और कहै तू आरी ॥

विद्यापति

ये महाकवि मैथिल कोकिल के नाम से प्रसिद्ध हैं। गीत-काव्य लिखने के कारण ये 'अभिनव-जयदेव' भी कहलाते हैं। इन्होंने अपने देश की मैथिल भाषा में बड़े सुन्दर पद रचे हैं। वैष्णवों में इनका विशेष मान भी है। यद्यपि इनकी कविता प्रधानतया राधा और कृष्ण के ही सम्बन्ध में लिखी गई है, तथापि उसमें शृङ्गारिक भावनाएँ अधिक हैं। इसलिए बहुत से आलोचक इनको भक्त न कह कर शृङ्गारी कवि ही कहते हैं। यह प्रश्न बड़ा विवादग्रस्त है। विद्यापति का शृङ्गार-वर्णन भक्ति की मर्यादा से बाहर अवश्य हो गया है किन्तु ऐसा कहीं-कहीं सूर ने भी किया है और सूर की गणना भक्त कवियों में होती है। विद्यापति के हृदय का उल्लास कहीं-कहीं सूर का सा ही है। यद्यपि वे उपासना में शैव थे, उन्होंने शिवजी की भक्ति सम्बन्धी बड़ी सुन्दर नचारियाँ लिखी है। दृष्टिकोण भेद की बात है। यदि इन पदों को कृष्ण भगवान की लीला की भावना से देखते हैं तो यह ही भक्ति के पद हो जाते हैं। कहीं-कहीं पदों का उद्दाम शृङ्गार तथा कवि द्वारा बार-बार आश्रयदाता का उल्लेख भक्ति-भावना से दूर पड़ता है। इनका नख-सिख वर्णन भी भक्त-कवियों का-सा नहीं है। भक्त लोग पहले चरणों का वर्णन करते हैं और इनके वर्णन मुख या वक्षस्थल से आरम्भ होते हैं। इन्होंने कृष्ण को माधव और

हरि अवश्य कहा है। शृङ्गारिक होते हुए भी वे भारतीय परम्परा में कृष्ण की ईश्वरीय भावना से बँधे हुए थे किन्तु हृदय की शृङ्गार-भावना ने उसको दवा लिया है। शिवजी उनके उपास्य थे, यह निर्विवाद है। किन्तु फिर भी नायिका के कुचों को उन्होंने कनक-शम्भु कहा है। कृष्णजी की-भक्ति के भी उन्होंने कुछ अच्छे पद लिखे हैं

माधव हम परिनाम निरासा, तुहुँ जग तारन दीन दयामय
अतए तोहर विसवासा'

हम यह कह सकते हैं कि विद्यापति में भक्ति भावना थी किन्तु उस पर शृङ्गार भावना ने विजय पा ली थी।

उनके पदों को सुनकर चैतन्य महाप्रभु भक्ति के आदेश में लोट-पोट हो जाते थे। यह भावना की बात है। इसके लिए विद्यापति की अपेक्षा चैतन्य महाप्रभु को अधिक श्रेय है।

"जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥"

चैतन्य महाप्रभु के कारण विद्यापति के पदों का मान बढ़ा है।

आनन्दकुमार स्वामी व ग्रियर्सन इनके पदों को जीव और परमात्मा के सम्बन्ध का रूपक मानते हैं। सब पदों में इस रूपक का निभाया जाना कठिन कार्य हो जायगा।

बङ्गाली लोग इनकी भाषा को बङ्गाली के अन्तर्गत बतलाते हैं और हिन्दी-भाषा भाषी इनके पदों को हिन्दी-साहित्य का अङ्ग मानते हैं। यद्यपि बिहारी होने के कारण इनकी कविता में बंगला-पन अवश्य है तथापि अधिकांश शब्द-भण्डार हिन्दी का ही है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी बिहारी हिन्दी के अधिक निकट हैं। उनका स का उच्चारण हिन्दी का सा ही है। हिन्दी की भोजपुरी बोली बिहारी से बहुत कुछ मिलती है।

विद्यापति संवत् १४६० में तिरहुत के राजा शिवसिंह के यहाँ रहते थे। इस राजवंश से इनका घनिष्ट सम्बन्ध था। इनकी कविता में राजा शिवसिंह का विशेष रूप से उल्लेख आया है। इनकी मृत्यु

३३१ लक्ष्मणाब्द अर्थात् संवत् १५६७ विक्रमी में हुई थी। इनके एक प्रसिद्ध पद को उदाहरण स्वरूप लीजिए:—

सखि, कि पूछसि अनुभव मोय।
से हो पिरित अनुराग बखानिए तिल-तिल नूतन होय॥
जनमा अवध हम रूप निहारल नयन न तिरपत भेल।
से हो मधु बोल स्रवनहिं सूनल श्रुत पथ परस न भेल॥
कत मधु जमिनि रभस गमा ओल न बूझल कइसन केल।
लाख-लाख युग हिय-हिय राखल तइयो हिय जुड़ल न गेल॥
कत विदग्ध जन रस अनुमोद अनुभव काहु न पेख।
विद्यापति कह प्राण जुड़ाएत लाखे न मिलल एक॥

काल-क्रम से विद्यापति का वर्णन आदिकाल में आता है किन्तु विषय क्रम से यह कृष्ण-भक्त कवियों की परम्परा के आदि में आते हैं। इस काल के ग्रन्थों में अधिकाँश में वीरों का गुणगान होने के कारण यह वीरगाथा-काल कहा गया है। कुछ लोगों ने वीसलदेव रासो जैसे ग्रन्थ में वीर-रस के अभाव के कारण इस काल को चारण-काल कहना अधिक पसन्द किया है।

गुरु-गोरखनाथ

इनका समय विक्रम की तेरहवीं शताब्दी माना जाता है इनकी रचनाओं में सिद्धों के स्वच्छन्दतावाद के विरुद्ध संयम और सदाचार तथा हठ-योग का, जो इस प्रकार से पतञ्जलि के योग का शैव रूप था, प्रतिपादन हुआ है। कवीर पर इन रचनाओं का बहुत प्रभाव पड़ा है। इनके योग की घोर शुष्कता को सूर ने कुछ शृङ्गारिक सरसता के साथ (विशेष कर भ्रमर गीत में) और तुलसी ने मर्यादा के साथ खण्डन किया है। इन्होंने गद्य और पद्य दोनों ही लिखे हैं। इनके चालीस ग्रन्थ बतलाये हैं। किन्तु उनमें अधिकाँश उनके नाम से उनके शिष्यों द्वारा लिखे हुए हैं। साहित्य सम्मेलन से इनकी वाणी का संग्रह प्रकाशित हो गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक काल में आगे की प्रवृत्तियों का सूत्रपात हो गया था। वीरगाथा की कथाओं में प्रेम-कथाओं के बीज थे। गोरखनाथ में हम कबीर और सन्त साहित्य का आदि स्रोत पाते हैं। विद्यापति में कृष्ण-भक्ति और रीतिकाल के शृङ्गारिक भाव, दोनों के सूत्र हैं। तुलसी और सूर में गोरखनाथ का सीधा प्रभाव तो नहीं है किन्तु उसकी प्रतिक्रिया अवश्य है।

पूर्व मध्य-काल अर्थात् धार्मिक-काल

भक्ति-काल

सामान्य परिचय और विशेषताएँ—हिन्दी का आदि-काल एक प्रकार से लड़ाई-झगड़े का युग था। उसमें अशान्ति थी और एक प्रकार की राजनैतिक आँधी चल रही थी। किन्तु आँधी हमेशा नहीं रहती। आँधी के वाद शान्ति और स्थिरता आती है। भारतवर्ष के राजनीतिक वातावरण में भी अपेक्षाकृत शान्ति उपस्थित हुई, लोगों को दम लेने की फुरसत मिली। राजपूत-वीरता का ह्रास हो चुका था और लोग अस-वस अपनी परिस्थिति से अनुकूलता प्राप्त करते जाते थे। राजपूतों में जब तक कुछ शक्ति थी हिम्मत और साहस था तब तक वीरगाथाओं से थोड़ा वहुत काम चला। किन्तु वल के क्षीण होने पर उत्साह प्रदान से भी कोई काम नहीं चलता। दीपक बुझ जाने पर तेल देने से कोई लाभ नहीं होता।

युद्ध के समय वीर-गाथाओं का काव्य में आना स्वाभाविक ही था, किन्तु शान्ति के समय एक दूसरे ही प्रकार के काव्य की आवश्यकता थी। मुसलमान लोग युद्ध से कुछ ऊब गये। वे चाहते थे कि पराजित देश में शान्ति हो और वहाँ के लोगों के सम्पर्क में आकर कुछ अपनी जड़ जमायें। हिन्दू लोग भी यह चाहते थे कि उनका धर्म ऐसे रूप में आये कि मुसलमान लोग उसका खण्डन न कर सकें! इतना ही नहीं, यदि सम्भव हो तो वे विरोध को छोड़कर उनके साथ मिलें। मुसलमानों की भी इच्छा थी कि वे हिन्दुओं के निकट आवें। तत्कालीन जनता में दोनों ओर से मिलन प्रवृत्ति चल रही थी।

इसके अतिरिक्त एक प्रवृत्ति और भी थी। कुछ लोग अपना

स्वत्व और धार्मिक व्यक्तित्व अलग रखना चाहते थे। वे लोग मुसलमानों के विरोधी नहीं थे। वे संसार को 'सियाराममय' जान कर 'जोरि जुग पानी' प्रणाम करने को तैयार थे किन्तु वे ऐक्य की वेदी पर अपने इष्ट देवों के प्रति अनन्य भावना का बलिदान नहीं करना चाहते थे। भक्ति के द्वारा मृतप्राय हिंदू जाति में एक नवीन जीवन का सञ्चार करना उनका अभीष्ट था। देश मे चारों ओर जो सगुण भक्ति का आन्दोलन चल रहा था, उससे उनकी हृतन्त्री झंकृत हो उठी। जो उपदेश श्री रामानुजाचार्य, श्री वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु तुकाराम आदि सन्तों और महात्माओं ने जनता को दिये थे वे सूर और तुलसी की काव्यमयी धारा में एक नवीन रूप से अवतरित हुए।

इस विवेचना का यह अभिप्राय न समझा जाय कि हिन्दी का भक्ति-काल मुसलमानों से प्रभावित है। हमारे कवियों ने सामग्री तो अपने घर से ली किन्तु उनको कुछ उत्तेजना मुसलमानों से अवश्य मिली। उस समय की परिस्थितियों में मुसलमानों के अस्तित्व की अवहेलना नहीं की जा सकती थी।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें होती हैं। या तो मनुष्य उन बातों में प्रवृत्त हो जिनमें उसकी श्रेष्ठता अक्षुण्ण बनी हुई है। एक ओर की श्रेष्ठता दूसरी की गिरावट की क्षति पूर्ति कर देती है। ऐसी मनोवृत्ति में दूसरी प्रवृत्ति यह होती है कि विजेताओं के हास-विलास में शामिल होकर उनके सहवास में एक प्रकार-की समता का अनुभव करके खोये स्वाभिमान को भूल जायँ अथवा स्वतन्त्र रूप में हास-विलास की मदिरा में अपने पराजय-जन्य दुख को भुला दें।

इस प्रकार उस काल में इन तीन प्रवृत्तियों की मुख्यता थी और उनके फल स्वरूप काव्य की त्रिवेणी स्वरूपा तीन धाराएँ बहीं। वे इस प्रकार थीं:—

१—निर्गुण-पन्थ की ज्ञानश्रयी शाखा—यह हिन्दुओं की ओर से हिन्दू मुसलिम एकता स्थापित करने की इच्छा का फल थी। सन्त कवियों ने निर्गुणवाद में हिन्दू और मुसलमानों को एक दूसरे के निकट आने की सम्भावना देखी। मुसलमान लोग एकेश्वरवाद के मानने वाले थे, उनका मूल मन्त्र था 'ला इला इल इल्लाह मुहम्मद रसूल अल्लाह' अल्लाह के सिवाय दूसरा अल्लाह नहीं है और मुहम्मद खुदा का रसूल या दूत है। वे लोग देवी-देवताओं की पूजा में हिन्दुओं का साथ नहीं दे सकते थे। वे बहु-ईश्वरवाद के विरुद्ध थे। हिन्दू लोग भी बहु-ईश्वरवादी नहीं हैं। हिन्दू लोग भी सब देवी-देवताओं को एक परमात्मा का ही रूप मानते है (एको सत् विप्रः बहुधा वदन्ति)। हिन्दुओं का निर्गुणवाद खुदावाद के बहुत निकट आ सकता था। निर्गुणवाद में खुदा की एकता और निराकारता लगी हुई है। सन्त कवियों ने निर्गुणवाद के आधार पर ही राम और रहीम की एकता कर एवं हिंदू मुसलमानों की निरर्थक रूढ़ियों का विरोध कर दोनों जातियों में अविरोधभाव उत्पन्न करने का उद्योग किया। महात्मा कबीर इस धारा के प्रमुख प्रवर्तक थे। महात्मा कबीर का पालन-पोषण यद्यपि मुसलमानों के घर में हुआ था तथापि रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण करने के कारण उनको हम हिन्दू कहेंगे। इसके अतिरिक्त इनकी चलाई हुई शाखा को हिन्दुओं ने ही आगे बढ़ाया।

२—प्रेम-मार्गी शाखा—यह काव्य धारा मुसलमान सन्तों और सूफियों की सद्भावना का फल था। मुसलमानों का सूफी-सम्प्रदाय हिन्दू धर्म के अधिक निकट आ जाता है। सूफी लोग हिन्दुओं के सर्वेश्वरवाद अर्थात् सारा संसार ही ईश्वर है, के निकट पहुँच जाते हैं। सूफी लोग कट्टर मुसलमानों की अपेक्षा कुछ मुलायम तबियत के होते है। वे लोग ईश्वर को अपने प्रेम-पात्र के रूप में देखना चाहते हैं। (साधारण शरीयत को मानने वाला मुसलमान ईश्वर के साथ मालिक और बन्दे का सम्बन्ध मानता है) उन सन्तों ने हिन्दू प्रेम

गाथाओं को लेकर काव्य रचना की और उसके द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जायसी इस शाखा के प्रधान कवि थे।

३—भक्ति-मार्गी शाखा—यह काव्य-धारा उन भक्तों के अन्तस्तल से प्रवाहित हुई जो अपने इष्ट देवों की पूजा और उपासना में मग्न थे। वे देश और जाति का कल्याण भगवद्भजन में ही देखते थे। उनको राजदरबारों के ऐश्वर्य में तनिक भी आकर्षण न था। वे लोग मुसलमानों से विरोध नहीं रखते थे लेकिन उनमें मिलने की इच्छा भी नहीं थी। वे लोग तो बादशाह का निमन्त्रण आने पर कह देते थे 'सन्तन कहा सीकरी सौं काम।' भक्तिमार्गी शाखा दो उपधाराओं में बही—१—कृष्ण-भक्ति शाखा, २—राम-भक्ति शाखा। सूरदासजी कृष्ण-भक्ति शाखा के प्रमुख कवि थे और तुलसीदासजी राम-भक्ति शाखा के।

हिन्दू धर्म में भगवान के निर्गुण और सगुण दोनो ही रूप मान्य हैं। सन्तों ने निर्गुण रूप को अपनाया, भक्तो ने सगुण और निर्गुण दोनों को। सन्त लोग मुसलमानी धर्म से भी प्रभावित थे। भक्त-लोग विष्णु भगवान के विशेषकर राम और कृष्ण के अवतार को मानते थे, इसीलिए वैष्णव भी कहलाते थे। हिन्दू धर्म का पूर्ण व्यक्तित्व भक्त कवियों में दिखाई पड़ता है।

भक्ति-काल की समान भावनाएँ—जैसा ऊपर कहा गया है हार की मनोवृत्ति में दो ही बातें सम्भव थीं। या तो अपनी आध्यात्मिक श्रेष्ठता दिखाना या विलास में पड़कर हार को भूल जाना। भक्तिकाल में पहली प्रवृत्ति रही और रीतिकाल में दूसरी। भक्तिकाल में चार शाखाएँ अवश्य थीं किन्तु उसमें कुछ समान भावनाएँ थीं जिनके कारण वे सब एक सम्मिलित नाम से पुकारी जा सकती हैं। वे बातें सन्त और भक्त कवियों में समान रूप से पाई जाती हैं। वे इस प्रकार हैं:—

१—नाम की महत्ता—जप, कीर्तन आदि सन्तों, सूफियों और

भक्तों में समान रूप से मान्य है। सूफियों और कृष्ण-भक्तों में कीर्तन का प्राधान्य है।

तुलसी ने भी राम के नाम को राम से भी बड़ा माना है। नाम में निर्गुण सगुण दोनों का समन्वय हो जाता है। देखिए—

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।
मोरे मत बड़ नाम दुहूँते। किये जेहि निज निज बस बूते॥

२—गुरू की मान्यता—कबीर ने गुरू को गोविन्द से भी बड़ा कहा है। जायसी ने भी गुरू की वन्दना की है। तुलसी ने मानस के आरम्भ में 'बन्दों गुरु पद पद्म परागा' और सूर ने 'वल्लभ नख चन्द्र छटा बिन सब जग माँहिं अँधेरो' गाया है।

३—भक्ति-भावना का प्राधान्य—चारों सम्प्रदायों में भक्ति भावना का मान है! कबीर ने भी भक्ति को मुख्यता दी है। 'हरि भक्त जाने बिना बूढ़ि मुआ संसार' प्रेममार्गियों का प्रेम भक्ति का ही रूप है और भक्त तो भक्त हैं ही। भक्तों ने भी ज्ञान का विरोध नहीं किया केवल भक्ति-विरोधी ज्ञान का खण्डन किया है।

४—अहंकार का त्याग—यह भी भक्ति का ही दूसरा रूप है सच्चा भक्त चाहे सगुणवादी हो चाहे निर्गुणवादी अहङ्कार नहीं रख सकता।

अब हम इन शाखाओं की विशेषताएँ संक्षिप्त रूप से देखकर इनके विशिष्ट-विशिष्ट कवियों का पृथक-पृथक परिचय देंगे।

ज्ञानाश्रयी शाखा

इस शाखा के कवि, सन्त कवि कहलाते हैं।

१—ये लोग निर्गुणवादी थे और प्रायः नाम की उपासना करते थे

२—ये लोग रूढ़िवाद और मिथ्या आडम्बर के विरोधी थे।

३—ये लोग गुरू को करीब-करीब ईश्वर की बराबर महत्ता देते थे

४—जाति पाँति के बन्धनों को नहीं मानते थे। 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।' जब मुसलमानी मत

सब बराबर थे तब हिन्दुओं की जाति-पाँति सम्बन्धी विषमताएँ और भी अखरने लगीं थीं। शूद्रों की स्थिति विशेष रूप से खराब थी।

५—ये लोग साधारण धर्म को तो मानते थे किन्तु साम्प्रदायिकता या वर्णाश्रम सम्बन्धी विशेष धर्म के पक्ष में न थे। वैयक्तिक साधना पर अधिक जोर देते थे।

६—इनकी भाषा स्वतन्त्र और आडम्बर रहित थी। संत लोग चारों ओर विचरण करते थे। इस कारण से तथा प्रचार की भाषा होने के कारण इनकी भाषा खिचड़ी सधुक्कड़ी भाषा हो गई थी।

कबीर—(सं० १४५५-१५७५)* इन महात्मा के जन्म के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि वे एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से एक महात्मा (रामानन्दजी) के आशीर्वाद के फलस्वरूप उत्पन्न हुए थे! लोक-लाज वश इनकी माता ने नवजात शिशु का परित्याग कर दिया था और इसके बाद नीरू नाम के जुलाहे ने दयावश इनको पाल लिया। पीछे से यह बालक कबीर कहलाया। इनकी शादी लोई नाम की एक स्त्री से हुई थी और इनके कमाल और कमाली नाम के दो बच्चे भी थे। ये अपने को जुलाहा मानते थे, और अपने अक्खड़पन के कारण जुलाहा होने का गर्व भी रखते थे—

'तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा बूझहु मोर गिआना'

इनको अपने घर का काम करना पड़ता था किन्तु उसमें विशेष रुचि न थी। ये आरम्भ से ही भावुक और भक्त थे और बड़ी युक्ति के साथ इन्होंने श्रीरामानन्दजी से दीक्षा प्राप्त की थी—

'काशी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चेताये'

मुसलमान लोग इनको शेखतकी का शिष्य बतलाते हैं। किन्तु

*कबीर की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में तथा उनके काव्य पर विस्तृत विवेचन के लिए लेखक का 'हिन्दी काव्य विमर्श' देखिए।

जिस प्रकार से उन्होंने अपनी कविता में शेखतक़ी को सम्बोधित किया है उससे उसमें सन्देह होता है। कुछ लोग इनके रामानन्द के शिष्य होने में आपत्ति करते हैं और उपर्युक्त पंक्ति को प्रक्षिप्त बतलाते हैं। कबीर पर रामानन्दजी के अतिरिक्त शङ्कराचार्य तथा नाथ-पन्थी साधुओं एवं सूफ़ियों का भी प्रभाव था। रामानन्द से उन्होंने माँस-भक्षण निषेध और वैष्णवी दया का भाव प्राप्त किया। नाथ-पन्थियों से हठयोग के सिद्धान्त ग्रहण किये। शङ्कराचार्य से मायावाद और अद्वैतवाद के विचारों को अपनाया। सूफी फकीरों से प्रेम की साधना ली और मुसलमानी शरीयत के मानने वालों से मूर्ति और तीर्थ का खण्डन-मण्डन सीखा। नाथ-पन्थियों में भी समता का भाव था किन्तु इस सम्बन्ध में वे मुसलमानों से भी प्रभावित हुए।

ये महात्मा बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति के थे। ये रूढ़िवाद के कट्टर विरोधी थे और इन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों सम्प्रदायों की खूब हँसी उड़ाई है। 'इन दोउन राह न पाई।' ये अपढ़ होते हुए भी बहुश्रुत थे। इनके वचनों में हठयोग तथा वेदान्त की अच्छी झलक मिलती है। इन्होंने कहीं-कहीं प्रभावोत्पादन के लिए बहुत से विरोधात्मक भाव भी लिखे हैं। जैसे 'नैया में नदिया डूबी जाय।' ×रूढ़िवाद के विरोध में ही कबीर ने काशी छोड़ कर मगहर में शरीर त्याग किया था। 'जो काशी तन तजै कबीरा रामै कौन निहोरा।' धर्मदास इनके प्रधान शिष्यों में थे। ये जाति के वैश्य थे और इनके बाद ये ही इनकी गद्दी पर बैठे।

सिद्धान्त—इनके ईश्वर सम्बन्धी विचार बहुत ऊँचे हैं। इन

×पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में दिखलाया है कि उलटबाँसियों की परम्परा बौद्धों की सहजयान शाखा से चली आती है। जैसे 'बैल ब्यान गाय बाँझ।' कबीर में वर्णित शून्य का सम्बन्ध दोनों के शून्यवाद से लगाया जाता है।

पर शाङ्करवाद का पूरा प्रभाव था, और ये जीव ब्रह्म की पूर्ण एकता में विश्वास रखते थे।—'हेरत हेरत हेरिया रहा कबीर हिराय, बुंद समानी समुद्र में सो कत हेरी जाय।' इनकी वाणी में रहस्यवाद की मात्रा अधिक रूप में पाई जाती है। हिन्दू-प्रथा के अनुसार इन्होंने जीव को दुलहिन माना है और परमात्मा को प्रियतम बतलाया है। जीव का विरह-वर्णन बड़ी सरसता के साथ किया है। दुलहिन सदा दूल्हा से मिलने के लिए उत्सुक रहती है। इन्होंने अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है। इनके सिद्धान्त निर्गुणवाद के हैं, फिर भी लोगों को समझाने के लिए और शुष्कता में सरसता लाने के निमित्त इन्होंने थोड़ा शृङ्गार का पुट दे दिया है किन्तु उसकी 'झीनी-बीनी चदरिया' में इनका निर्गुणवाद छिपाये नहीं छिपता। 'सेज' अवश्य रहती है, किन्तु वह होती शून्य की है इसलिए वह प्रायः सूनी ही रहती है। उपासना में इन्होंने राम नाम की महत्ता स्वीकार की है, किन्तु ये दाशरथी राम के उपासक न थे—'दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम का मरम है आना'। ये तो निराकार शब्द के उपासक थे और एक ही रूप को सारे संसार में देखते थे—

"साधो एक रूप सब माँही।
अपने मन विचारि कै देखे कोई दूसरा नाहीं।"

कबीर ने अपने परमात्मा को अपने पास में ही देखा है और हठयोग की साधना में सारे ब्रह्माण्ड और परमात्मा को शरीर के भीतर ही पाया है।

अपने धार्मिक सिद्धान्तों के अनुरूप इन्होंने नीति-सम्बन्धी दोहे भी अच्छे कहे हैं। कबीर में केवल ज्ञान-पिपासा ही न थी वरन् धर्म प्रचार की भी इच्छा थी। इस इच्छा को वे अपनी कविता में दबा नहीं सके। इन्होंने समता-भाव का प्रचार कर शूद्रों की स्थिति को सुधारा था। इस सम्बन्ध में वे अपने समय से आगे थे।

काव्य और भाषा—कबीर की वाणी, बीजक नामक ग्रन्थ में संग्रहीत है। इसके तीन भाग हैं—रमैनी, सबद और साखी। इनकी भाषा मे खड़ी बोली, अवधी, पूर्वी (बिहारी) आदि कई बोलियों का सम्मिश्रण है। क्रियापदो के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। कारक चिह्नों में 'से' 'कै' 'सन' 'कर' अवधी के हैं। 'को' ब्रज का है। 'थैं' राजस्थानी का। इन्होंने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी बहुत है। यत्र-तत्र ब्रजभाषा का भी समावेश है और पञ्जाबी शब्दों की भी कमी नहीं है। भाषा जोरदार है जो कि उनकी तीव्र अनुभूति का परिचय देती है। उसमे कविता की रूढ़ियों और अलङ्कारों के आडम्बर का अभाव-सा है। किन्तु जहाँ पर स्वाभाविक रूप से भाषा के प्रवाह मे अलङ्कार आ जाते हैं वहाँ पर उनका चमत्कार पूरी तरह से दिखाई पड़ता है। ईश्वरीय सम्बन्ध की रहस्यमयता में थोड़े प्रकाश की झलक लाने के लिए उन्होंने रूपको और अन्योक्तियों से काम लिया है। इनको छन्द-शास्त्र के नियमों का कम ज्ञान था। इनके दोहे पिंगल की कसौटी पर पूरे नहीं उतरते। इनकी कविता का चमत्कार काव्य के ऊपरी नियमों से नहीं, वरन् इनके हृदय की सचाई और तीव्र अनुभूति में है। रहस्यवाद के अनुकूल रूपक, अन्योक्ति आदि अलकारों का भी समावेश हो गया है क्यों कि रहस्यवाद के गूँगे के गुड़ के से आनन्द को 'सेना-बैना' द्वारा ही अर्थात् अन्योक्तियों, रूपकों द्वारा ही व्यक्त किया जा सकता है।

इनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

गुरु गोविन्द तो एक हैं, दूजा यह-आकार।
आप मेटि जीवत मरै तो पावै करतार॥
कबीर हरि रस यों पिया, बाकी रही न थाकि।
पाका कलस कुँभार का, बहुरि न चढ़ई चाकि॥
कबीर पढ़ना दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ।
बावन आषर सोधि कर, ररै ममै चित लाइ॥

कबीर माला मन की, और संसारी भेष।
माला पहरयाँ हरि मिले, तो अरहट के गलि देख॥

× × ×

दुलहिनि गावहु मङ्गलचार, हमरे घर आये राम भरतार।
तन रति करि मैं मन रति करिहौं, पाँचो तत्त बराती॥
राम देव मोहि व्याहन आये, मैं जोवन मदमाती।
सरिर सरोवर वेदी करिहौं, ब्रह्मा वेद उचारा॥
राम देव सँग भाँवरि लेहौं धन धन भाग हमारा।
सुर तेतीसों कौतुक आये मुनिवर सहस अठासी॥
कहै कबीर मोहि व्याहि चले हैं पुरुष एक अविनासी।

रैदास—इनको रविदास भी कहते हैं। ये भी रामानन्दजी के शिष्यों में से थे। ये जाति के चमार थे। 'कह रैदास खलास चमारा'। ये मीराबाई के गुरु कहे जाते हैं। इनके पद भी गुरु-ग्रन्थ साहब में संग्रहीत हैं। इनकी कविता जन-सुलभ है। कबीर की भाँति इनका भी सम्प्रदाय है। इनकी कविता का उदाहरण लीजिए—

प्रभुजी तुम चन्दन हम पानी। जाकी अङ्ग-अङ्ग बास समानी।
प्रभुजी तुम घन-बन हम मोरा। जैसे चितवत चन्द चकोरा॥
प्रभुजी तुम माली हम बागा। जैसे सोनहि मिलत सुहागा।
प्रभुजी तुम स्वामी हम दासा। ऐसी भगति करै रैदासा॥

तुम और मैं की परम्परा में वर्त्तमान युग में बहुत सी कविताएँ लिखी गई हैं। इस शीर्षक की निरालाजी की कविता प्रसिद्ध ही है।

गुरु नानक—ये महात्मा सिक्ख सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। इनका जन्म कार्तिक पूर्णिमा स० १५२६ तिलवंडी ग्राम जिला लाहौर में हुआ था। इनके पिता का नाम कालूचन्द और माता का नाम तृता था। इनका विवाह संवत् १५४५ में गुरुदासपुर में मूलचन्द खत्री की सुलक्षणा नाम्नी कन्या से हुआ। उसके संयोग से इनके श्रीचन्द तथा लक्ष्मीचन्द

नाम के दो पुत्र हुए। श्रीचन्द उदासी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। वैसे तो सिक्ख भी हिन्दू ही हैं किन्तु उदासी लोग हिन्दू धर्म को अधिक मानते हैं।

महात्मा नानक जन्म से ही बड़े त्यागी और साधु-सेवी थे। एक बार इनके पिता ने एक बड़ी रकम व्यापार के लिए सौदा खरीदने को दी। इन्होंने उस रकम को साधु-सेवा में लगा दिया और पिता के पूछने पर कह दिया कि सच्चा सौदा खरीद लिया।

इन्होंने भगवद्भक्ति के भजन गाये हैं। ये 'नाम' के उपासक हैं किन्तु कबीर की भाँति इन्होंने आकाश-पाताल के कुलावे नहीं मिलाये हैं और न उलटबाँसियाँ कही हैं। इन्होंने बड़े सरल हृदय से ईश्वर-भक्ति और सदाचार का उपदेश दिया है। ईश्वर-भक्ति के साथ सङ्गठन की भी शिक्षा दी है। इन्होंने हिन्दू-संस्कृति से सम्बन्ध-विच्छेद न करते हुए अपने मत में एकेश्वरवाद का प्राधान्य रखा है। इन्होंने हिन्दुओं को विचार-भूमि तथा रण-भूमि दोनों में मुसलमान से टक्कर लेने योग्य बनाना चाहा है। इनकी वाणी श्री गुरुग्रन्थ साहब में संग्रहीत है। कुछ भजन तो पञ्जाबी में हैं और कुछ देश की प्रचलित काव्य-भाषा हिन्दी में हैं जो कहीं खड़ी बोली के रूप में है और कहीं ब्रजभाषा के रूप में।

गुरु नानक का देहान्त १५९६ में हुआ। इनकी वाणी में बड़ी विनय है। ये सदाचार के बड़े पक्षपाती थे। इनकी कविता के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

सूरा एक न आँखियन, जो लड़नि दला में जाँय।
सूरे सोई 'नानका' जो मनणु हुकुम रजाय॥
हिरदै जिनके हरि बसै, से जन कहियहि सूर।
कही न जाई 'नानका' पूरि रह्यौ भरपूर॥
मनकी दुविधा ना मिटै, मुक्ति कहाँ ते होइ।
कउडी बदले 'नानका' जन्म चल्या नर खोइ॥

× × ×

जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सनेह अरु भय नहिं जाके, कञ्चन माटी जानै॥
नहिं निन्दा नहि अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक ते रहै नियारो, नाहिं मान अपमाना॥
आसा मनसा सकल त्यागि कै, जग तें रहै निरासा।
काम-क्रोध जेहि परसै नाहिन, तेहि घट ब्रह्म-निवासा॥
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्ही, तिन्ह यह जुगति पिछानी।
'नानक' लीन भयो गोविंद सों ज्यों पानी सँग पानी॥

पञ्जाबी मिश्रित भाषा का एक पद लीजिए—

इस दमदा मैन्नू कीवे भरोसा; आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना, कहीं देखा, कहीं नाहिं दिखाया॥
सोच विचार करै मत मनमें जिसने ढूँढा उसने पाया।
नानक भक्तन के पद परसे निसिदिन रामचरन चित लाया॥

दादूदयाल—(सं० १६०१-१६६०) ये महात्मा गुजरात के रहने वाले थे। इनका जन्म अहमदाबाद में हुआ था, किन्तु इनका शरीरांत जयपुर के पास नराना नामक गाँव में हुआ था। कबीर की भाँति इनके नाम से भी दादू-पन्थ चल रहा है। कुछ लोग इनको मुसलमान बतलाते हैं और कहते हैं कि इनका असली नाम दाऊद था। ये लोग भी निराकार के उपासक हैं। इनके विचारों की विवेचना आचार्य क्षितिमोहनसेन ने अपने 'दादू' नाम के बङ्गाली ग्रन्थ में बड़े मार्मिक ढङ्ग से की है। इस पन्थ के लोग सत्तनाम कहकर अभिवादन करते हैं। इनकी वाणी हिन्दी के अतिरिक्त राजस्थानी, गुजराती और पञ्जाबी में भी पाई जाती है। इनकी हिन्दी पश्चिमी हिन्दी है जिसमें राजस्थानी का मेल है। अन्य निर्गुण सन्तों की वाणी की भाँति इनकी वाणी में भी खड़ी-बोली की क्रियाओं की ओर अधिक झुकाव पाया जाता है। यत्र-तत्र फारसी अरबी के शब्दों का भी समावेश दिखलाई पड़ता है।

कबीर की भाँति ये महात्मा खण्डन-मण्डन में नहीं पड़े। इनकी वाणी में बड़ी सरलता के साथ तत्व-विवेचन किया गया है—

घीव दूध में रमि रह्या, व्यापक सबही ठौर।
दादू बकता बहुत है, मथि काढ़ै ते और॥
दादू दिया है भला, दिया करौ सब कोइ!
घर मे धरा न पाइये, जो कर दिया न होइ॥
यह मसीत यह देहरा, सतगुरु दिया दिखाय।
भीतर सेवा बन्दगी, बाहिर काहे जाय॥
सुख का साथी जगत सब, दुख का नाहीं कोय।
दुख का साथी साँइयाँ, दादू सतगुरु होइ॥

*   *   *   *

भाई रे, ऐसा पन्थ हमारा।
द्वै पख रहित पन्थ गह पूरा अवरन एक अधारा॥
वाद बिवाद काहू सौं नाही मै हूँ जग थे न्यारा।
समदृष्टी सूँ भाइ सहज में आपही आप विचारा॥
मैं, तैं, मेरी यह मति नाहीं निरवैरी निरविकारा।
पूरण सबै देखि आया पर निरालम्ब निरधारा॥
काहू के सगी मोह ना ममिता सङ्गी सिरजन हारा।
मन ही मन मनसू समझि स्याना आनन्द एक अधारा॥
काम कल्पना कदे न कीजै पूरन ब्रह्म पियारा।
इहि पन्थ पहुँचि पार गहि दादू सौं तत सहिज सँभारा॥

सुन्दरदास—(सं० १६५३-१७४६) इनका जन्म जयपुर राज्यान्तर्गत द्योसा नगरी मे हुआ था। ये जाति के खण्डेलवाल वैश्य थे और नामानुरूप इनका शरीर सुडौल और सुन्दर भी था। ये दादूदयाल से अधिक प्रभावित हुए थे। अन्य संत कवियों की भाँति ये अपढ़ या कुपढ़ नहीं थे। इनका विधिवत् विद्याभ्यास हुआ प्रतीत होता है। ये काव्य रीति से भी परिचित थे। इन्होंने सवैये अच्छे लिखे हैं। सुन्दर

विलास इनका प्रधान ग्रन्थ है। इनकी रचना साहित्यिक और सरस है, भाषा भी परिमार्जित व्रज-भाषा है। इन्होंने ज्ञान के अतिरिक्त नीति-सम्बन्धी छन्द भी लिखे हैं। इनकी रचना कवित्त, सवैयों में अधिक हुई है। इनकी कविता में यमक और अनुप्रास, शब्दालङ्कार और उत्तमोत्तम अर्थालङ्कार भी मिलते हैं। इन्होंने चित्र-काव्य, छत्र-बन्ध नाग-बन्ध आदि भी लिखे हैं। इनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होइ,
न तौ मुख मौन गहि चुप होइ रहिए,
जोरिए तौ तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छन्द अरथ, अनूप जामें लहिए॥
गाइये तौ तब जब गाइबे को कण्ठ होय,
स्रोन के सुनत ही मनै जाहि गहिए॥
तुकभंग, छन्दभग, अरथ मिलै न कछु,
सुन्दर कहत ऐसी बानी नहि कहिए॥

× × × ×

पुरुष प्रकृति सयोग जगत उपजत है ऐसे।
रवि-दर्पण-दृष्टान्त अग्नि उपजत है तैसे॥
सुई होइ चैतन्य यथा चुम्बक के सङ्गा।
यथा पवन सयोग-उदधि में उठहिं तरङ्गा॥
अरु यथा सूर संयोग पुनि, चक्षु रूप को गहत है,
यों जड़ चेतन सयोग से सृष्टि उपजती कहत है॥

× × + ×

वेद थके कहि तन्त्र थके कहि, ग्रन्थ थके निस बासर गात।
शेष थके शिव इन्द्र थके पुनि पोख कियौ बहु भाँति विधात॥
पीर थके अरु मीर थके पुनि धीर थके बहु बोलि गिरात।
सुन्दर मौन गही सिव साधक कौन कहै उसका सुख गात॥

मलूकदास—(स० १६३१-१७३९) ये कड़ा जिला इलाहाबाद के निवासी थे। इनकी भाषा साधारण सन्त कवियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और स-संस्कृत थी। इनको छन्दों का भी ज्ञान था। इनकी रत्नखान और ज्ञानबोध नाम की दो पुस्तकें हैं। आलसियों का गुरुमन्त्र 'अजगर करै न चाकरी, पछी करै न काम' इन्हीं का बनाया हुआ है। इससे प्रकट होता है कि ये बड़े मनमौजी और ईश्वर पर विश्वास रखने वाले थे। इनकी कविता के उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

दीनदयाल सुनी जबते तबतें हिय मे कछु ऐसी लसी है।
तेरो कहाय के जाऊँ कहाँ मैं तेरे हित की पट खैंच कसी है॥
तेरोइ एक भरोसो मलूक को तेरे समान न दूजो जसी है।
ऐहो मुरारि पुकारि कहौं अब मेरी हँसी नहि तेरी हँसी है।

ना वह रीझै जप तप कीन्हें ना आतप के जारे।
ना वह रीझै धोती नेती ना काया के पखारे॥
दया करै धरम मन राखै घर मे रहै उदासी।
अपना सा दुख सबका जाने ताहि मिलै अविनासी॥
सहे कुसबद बादहु त्यागे छाँड़े गर्व गुमाना।
वही रीझ मेरे निरङ्कार की कहत मलूक दिवाना॥

अक्षर अनन्य—इनके जन्म संवत् का पता नहीं है, किन्तु ये संवत् १७७१ के करीब वर्तमान थे। ये दतिया रिसायत के रहने वाले थे और कुछ दिनों दतिया के राजा पृथ्वीचन्द के दीवान थे। महाराज छत्रसाल ने इनसे दीक्षा ली थी। इन्होने राजयोग, सिद्धान्तबोध, विवेकदीपिका, अनन्य प्रकाश आदि योग और वेदान्त के कई सुन्दर ग्रन्थ रचे हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त धर्मदास (ये कबीर के प्रधान शिष्य थे इनका समय १५७५ से १६०० तक माना जाता है), निश्चलदास, जगजीवनदास (स० १७७५), दूलैनदास, मानी साहब, बुल्लासाहब, सहजोबाई (१८००), तुलसीदास साहब (१८४५), पलटूदास आदि

अनेक सन्त कवि हुए हैं जिन्होंने अपनी मधुर वाणी से हिन्दी-साहित्य का भण्डार भरा है।

इन कवियों में निश्चलदासजी का वेदान्त सम्बन्धी ग्रंथ (विचार-सागर) बड़ा पाण्डित्यपूर्ण है। इसकी टीका भी लिखी गई है।

प्रेममार्गी-शाखा

सूफी सम्प्रदाय—सूफी शब्द सूफ से बना है, जिसका अर्थ सफेद ऊन का है। सूफी लोग विलास शून्य सरल जीवन व्यतीत करने के कारण मोटे ऊन के कपड़े पहनते थे। एक मत यह भी है कि सूफी शब्द का सम्बन्ध यूनानी शब्द सोफोस (Sophos) से है जिसका अर्थ ज्ञान है। अँग्रेजी के फिलोसोफी (Philosophy) शब्द में भी यही शब्द है। इस प्रकार सूफी का अर्थ होता है ज्ञानी। सूफी मत का चलन मुहम्मद साहब के प्रायः दो-सौ बरस बाद हुआ। सूफी लोग पीर (गुरु) को अधिक महत्ता देते थे। वे ईश्वर और जीव का सम्बन्ध भय का नहीं वरन् प्रेम का मानते थे। उनका झुकाव सर्वेश्वरवाद की ओर था। वे सङ्गीत के भी प्रेमी थे। इन सब बातों के कारण वे कट्टर मुसलमानों की अपेक्षा हिन्दू-धर्म के अधिक निकट थे। कट्टर पन्थियों ने मंसूर को 'अनलहक' (मैं सचाई या ईश्वर हूँ) कहने के कारण सूली का दण्ड दिलवाया था। भारत में सूफी सम्प्रदाय का आरम्भ सिन्ध से हुआ है।

विशेषताएँ १—प्रेममार्गी कवियों की प्रेम-गाथाएँ भारतीय चरित्र काव्यों की सर्गबद्ध शैली न होकर फारसी की मसनवियों के ढङ्ग पर रची गई हैं। इनमें ईश्वर-वन्दना, पैगम्बर की स्तुति, तत्कालीन बादशाह की प्रशंसा के साथ कथा का आरम्भ किया गया है।

२—इनकी भाषा अवधी है।

३—इनकी रचना दोहा चौपाइयों में हुई है। चौपाई छन्द अवधी के लिये विशेष उपयुक्त है।

४—ये कथाएँ प्रायः हिन्दू जीवन से सम्बन्ध रखती हैं और इनमें भौतिक प्रेम द्वारा ईश्वरीय-प्रेम का प्रतिपादन किया गया है।

५—इनके लिखने वाले प्रायः मुसलमान थे जिनको हिन्दू-धर्म का थोड़ा-बहुत ज्ञान भी था।

६—ये लोग विशेष रूप से किसी सम्प्रदाय का खण्डन-मण्डन नहीं करते थे।

प्रेममार्गी साहित्य—प्रेममार्गी परम्परा वैसे तो ऊपा-अनिरुद्ध की कथा से चली आती है, किन्तु उसका प्रौढ़ रूप इन मुसलमान कवियों में ही दिखाई देता है। पद्मावत मे चार कथाओं का उल्लेख है, वह इस प्रकार है—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
मधूपाछ, मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा वैरागी॥
राजकुँवर कञ्चनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधे कुँवर खंडावति* जोगू। मधु मालति कहँ कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरवर साधा। ऊषा लाग अनिरुध वर बाँधा॥

उपर्युक्त चौपाइयों में जायसी से पूर्व के चार काव्य-ग्रंथों का उल्लेख है—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती इनमें से मृगावती और मधुमालती का पता चल गया है। शेष दो ग्रंथ अभी नहीं मिले हैं।

कुतबन—ये महाशय संवत् १५५० के लगभग शेरशाह के पिता हुसैनशाह के दरबार में रहते थे। ये चिश्तीवंश के शेख बुरहान के शिष्य थे। इनकी पुस्तक मृगावती, जिसका उल्लेख जायसी ने किया है, सन् ९०९ हिजरी अर्थात् संवत् १५५८ वि० में लिखी गई थी। इस पुस्तक में चन्द्रगिरि के राजा गणपति देव के

* बाबू श्यामसुन्दरदासजी ने खण्डावति के स्थान में मनोहर पाठ दिया है।

राजकुमार और कञ्चनपुर की राजकुमारी की प्रेम-कथा का वर्णन है। मृगावती उड़ने की विद्या में निपुण थी—वह राजा को छोड़ कर कहीं उड़ गई थी। राजा उसके वियोग में योगी हो गया और उसकी खोज में निकल पड़ा। इसी बीच में उसने एक राक्षस के चंगुल से बचाई हुई कन्या (रुक्मिनी) से विवाह किया। अन्त में उसका मृगावती से मिलन हो गया। वह दोनों रानियों को लेकर अपने देश लौट आया। राजा के हाथी से गिर कर मर जाने पर दोनों रानियाँ सती हो गईं। कथा के बीच-बीच में प्रेम मार्ग की कठिनाइयों का अच्छा वर्णन है जो साधक के लिए बड़ा उपदेश-प्रद है। इसमें रहस्य-भावना से भरे हुए भी कई स्थल हैं।

मंझन—मधुमालती इन्हीं का ग्रन्थ है। इसकी कथा मृगावती से अधिक रुचिकर है। इस ग्रन्थ में कनसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र राजकुमार मनोहर का महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती के साथ प्रेम और पारस्परिक वियोग की कथा है। पहले नायक अप्सराओं द्वारा मधुमालती की चित्रसारी में पहुँचाया जाता है। वे एक दूसरे पर मोहित हो जाते हैं, किन्तु वे अलग हो जाते हैं। इस प्रकार एक वार मिलन और विरह होता है, अन्त में फिर मिलन हो जाता है। इसमें प्रेमा और ताराचन्द का त्याग अत्यन्त सराहनीय है। इसमें विरह का अच्छा महत्व दिखाया गया है—

रतन कि सागर सागरहिं, गज मोती गज कोइ।
चन्दन कि वन-वन ऊपजै, विरह के तन तन होई॥

इसमें निम्नलिखित संस्कृत श्लोकों की छाया मालूम पड़ती है—

शैले-शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

इस ग्रन्थ में विरह-कथा के साथ आध्यात्मिक तथ्यों का भी निरूपण हुआ है।

मलिक मुहम्मद जायसी—ये महाकवि प्रेममार्गी कवियों के

प्रतिनिधि माने गये हैं। इनका जन्म गाजीपुर में होना बतलाया जाता है। जायसी ने अपने आखिरी कलाम में, अपना जन्म सन ६०० हिजरी में (सन् १४६२ ई० के लगभग) बतलाया है। तीस वर्ष की अवस्था में वे कविता करने लग गये थे।

भा औतार मोर नौ सदी।
तीस बरस ऊपर कवि बदी॥

इनकी प्रसिद्ध पुस्तक 'पद्मावत' का रचना-काल ६४७ हिजरी (संवत् १५५७ वि०) 'सन् नौ-सौ सैंतालीस* अहा, कथा आरम्भ बैन कवि कहा।' ये चेचक के प्रकोप के कारण एक आँख से वञ्चित हो गये थे। इसी कारण अपनी पुस्तक में जायसी ने एक आँख का होना गौरव की बात बतलाई है तथा शुक्राचार्य से अपनी तुलना की है। पीछे से ये 'जायस' (रायबरेली) में रहने लगे थे। इसी से वे जायसी कहलाये। प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहदी (मुहीउद्दीन) के ये शिष्य थे। (गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा) यद्यपि इनको मुसलमानी धर्म में पूरी आस्था थी, तथापि इन्होंने हिन्दू देवताओं का आदर के साथ उल्लेख किया है। केवल एक जगह रतनसेन के मुख से मूर्ति-पूजा की अवश्य बुराई कराई है। किन्तु नैराश्य में प्रायः ऐसा हो जाता है कि लोग देवताओं को कोसते हैं।

* आचार्य शुक्लजी के इतिहास में नौ-सौ सत्ताईस पाठ है। इस पाठ-भेद का कारण यह है कि मूल पद्मावत फारसी अक्षरों में लिखा गया था और उनमें सैंतालीस का सत्ताईस भी पढ़ा जा सकता है। इस सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दरदासजी का कहना है कि ९२७ में ~~दिल्ली के तख्त पर अलाउद्दीन~~ सुलतान नहीं थे, जिनकी वन्दना पद्मावत में की गई है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि सम्भवतः पुस्तक ९२७ में ही आरम्भ की होगी बादशाह की स्तुति ९४७ में लिख दी होगी। इस कष्ट कल्पना की अपेक्षा ९४७ मानना ही अच्छा है।

इनकी तीन पुस्तकें प्रख्यात हैं—पद्मावत, अखरावट, आखिरी कलाम। पद्मावत में राजा रतनसेन और सिंहल द्वीप की राजकुमारी पद्मावती के प्रेम का वर्णन है। इन दोनों का योग हीरामन तोता ने कराया है। इस कथा में दोनों ओर से प्रेम की पीर दिखलाई गई है। राजा की पहली रानी नागमती के वियोग का भी अच्छा वर्णन है। इस कथा से प्रेम-साधना द्वारा ईश्वर प्राप्ति का मार्ग दिखलाया गया है। यह कथा अधिकांश में ऐतिहासिक है। कवि-कल्पना के अनुसार इसमें हेर-फेर अवश्य किया गया है। पूर्वार्द्ध कल्पित है किन्तु उत्तरार्द्ध का बहुत कुछ ऐतिहासिक आधार है। पूर्वार्द्ध का भी बहुत-कुछ अंश जन-श्रुति पर अवलम्बित है। भौतिक प्रेम के साथ आध्यात्मिक प्रेम की भी झलक मिलती है। जायसी ने स्वयं इस कथा को आध्यात्मिक रूप दिया है—

तन चितउर मन राजा कीन्हा।
हिय सिंहल बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरु सुआ जेइ पन्थ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा॥
नागमती यह दुनियाँ-धन्धा।
बाँचा सोइ न एहि चित बन्धा॥
राघव दूत सोइ सैतानू।
माया अलाउद्दीन सुलतानू॥

जायसी का यह ग्रन्थ प्रबन्ध-काव्य की दृष्टि से बहुत अच्छा गिना जाता है, किन्तु रामचरितमानस के प्रबन्ध-सौष्ठव की बराबरी नहीं कर सकता। प्रेम-गाथाओं में इसका स्थान पहला है और प्रबन्धकाव्य में दूसरा।

जायसी का विरह-वर्णन बड़ा विशद है। इन्होंने विरहग्रस्त प्रेमी और प्रेमिका के साथ सारे संसार की सहानुभूति दिखलाई है और सब चराचर, पशु-पक्षी आदि को विरह-वेदना से व्याप्त बतलाया है। गेहूँ

का हृदय भी विरह के कारण फटा हुआ है और कौआ विरह के कारण काला है। कहीं-कहीं इनका विरह-वर्णन अत्युक्ति की मात्रा को पहुँच गया है। किन्तु बिहारी के विरह-वर्णन से कुछ भिन्न है। इसमें इनकी अत्युक्तियाँ विरह की विषम वेदना के संकेत रूप प्रतीत होती हैं, उनमें शब्दों का चमत्कार नहीं। जायसी की अधिकांश अत्युक्तियाँ उत्प्रेक्षा-सूचक 'जनु' 'मानो' आदि अव्ययों के कारण वास्तविक जगत की न होकर कल्पना की बात रह जाती हैं। जहाँ पर जायसी ने अत्युक्ति को घटना का रूप दिया है (जैसे कि पक्षी के नागमती की चिट्ठी ले जाते समय का वर्णन) वहीं वे बिहारी की भाँति हास्यास्पद बन गये हैं। इसमें मुसलमानी काल के विरह-वर्णन की वीभत्सता भी आ गई है। हर जगह रक्त के ही आँसू गिरते हैं। इसमें हिन्दू-मुसलिम संस्कृतियों का समन्वय है। इनके विरह मे अत्युक्ति अवश्य है किन्तु इसके साथ ही अनुभूति की तीव्रता भी दिखलाई देती है।

जायसी बहुश्रुत थे। उन्होंने ज्योतिष, हठयोग और शतरंज आदि का अच्छा ज्ञान दिखलाया है। यद्यपि जायसी ने हिन्दू कथाओं के वर्णन में भूल की है (इन्द्र का निवास कैलाश पर बतलाया है और चन्द्रमा को स्त्री कहा है) तथापि उनको हिन्दू धर्म का ज्ञान बहुत अच्छा था।

जायसी ने अपने ग्रन्थ ठेठ अवधी-भाषा में लिखे हैं। इनमे अलङ्कार योजना बड़ी सुन्दर है। इनके अलङ्कार, अलङ्कारों के उदाहरण-स्वरूप नहीं लिखे गये हैं, वरन् भावों के साथ गुथे हुए हैं। पद्मावत के कारण जायसी की कीर्ति हिन्दी-ससार मे अक्षय बनी रहेगी। इनकी कविता के उदाहरण-स्वरूप कुछ छन्द नीचे दिये जाते हैं—

नव पौरी पर दसवँ दुवारा*। तेहि पर बाज राज-घरियारा ॥

---

* इसमें शरीर के नौ छिद्रों (कबीर ने भी कहा 'नव द्वारे को पींजरा') और दसवें ब्रह्मरन्ध्र (जो तालु मे होता है) की ओर संकेत है। इस पद्यांश में मनुष्य जो प्रत्येक घड़ी अपनी आयु को क्षीण करता रहता है उसका सांकेतिक उल्लेख है। वैसे यह राजमहल का वर्णन है।

घरी सो बैठि गनैं घरियारी । पहर-पहर सो आपनि वारी ॥
जबहिं घरी पूजै ओहि मारा । घरी-घरी घरियार पुकारा ॥
परा जो डाँड़ जगत सब डाँडा । का निचिंत माटी कर भाँड़ा ॥
तुम तेहि चाक चढ़े ओही-काँचे । आए; रहै न थिर होइ वाँचे ॥
घरी जो भरी घटी तुम्ह आऊ । का निचिंत भा सोवै वटाऊ ॥
पहरहिं पहर गजर नित होई । हिया वज्र भा जागु न कोई ॥
दोहा—मुहम्मद जीवन जल भरन, रहँट-घरी कै रीति ।
घरी जो आई ज्यों भरी, ढरी जनम गा बीति ॥

जायसी ने पद्मावत में ऊपर की भाँति सात अर्द्धालियों के वाद दोहा रक्खा है । रामचरितमानस में आठ अर्द्धालियों के वाद दोहा रक्खा है । दो अर्द्धालियों को मिलाकर एक चौपाई होती है । पद्मावत की भाषा बोलचाल की पूर्वी अवधी है । रामचरित मानस की भाषा पश्चिमी अवधी है और वह अपेक्षाकृत अधिक साहित्यिक है।

उसमान—संवत् १६१३ में इनकी चित्रावली लिखी गई थी । इसमें नैपाल के राजकुमार धरनीधर के चित्रावली के साथ विवाह का हाल है । इसमें राजा का पूर्वानुराग चित्र-दर्शन से हुआ था । इसमें यात्राओं का अच्छा वर्णन है । कथा विलकुल काल्पनिक मालूम होती है । ये कवि शाह निजामुदीन चिश्ती की शिष्य-परम्परा म थे । इन्होंने हाजीवावा से दीक्षा ली थी । इन्होंने अपना उपनाम 'मान' लिखा है । ये जहाँगीर के समय में थे और गाजीपुर के रहने वाले थे। इस नगर का वर्णन इन्होंने अपनी पुस्तक मे किया है ।

इन कवियों के अतिरिक्त शेख नवी, कासिमशाह, नूरमुहम्मद, फाजिलशाह आदि कवियों का नाम इस परम्परा में लिया जाता है । कुछ हिन्दू कवियों ने (जैसे दामों, हरिराज, मोहनदास आदि) भी प्रेम-मार्गी परम्परा को अपनाया है ।

उपसंहार—प्रेम-मार्गी कवियों ने मानव हृदय को स्पर्श करने-वाली प्रेम की मधुर और कोमल वृत्ति का सहारा लिया है । ये लोग

कबीर की भाँति हिन्दू-मुसलमानों के खण्डन-मण्डन के पचड़े में नहीं पडे और न उन्होंने किसी को बुरा-भला कहा। इसलिए उनके काव्य मे लोक-प्रिय होने की सम्भावना अवश्य थी किन्तु वह सम्भावना सगुण भक्ति की मधुर-धारा के प्रभाव के आगे वास्तविकता मे परिणत न हो सकी। प्रेम-गाथाओं के आलम्बन इतने लोक-प्रिय न थे जितने राम और कृष्ण। मानव-हृदय लौकिक प्रेम की ओर अवश्य आकर्षित होता है किन्तु भक्ति-भावना मे धर्म और प्रेम दोनो मिले हुए हैं। राम और कृष्ण की लीलाओं मे हिन्दू-जाति को जो आकर्षण था वह प्रेम-गाथाओं मे न आ सका। राम और कृष्ण की कथाओं में दुःखों से त्राण पाने की भी कुछ आशा मिलती है, इसलिए भक्ति-काव्य ने लोगों के हृदय में अपना गहरा स्थान बना लिया।

प्रेम-मार्गी कवियों ने अवधी भाषा का विशेष रूप से प्रयोग किया है। इनकी भाषा बोलचाल की ठेठ अवधी थी। तुलसीदास की-सी संस्कृत-मय भाषा न थी। इसमें अरबी, फारसी के शब्दो का भी समावेश हुआ—मुसलमान कवियो के लिए यह बात स्वाभाविक ही थी। दोहा-चौपाई की परम्परा को इन्होंने प्रशस्त किया, इसलिए हिन्दी ससार इनका कृतज्ञ है।

रामभक्ति-शाखा

भक्ति-मार्ग—भारतवर्ष मे ईश्वर-प्राप्ति वा सद्‌गति के ज्ञान, भक्ति और कर्म के नाम से तीन मार्ग माने गये हैं। ये तीनो मार्ग आदि-काल से चले आये हैं किन्तु कभी किसी की प्रधानता रही है और कभी किसी की। भक्ति-मार्ग मानव-प्रकृति के अनुकूल होने के कारण लोक-प्रिय रहा है। वेदो मे पहले सूर्य और पीछे विष्णु की उपासना की प्रधानता रही है। श्रीमद्भगवद्‌गीता में विष्णु को सूर्य का एक रूप माना गया है—'आदित्यानामहं विष्णुः' प्राचीन काल में यह 'भागवत् धर्म' के नाम से प्रख्यात था। इसी को महाभारत में

'पाँच रात्र धर्म' और 'शाश्वत धर्म' भी कहा है। श्रीमद्भगवत्गीता मे भक्ति और शरणागति भाव प्राचुर्य के साथ पाये जाते हैं (सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज—गीता १८।६६)। देवर्षि नारद भागवद्धर्म के मुख्य आचार्य माने गये हैं। उन्होंने अपने भक्ति-सूत्रों में भक्ति-को ज्ञान की अपेक्षा प्रधानता दी है।

वैदिक-कर्मकाण्ड के हिंसावाद की प्रतिक्रियास्वरूप बौद्ध-धर्म का उदय हुआ। बौद्ध-धर्म की कठिन लोह-शृङ्खला लोगों को बन्धनस्वरूप प्रतीत होने लगी और मानव-हृदय की आवश्यकताओं ने महायान-शाखा में भक्ति-मार्ग का प्रवेश करा दिया। धीरे-धीरे बौद्ध-धर्म का सिक्का जमा। किन्तु उसी के साथ-साथ कर्मकाण्ड और तन्त्रवाद का बोलबाला हो गया, फिर भी सुधार की आवश्यकता हुई। मलावार देश में श्री शङ्कराचार्य का जन्म सं० ८४५ में हुआ। शङ्कराचार्य ने बौद्धों तथा मण्डन मिश्र आदि कर्म काण्डियों से शास्त्रार्थ कर अपने 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाले मायवाद का प्रतिपादन किया। विद्वन्मण्डली में उसका बड़ा आदर हुआ और भारतवर्ष के धार्मिक विचारों पर उसकी गहरी छाप पड़ी, यहाँ तक कि परम शृङ्गारी कवि विहारी भी उसके प्रभाव से मुक्त न रह सके। देखिए—

मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार, प्रतिबिम्बित लखियत जहाँ॥

शाङ्कर-वेदान्त ने बौद्धधर्म की कमी को तो पूरा कर दिया किन्तु वह मानव-हृदय को पूरा तोष न दे सका। दक्षिण भारत में भागवत् धर्म की परम्परा आलवार सन्तों की वाणी में बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी। आलवार सन्तों ने अपनी भक्ति-भावना की व्यञ्जना तामिल भाषा में की थी। उसके पश्चात् कुछ आचार्य भी हुए। उन्होंने अपने भावों का संस्कृत में प्रकाशन किया। इन आचार्यों में नाथमुनि तथा यामुनाचार्य मुख्य हैं। यामुनाचार्य का 'सिद्धित्रय' नाम का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। उनकी रचनाओं में विशिष्टाद्वैत का पूर्व रूप दिखायी

पड़ता है। श्री रामानुजाचार्य (जन्म संवत् १०७३) ने संसार की सत्यता स्थापित कर विशिष्टाद्वैत* सम्प्रदाय चलाया। उन्होंने गुरु की अन्तिम अभिलाषा का पालन करते हुए ब्रह्मसूत्र पर 'श्री भाष्य' लिखा और जगत् की सत्यता और ईश्वर की सगुणता का पाण्डित्य-पूर्ण प्रतिपादन किया।

रामानुजाचार्य ने भक्ति पर अधिक जोर दिया! उनके पीछे के आचार्यों ने प्रपत्ति या शरणागति के भाव को मुख्यता दी है। शरणागति भाव में केवल शरण मे आकर अपने को बिल्कुल ईश्वर के अधीन कर देना पड़ता है। रामानुजाचार्य ने नारायण की उपासना बताई है।

यद्यपि श्री रामानुजाचार्य बहुत उदार प्रकृति के थे (शूद्रों का भी आदर करते थे) तथापि उनके सिद्धान्त जाति-पाँति के पोषक थे। उत्तरी भारत मे वैष्णवधर्म अधिक व्यापक हो गया था। श्री रामानुजीय शिष्य-परम्परा की पाँचवीं पीढ़ी मे श्री रामानन्दजी (जन्म-संवत् १३५६) ने भक्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया। उन्होंने कबीर आदि मुसलमानों तथा रैदास आदि अछूतों को भी वैष्णवधर्म में आश्रय दिया। अनेक सन्त रामानन्द से प्रभावित हुए हैं। उनमें कबीर ऐसे निर्गुणवादी और तुलसी ऐसे सगुणवादी शामिल हैं। पीपा, सेना, रैदास, मलूक आदि सभी सन्त रामानन्द स्वामी के ऋणी हैं। रामानन्द ने लोगों को राम-मंत्र से दीक्षा दी, उनके सम्प्रदाय में राम ने नारायण का स्थान ले लिया। रामानंदीय शिष्य-परम्परा मे गोस्वामी सातवीं पीढ़ी में माने जाते हैं।

जिस प्रकार रामानन्दीय सम्प्रदाय मे, जो रामावत सम्प्रदाय के नाम से भी प्रख्यात है, रामोपासना की प्रधानता रही, उसी प्रकार श्री मध्वाचार्य (स० १२५४–१३३४) श्री वल्लभाचार्य (जन्म स० १५३६) श्री

* ये लोग अद्वैतता मानते हैं। किन्तु अद्वैतता विशिष्ट अर्थात् विशेषण-युक्त है। ये लोग जीव और जगत् को ब्रह्म का विशेषण मानते है और संसार को मिथ्या नहीं कहते।

चैतन्य महाप्रभु (सं० १५४२ के लगभग) तथा निम्बार्काचार्य (१२ वीं शताब्दी) के सम्प्रदायों में कृष्णोपासना की मुख्यता रही। श्री मध्वाचार्य ने द्वैतवाद की (जो भक्ति-भावना के लिये आवश्यक था) स्थापना की। श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी अधिकतर उन्हीं के सिद्धान्तों को माना और नाम-सकीर्तन पर अधिक जोर दिया। उनकी भक्ति में प्रेमोन्मत्तता अधिक थी।

श्री वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत की स्थापना की। उन्होंने गोपाल-कृष्ण की वात्सल्य-भाव से उपासना बताई। सूरदासजी (अष्ट छाप के प्रमुख कवि) इसी सम्प्रदाय के थे। श्री निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत अथवा भेदाभेद का सिद्धान्त बतलाया। श्री हितहरिवंशजी ने श्री राधिकाजी की उपासना को प्राधान्य देकर श्री राधिकावल्लभीय सम्प्रदाय की स्थापना की। महाराष्ट्र में समर्थ रामदास, तुकाराम, नामदेव, ज्ञानेश्वर आदि सन्तों और महात्माओं ने अपनी रचनाओं द्वारा महाराष्ट्र-भाषा के साहित्य की श्रीवृद्धि की। इन लोगों की कुछ कविताएँ हिन्दी भाषा में रची गई हैं। पजाब में गुरु नानक ने सिक्ख सम्प्रदाय की स्थापना कर पंजाबी भाषा में भक्ति का स्रोत बहाया।

भक्ति-काल की विशेषताएं—१—भक्ति-कवि वैष्णव थे और विष्णु भगवान् के सगुण और साकार रूप के, जो कि रामकृष्णादि अवतारों में व्यक्त हुआ था, उपासक थे। वे उसको ब्रह्म से ऊपर मानते थे। सन्त कवि निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। प्रेम-मार्गी कवियों का उपास्य सन्तों के ब्रह्म की अपेक्षा अधिक सगुण था किन्तु साकार नहीं था। मुसलमान और ईसाइयों का खुदा सगुण है किन्तु राम-कृष्ण की भाँति साकार नहीं है।

२—अपने इष्टदेव का गुणगान करना तथा लीला का वर्णन वे एक धार्मिक कर्त्तव्य समझते थे। उनमें उनके हृदय का उल्लास और उसके कारण आत्मनिवेदन भी सम्मिलित रहता था।

३—वे लोग कविता को अभिव्यक्ति का साधन मात्र मानते थे,

उसको कभी साध्य नहीं बनाया। वे कविता को कविता के लिए कभी नहीं करते थे। रीतिकालीन कवि कविता और कला को मुख्यता देते थे।

४—वे लोग राजाश्रय की परवाह नहीं करते थे। जो लिखते थे या तो स्वान्तःसुखाय या लोकहिताय लिखते थे। इस बात में सन्त और कुछ-कुछ सूफी कवि उनसे समानता रखते थे। रीतिकालीन कवियों में यह बात न थी। ये लोग अपने आश्रयदाताओं के लिए कविता करते थे किन्तु वैष्णव भक्त कवि जनता के कवि थे।

५—ये लोग अपने कर्मों और गुणों की अपेक्षा भगवान् की कृपा को अधिक महत्ता देते थे।

गोस्वामी तुलसीदास

जीवन-सामग्री के बहिरंग साधन—

किसी कवि के जीवन-वृत्त जानने में हम दो प्रकार के साधनों से काम लिया करते हैं, एक आन्तरिक और दूसरे बाह्य। आन्तरिक साधन से तात्पर्य है—कवि के द्वारा स्वयं अपने ही ग्रन्थों में दिया गया अपना परिचय। 'बाह्य' साधनों में उसके समकालीन अथवा परवर्ती लेखकों द्वारा किया गया अथवा राजकीय पत्रों आदि में लिखा हुआ वृत्तान्त। गोस्वामीजी ने भक्त-कवि होने के कारण अपने विषय में कुछ अधिक नहीं कहा। फिर भी उनकी पुस्तकों में कुछ स्थल ऐसे हैं जिनसे उनके जीवन के सबन्ध में बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। गोस्वामीजी के जीवन पर प्रकाश डालने वाले पाँच बाहरी साधन हैं।

(१) नाभाजी की 'भक्तमाल' (२) 'भक्तमाल' पर प्रियादासजी की टीका (३) बाबा वेणीमाधवदास कृत 'मूलगोसाईं चरित' (४) बाबा रघुवरदास कृत 'तुलसीचरित' तथा (५) रामचरितमानस की 'मानसमयङ्क' नाम की एक प्राचीन टीका।

आन्तरिक साधन—

आन्तरिक साधनों में कवितावली तथा विनय-पत्रिका में यत्र-तत्र

आत्म निवेदन के रूप में कहे गये स्थल कुछ काम के हैं, साथ ही कुछ बातों पर रामचरितमानस तथा दोहावली से भी प्रकाश पड़ता है, जिनका यथास्थल प्रयोग किया जायगा।

जन्म संवत्—

डा० ग्रियर्सन ने प० रामगुलामजी द्विवेदी की बात को प्रामाणिक मानते हुए गोस्वामीजी का जन्म सवत् १५८६ वि० माना है, परन्तु 'गोसाई चरित' के आधार पर उनका जन्म-संवत् १५५४ वि० है:—

पन्द्रहसै चौवन विषै कालिन्दी के तीर।
सावन सुक्ला सतमी, तुलसी धरयौ सरीर॥
—वेणीमाधवदास कृत 'गोसाईं चरित'।

मानस-मयङ्क ने भी इस पक्ष की पुष्टि की है।

मृत्यु संवत्—

उनकी मृत्यु के सम्बन्ध में साधारणतया यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है:—

संवत् सोरह सौ असी, असी अङ्ग के तीर॥
सावन सुक्ला सतमी, तुलसी तज्यौ सरीर॥

पर गोसाईं-चरित्र में इसके उत्तरार्द्ध का पाठ निम्न प्रकार है:—

'श्रावण श्यामा तीज सनि, तुलसी तज्यौ सरीर'

यह मत इस बात से और भी पुष्ट होता है कि गोस्वामीजी के मित्र टोडरमल के वंशज अब भी उक्त तिथि को गोस्वामीजी के नाम से सीधा देते हैं। श्रावण शुक्ला सतमी वास्तव में उनकी जन्म-तिथि है जैसा गुसाईं चरित्र के ऊपर दिये गये एक दोहे से प्रकट है।

जन्म-स्थान निवास-स्थान, पर्यटन आदि—

जन्म के विषय में भी अनेक मतभेद हैं। कोई यह सौभाग्य राजापुर और कोई चित्रकूट के पास हाजीपुर को प्रदान करते हैं। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने यह स्थान शूकर-क्षेत्र अर्थात् सोरो बतलाया है। पर बहुमत बाँदा जिले में कालिन्दी-कूल पर स्थित राजापुर को आपकी जन्म-भूमि मानने के पक्ष में है। (एक शूकर-क्षेत्र गोंडा जिले में भी है।) इस मत

का समर्थन 'तुलसी-चरित', 'शिवसिंह सरोज' तथा रमगुलामजी द्विवेदी ने किया है। यहीं गोस्वामीजी के हाथ की लिखी हुई 'रामचरित मानस' की प्रति विद्यमान कही जाती है। अब कुछ लोगों का यह मत होता जाता है कि तुलसीदासजी का जन्म सोरों में हुआ और पीछे से राजापुर मे जा बसे। बाँदा का गजटियर भी प्रमाणित करता है। उसमें लिखा है कि राजापुर गाँव सोरों के सन्त तुलसीदासजी द्वारा बसाया गया है।

गोस्वामीजी ने साधु वृत्ति स्वीकार कर लेने के पश्चात् पर्यटन भी बहुत किया। आप अयोध्या, चित्रकूट जगन्नाथपुरी, रामेश्वर आदि तीर्थ स्थानों में गये। कहा जाता है कि आप अपने भाई नन्ददास से मिलने ब्रज-भूमि में भी गये थे, वहाँ पर सूरदासजी से इनकी भेंट हुई थी। ऐसा भी प्रसिद्ध हैं कि पहले सूरदासजी चित्रकूट में तुलसीदासजी से मिले थे। जनश्रुति के अनुकूल तुलसीदासजी ने वृन्दावन के एक मन्दिर में श्रीकृष्णजी की मूर्ति के सम्मुख यह दोहा पढा था—

'का बरनउँ छवि आजु की, भले विराजेउ नाथ।
तुलसी मस्तक जब नवै, धनुष वान लेउ हाथ॥'

यह सुनकर श्रीकृष्णजी ने ऐसा ही किया। यह दोहा तुलसी के अनन्य भाव का परिचायक है, पर कुछ लोग इसे पीछे से जोडा हुआ कहते हैं और इस घटना को कपोल-कल्पित मानते हैं। उन लोगों का कथन है कि जो कवि कृष्ण-गीतावली लिख सकता है और राम तथा शङ्कर में अभेद स्थापित करता है वह अपने मुख से किस प्रकार इस बात को कहेगा।

गोस्वामीजी काशी में अधिक रहे। वहाँ गोपाल मन्दिर, सङ्कट-मोचन महावीर, प्रहलादघाट, अस्सीघाट आदि आपसे सम्बन्धित अनेक स्थान प्रसिद्ध हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि मीराबाई ने तुलसीदासजी को अपनी सङ्कट-पूर्ण दशा लिखकर भेजी थी और तुलसीदासजी ने उनको नीचे लिखे पद में उत्तर दिया था:—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए ताहि कोटि वैरी सम, जद्यपि परम सनेही।

× × × ×

यदि आपका जन्म संवत् १५८९ माना जाय तो मीरा और तुलसी के समय मे बहुत अन्तर वैठता है क्योंकि मीरा की मृत्यु स० १६०३ में हुई थी और यह घटना कल्पित ठहरती है। किन्तु जब तक इसके विरुद्ध कोई अकाट्य प्रमाण न मिले तब तक ऐसी परम्परागत जनश्रुति को एक दम झूठा कहना उचित नहीं है। तुलसीदासजी का जन्म संवत् १५५४ मानने में यह कठिनाई नहीं रहती।

माता-पिता—जनश्रुति के अनुसार आपके पिता का नाम आत्माराम तथा माता का नाम हुलसी है। गुसाईं चरित में कहा है—
'हुलसी सुत तीरथ राज गए।'

रहीम का यह दोहा तो प्रसिद्ध ही हैः—

सुरतिय नरतिय नागतिय, यह चाहहिं सब कोय।
गोद (गर्भ) लिए हुलसी फिरे, तुलसी सो सुत होय॥

बाबा रघुवरदास के 'तुलसी-चरित' के अनुसार इनके पिता का नाम मुरारिमिश्र, कुलगुरु का नाम तुलसीराम तथा इनका नाम तुलाराम ठहरता है।

नाम और जाति—

जैसा ऊपर कहा गया है 'तुलसी-चरित' मे आपका नाम तुलाराम बताया गया है। विनय-पत्रिका में 'राम को गुलाम रामबोला नाम राख्यो' कहा गया है। इसके अनुसार उनका नाम 'राम-बोला' प्रमाणित होता है। सम्भव है बाल्यावस्था में साधु संसर्ग मे रहने के कारण साधु लोग इन्हें रामबोला नाम से पुकारते हों। साधु लोग अपने चेलों को

ऐसे ही नामों से सम्बोधित करते हैं। यद्यपि अपने सम्बन्ध में वे जाति पाँति का गर्व नहीं रखते थे जैसा कि निम्नलिखित पद्यांशों से स्पष्ट है:—

'धूत कहो, अवधूत कहो, रजपूत कहो, जुलहा कहो कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ॥

* * * *

'मेरे न जाति पाँति, न चाहो काहू की जाति पाँति।
मेरे कोऊ न काम को, न हौं काहू के काम को॥'

फिर भी कवितावली में—'जायो कुलमंगन......' तथा 'दियौ सुकुल-जनम शरीर' आदि छन्दों से स्पष्ट है कि आपका जन्म ब्राह्मण कुल में हुआ था।

विवाहित जीवन और परिवर्त्तन—

संवत् १५८३ में गोस्वामीजी ने विवाह किया। इनकी स्त्री का नाम रत्नावली* प्रसिद्ध है। 'तुलसी-चरित' के अनुसार इनके तीन विवाह हुए। तीसरी स्त्री का नाम बुद्धिमती था। कहा जाता है उनसे तारक नाम का एक पुत्र भी हुआ था, जो मर गया था। गोस्वामीजी अपनी पत्नी में बहुत अनुरक्त थे अतः उसे पीहर न भेजते थे। एक बार वह बिना कहे ही उनकी अनुपस्थिति में अपने भाई के साथ पीहर चली गई। जब उन्हें ज्ञात हुआ तो ये भी वहाँ के लिए चल दिये और बहुत सी कठिनाइयों को पार करते हुए आधी रात के समय पहुँचे। जैसे ही वह अपनी पत्नी से मिले वह बहुत लज्जित हुई और उसने कहा

"लाज न आवत आपको, दौरे आयहु साथ।
धिक्-धिक् ऐसे प्रेम को कहा कहहुँ हौं नाथ॥

---

*कहा जाता है कि रत्नावली भी कविता करती थी। उनकी लिखी हुई एक पुस्तक की चर्चा भी होने लगी है। उसमे अधिकतर उनका पश्चाताप है। यह पुस्तक अब प्रकाशित हो गई है।

अस्थि चरम मय देह मम, तामें ऐसी प्रीति।
होती जो श्रीराम महँ, होति न तो भवभीति॥

यह सुनकर वे तुरन्त लौट पड़े और विरक्त हो गये। आपने सं० १५६७ में वैराग्य लिया और १६ वर्ष तक देशाटन और तीर्थ-यात्रा करते रहे, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। १६१६ में सूरदासजी इनसे चित्रकूट में मिले। मीरा के इनसे मिलने की बात भी यहीं की कही जाती है। पर्यटन करते हुए एक बार आपकी भेंट अपनी पत्नी से फिर हुई थी। गोस्वामीजी तो उसे पहचान न सके पर स्त्री अपने पति को कब भूल सकती थी। उसने गोस्वामीजी से पूजा के लिए सामान लाने के लिए पूछा। परन्तु तुलसीदासजी ने कहा कि हमारी झोली में सब सामान है। तब स्त्री ने कहा—

खरिया, खरी, कपूर सब, उचित न पिय! तियत्याग।
कै खरिया मोहिं मेलि कै, विमल विवेक विराग॥

यह सुनना था कि तुलसीदासजी ने झोली की सब वस्तुएँ गरीबों को बाँट दी।

गोस्वामीजी के ग्रन्थ—

गोस्वामी तुलसीदासजी ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है। इस सूची के ग्रन्थ का क्रम नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित तुलसी ग्रन्थावली के अनुकूल है। जिन संवतों पर* ऐसा चिह्न है वे 'मूल गुसाईं चरित' के अनुकूल हैं।

१—रामचरित-मानस—(सं० १६३१) 'रामायण' नाम से तुलसीदासजी का यह ग्रन्थ सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह तिथि रामचरित-मानस में ही दी गई है।

२—रामलला नहछू—(सं० १६४३) २० सोहर छन्दों का छोटा सा ग्रन्थ है। पूर्वीय प्रान्त में बारात के पूर्व, चौक पर बैठने के

समय नाइन के द्वारा नख (नह) छूने या महावर देने की प्रथा प्रच-लित है। यह कृत्य यज्ञोपवीत के पूर्व भी होता है। इस छोटी पुस्तक में उसी लीला का वर्णन किया गया है। मिश्रवन्धुओं ने इसके गोस्वामी-कृत होने मे सन्देह किया है। इसमें अयोध्याजी (आज अवधपुर आनन्द राम हो) का तथा कौशल्याजी का उल्लेख होने के कारण अधिकांश लोग इनको यज्ञोपवीत के समय का मानते हैं। वाबू श्याम-सुन्दरदासजी ने इसका रचना-काल सवत् १६३६ माना है। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने इसकी अधिक शृङ्गारिकता के कारण इसकी रचना मानस की रचना से २० वर्ष पूर्व अर्थात् १६११ की मानी है। इसकी रचना-तिथियों के सम्बन्ध में जानकीमगल का विवेचन देखिये।

३—वैराग्य-संदीपनी—(सं० १६६९*) यह ६२ छन्दों का छोटा-सा ग्रन्थ है। इसमें सन्त-महन्तों के लक्षण दिये गये हैं। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने इसे बहुत पहले (स० १६२५) का माना है। डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी इसको विनय-पत्रिका के साथ का रचा हुआ मानते है (अर्थात् १६३६ का) तथा डाक्टर बड़थ्वाल संवत् १६४० के पूर्व का (१६३९) या उससे भी पहले का मानते हैं।

४—बरवै रामायण—(स० १६६९*) इसमें बरवै छन्द में रामचरित लिखा गया है। सात काण्ड और ६९ छन्द हैं। इसके भी तुलसीकृत होने में सन्देह किया जाता है। किन्तु इसके राम के प्रति ईश्वर भावना होने के कारण यह सन्देह कम हो जाता है। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने इसकी रचना-तिथि १६६२ और ६४ के बीच में मानी है। अलङ्कारिता के आधिक्य के कारण यह ग्रन्थ पहले का मालूम पड़ता है किन्तु रहीम के अनुकरण में होने के कारण पीछे का ठहरता है।

कवि रहीम बरवै रचे, पठये मुनिवर पास।
लखि तेइ सुन्दर छन्द में, रचना किए प्रकास॥

५—पार्वती-मङ्गल—(सं० १६४३) इसमें शिव और पार्वती के विवाह का वर्णन है। छन्द-संख्या १६४ है। मिश्रबन्धुओं ने इसके तुलसी-कृत होने में सन्देह किया है। इसमें जय संवत् का उल्लेख है। जय संवत् १६४३ में पड़ा था। बाबा वेणीमाधवदास ने इसका रचना काल १६६६ माना है, यह ठीक नहीं जान पड़ता। इसमें अरुण और हरिगीतिका छन्द है।

६—जानकी-मङ्गल—(सं० १६४३) इसमें सीताजी की कथा कही गई है। इसमें २१६ छन्द हैं। डाक्टर माताप्रसाद गुप्त ने इसको सं० १६२१ की रचना माना है। पार्वती-मङ्गल का रचना-काल १६४३ निश्चित् है। 'गुसाईं चरित' में नहछू और दोनों मङ्गलों का एक साथ निर्माण लिखा है ('मिथिला में रचना किये नहछू मङ्गल दोय'। इन तीनों का विषय एक होने के कारण इनका एक साथ रचा जाना सम्भव है) इसी से तीनों का एक समय माना है। वेणीमाधव ने इन तीनों का उल्लेख संवत् १६६६ की घटनाओं के साथ किया है और मिथिला में वे संवत् १६४० में गये हैं। इसकी कथा वाल्मीकीय रामायण से प्रभावित है। वाल्मीकीय रामायण की भाँति इसमें परशुराम की भेंट बारात लौटते समय हुई।

७—रामाज्ञा—(१६६६*) यह ग्रन्थ शकुन विचारने के लिए बनाया गया है। उनञ्चास उनञ्चास दोहों के सात सर्ग हैं। विषय रामायण की राम-कथा है। यह ग्रन्थ प० गङ्गाराम ज्योतिषी के लाभार्थ लिखा गया बताया जाता है। एक हस्तलिखित पुस्तक के आधार पर इसकी रचना का समय सं० १६५५ बताया जाता है। डा० माताप्रसाद गुप्त इसका रचना-काल सं० १६२६ के लगभग मानते हैं।

८—दोहावली—(सं० १६४० *) इसमें ५७३ स्फुट दोहे हैं। अधिकतर दोहे उपदेश तथा भगवद्भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले हैं। इनमें से कुछ दोहे ऐसे हैं जो रामचरितमानस तथा रामाज्ञा में भी

आये हैं। इससे प्रतीत होता है कि यह संग्रह ग्रन्थ होगा। इसमें सवत् ४० के बहुत पश्चात् होने वाली बाहु पीड़ा से सम्बन्ध रखने वाले भी कुछ दोहे हैं। इस आधार पर डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसे उत्तरकालीन रचना माना है।

९—कवित्त रामायण—इसका दूसरा नाम 'कवितावली' है। इसमें कवित्त, सवैया, घनाक्षरी और षटपदी छन्द है, संख्या ३२५ हैं। कुछ लोग इसमें हनुमानबाहुक भी शामिल कर देते हैं (उसकी छन्द संख्या ४४ है) इसका विषय राम-चरित्र है। कवितावली में गोस्वामीजी के अन्तिम काल सम्बन्धी कुछ रचनाएँ हैं। उसमें मीन की शनिश्चरी और रुद्रबीसी तथा महामारी का उल्लेख आया है। रुद्रबीसी का समय १६६५ से १६८५ तक माना गया है। मीन की शनिश्चरी रुद्रबीसी के साथ सं० १६६५ से ७१ तक रही। इस कारण इसका रचनाकाल सं० १६६५-७१ तक ठहरता है। इसके कुछ छंद मृत्यु के समय तक बने होंगे। यह उत्तरकालीन रचनाओं में से है। 'गुसाईं चरित' में इसका कोई संवत् नहीं दिया है। उसमें केवल यही सकेत है कि सवत् १६२२ में सीता-वट के नीचे कुछ कवित्तों की रचना की। सम्भव है तब मे रचना प्रारम्भ हुई हो।

१०—गीतावली—(सं० १६२७ *) इस पुस्तक में रागन-रागनियों का समावेश है। कथा प्रसग कुछ भेद के साथ रामायण से मिलता-जुलता है। इसमें सात काण्ड और ३३० छन्द हैं। गीत-काव्य होने के कारण इसमे उन्हीं स्थलों का वर्णन है जिसका सम्बन्ध शृङ्गार, करुणा और वात्सल्य की कोमल भावनाओं से है। इसका सवत् 'गुसाईं चरित्र' में १६२८ बताया गया है। ('जब सोरह से वसु बीस चढ्यौ) किन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता है। सम्भवतः सं० १६३४ से ४६ तक लिखी गई होगी। इसमें विशेष कर बाल-काण्ड और उत्तरकाण्ड में कृष्ण काव्य का प्रभाव है।

११—कृष्ण गीतावली—(सं० १६२६ *) इस ग्रन्थ में कृष्ण-

कथा का वर्णन है। कुल मिलाकर ६१ पद हैं। यह भी पीछे का ग्रन्थ मालूम पड़ता है अर्थात् सं० १६४४ के बाद का लिखा हुआ है।

१२—विनय पत्रिका—इसमें राग-रागनियों द्वारा देवी देवताओं के विनय सम्बन्धी पद लिखे हैं। इसमें कलिकाल के विरुद्ध श्री रामचन्द्रजी के दरबार में अर्जी पेश की गई है और दरबारी शिष्टाचार का पूर्ण निर्वाह हुआ है। इसकी रचना बड़ी उत्कृष्ट समझी जाती है। इसमें तीन सौ के लगभग पद हैं। इसकी ब्रजभाषा बड़ी पाण्डित्यपूर्ण और संस्कृत गर्भित है। यह ग्रन्थ १६३८ तक समाप्त हुआ होगा।

१३—वेणीमाधवदास ने तुलसीसतसई का भी उल्लेख किया है। इसको वे सं० १६४२ का बताते हैं किन्तु यह दूसरों का किया हुआ संग्रह मालूम पड़ता है।

भक्ति-भाव तथा दार्शनिक मत—

कुछ लोग गोस्वामीजी को स्मार्त-वैष्णव * बताते हैं और कुछ लोग रामानन्दी सम्प्रदाय का मानते हैं। जो कुछ भी हो, वे मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी के अनन्य भक्त थे और सारे संसार को 'सिया-राममय' देखते थे। तुलसीदासजी ने भक्ति और प्रेम पिपासा में चातक को आदर्श माना है। वे मर्यादा के अनुकूल अन्य देवताओं से प्रार्थना करते, किन्तु उनसे राम-भक्ति की याचना कर अपनी अनन्यता की रक्षा करते थे। उनकी भक्ति सेव्य-सेवक भाव की थी। वे सेव्य-सेवक भाव बिना भक्ति नहीं मानते—

'सेव्य-सेवक भाव बिनु भाव न तरिए उरगारि'

वे सूरदासजी की भाँति अक्खड़ भक्त न थे। दार्शनिक विचारों में वे मायावाद से प्रभावित अवश्य हुए थे और उनकी बहुत सी चौपाइयों में मायावाद का सिद्धान्त झलकता है—

---

*रामायण का आरम्भ सं० १६३१ में नवमी मङ्गलवार को हुआ। स्मार्त लोगों के मत से उस साल नवमी मङ्गलवार को ही बैठती है।

'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। तहँ लगि माया जानेउ भाई ॥"
और 'रज्जौ यथोहेर्भ्रमः' आदि-वाक्यों में संसार को भ्रम स्वरूप भी कहा है तथापि वे अपने सम्प्रदाय (रामानन्दीय) के सिद्धान्तों से नहीं हटे। भक्ति-भावना के साथ द्वैतभावना की ही संगति हो सकती है। इसलिए उन्होंने ईश्वर और जीव को अलग ही माना है।* देखिए—

माया वस्य जीव अभिमानी। ईस वस्य माया गुनखानी ॥
परवस जीव स्ववस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकंता ॥

ईश्वर प्राप्ति के मार्गों में उन्होंने ज्ञान और भक्ति का अभेद बताया है।

ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव संभव खेदा।

ऐसा लिखते हुए भी उन्होंने भक्ति को प्रधानता दी है। भक्ति को प्रधानता देने का एक काव्यमय कारण भी दिया है। वह यह कि भक्ति माया से मोहित नहीं हो सकती—

मोहि न नारि-नारि कै रूपा। पन्नगारि यह नीति अनूपा ॥

ज्ञान मे प्रत्यूह भी अधिक है। इसलिए ज्ञान-मार्ग की अपेक्षा भक्ति ही सुलभ है। ज्ञान को दीपक माना है जो संसार की हवा से बुझ सकता है और भक्ति को चिन्तामणि माना है, जिस पर हवा का असर नहीं होता है। भक्ति साधना ही नहीं साध्य भी है। इसी भक्ति-भावना के कारण उन्होंने सगुणोपासना को प्रधानता दी और ब्रह्म के सगुण अवतार राम के वर्णन में सफल हो सके।

---

* यह विषय अधिक विवादास्पद है। महामहोपाध्याय पण्डित गिरधर शर्मा, पण्डित बल्देवप्रसाद मिश्र, पण्डित श्रीधर पन्त आदि विद्वान् उनको अद्वैतवादी बताते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, श्री रामकुमार वर्मा, श्री वियोगीहरि उनको विशिष्टाद्वैतवादी मानते हैं। सितम्बर १६३६ के 'साहित्य-संदेश' में लेखक द्वारा की हुई 'तुलसी दर्शन' की आलोचना से इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ सकता है। अथवा लेखक के 'हिन्दी काव्य विमर्श' में गोस्वामीजी के दार्शनिक विचार पढ़िए।

प्रतिनिधि कवि—

गोस्वामीजी ने अपने समय की जनता के हृदय से हृदय मिलाकर उसके आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति की है। ऐसा कोई रस नहीं जिसका उनके काव्य में परिपाक न हुआ हो, ऐसा कोई भाव नहीं जिसकी व्यञ्जना न हुई हो। साथ ही उन्होंने उस समय के प्रचलित काव्य विषय राम और कृष्ण दोनों पर ही लिखा और अधिकार पूर्वक लिखा। उन्होंने उस समय की तीनों काव्य भाषाओं—पूर्वी अवधी (बरवै रामायण, रामलला नहछू), पश्चिमी अवधी (रामचरित मानस), व्रजभाषा (गीतावली, कवितावली, विनय-पत्रिका*) में पूर्ण सफलता पूर्वक रचनाएँ कीं। उन्होंने बुन्देलखण्डी को भी बहुत कुछ अपनाया, जैसा कि 'कीबी' आदि क्रियाओं से स्पष्ट है।

तुलसी ने छन्द रचना की सभी प्रणालियों को अपनाया, जैसे (क) वीरगाथा काल की छप्पय पद्धति जिसको गोस्वामीजी ने रामचरित मानस के युद्ध वर्णन में अपनाया है। (ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति जिसका परिचय हमें राम गीतावली और कृष्ण-गीतावली में मिलता है। (ग) गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया पद्धति। इस पद्धति में कवितावली लिखी गई है, जिसमें भगवान की राज-श्री के साथ यश वर्णन है। (घ) कबीरदास की नीति सम्बन्धी वानी की दोहा पद्धति जो अपभ्रंश-काल से चली आती थी। इस पद्धति का प्रयोग गोस्वामीजी ने अपनी दोहावली में किया है। (ङ) और जायसी के दोहे-चौपाई वाली प्रवन्ध-पद्धति जिसको कि गोस्वामीजी ने रामचरित मानस में अलंकृत किया है।

---

*विनय-पत्रिका की व्रजभाषा अधिक संस्कृत गर्भित है। राजदरबार की अर्जी की भाषा गौरवान्वित और पाण्डित्यपूर्ण होनी भी चाहिए थी।

यहीं तक नहीं वे प्रबन्ध-काव्य, स्फुट-काव्य, गीत-काव्य किसी को बिना अपनाये न रहे। इन शैलियों का रामचरित के वर्णन में प्रयोग कर उनका अत्यन्त परिमार्जित और निखरा हुआ रूप वे उपस्थित कर सके थे। अतः भाषा, भाव, शैली एव छन्द रचना के विषय में विचार करने पर हम निस्संकोच भाव से कह सकते हैं कि तुलसीदास अपने समय के प्रतिनिधि कवि थे। सूरदास केवल ब्रजभाषा को ही अपना सके और केवल गीत-पद्धति पर रचना कर सके। वे प्रेम और वात्सल्य को छोड़ अन्य किसी भाव को सफलता पूर्वक व्यक्त भी न कर सके, परन्तु तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी रही और उसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को प्रकाशित किया और उस समय की धार्मिक जनता के भावों को भली प्रकार व्यक्त किया।

राम-काव्य और तुलसी का महत्त्व—

तुलसी के काव्य ने भक्ति के साथ शील, आचार, मर्यादा और लोक सग्रह का सदेश सुना कर हिन्दू-जाति में एक अपूर्व दृढ़ता उत्पन्न कर दी। उन्होंने वर्ण-व्यवस्था का पक्ष लेकर हिन्दू-समाज के लिए एक अभेद्य दुर्ग बना दिया और हिन्दुओं में मुसलमान-धर्म के प्रचार को रोका। गोस्वामीजी ने हिन्दू धर्म के मूल सिद्धान्तों को भाषा में अवतीर्ण कर उनका समाज में प्रचार किया और शैव तथा वैष्णव सम्प्रदायों के परस्पर मतभेद को दूर कर उनको और भी सङ्गठित कर दिया। संस्कृत के दुरूह होने के कारण उसके द्वारा हिन्दू-धर्म के सिद्धान्त को इतना व्यापक बनाना कठिन था, इसलिए उन्होंने सस्कृत में लिखने और उसके द्वारा पण्डित-समाज में ख्याति प्राप्त करने का मोह संवरण कर हिन्दी भाषा को अपनाया। हिन्दी में लिखने के कारण इनको पण्डित समाज के विरोध का भी सामना करना पड़ा किन्तु उन्होंने उसकी परवाह न की। वे उत्तम भाव चाहते थे। भाषा के पीछे नहीं पड़े थे। वे इस सम्बन्ध में बड़े उदार और प्रगतिशील थे। उनका सिद्धान्त था—

का भाषा का संस्कृत, भाव चाहिए साँच ।
काम जो आवै कामरी, का लै करै कमाँच ॥

कुछ विशेषताएँ—

मिश्रबन्धुओं के शब्दों में गोस्वामीजी की कुछ विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं:—

(१) गोस्वामीजी कथा-वर्णन में कोई बात एकबारगी नहीं कह देते बल्कि आने वाली बड़ी-बड़ी घटनाओं की पहले से सूचना दे देते हैं।

(२) वे अपने को तुरन्त मुख्य कथा पर पहुँचा देते हैं, रोचकता रहित तैयारियों में समय नष्ट नहीं करते। इसी से इनको प्रबन्ध-काव्य लिखने में सफलता हुई।

(३) अमुक-उवाच कहाए बिना ही आप बात कह देते हैं परन्तु यह विदित हो जाता है कि किसने बात कही।

(४) गोस्वामीजी निन्द्य मनुष्यों पर कथा वर्णन में सदैव बड़ा क्रोध प्रकट करते हैं। उन्होंने बालकाण्ड के आरम्भ में खलों की वन्दना की है जिसमें थोड़ा व्यंग भी शामिल है।

(५) गोस्वामीजी ने रामायण की कथा में अपनी ओर से कुछ घटाया बढ़ाया भी है। इस कारण वाल्मीकीय रामायण से कई बातों में अन्तर पड़ जाता है। जैसे—

(क) इन्होंने स्वयंवर के समय सीता को छोटी कन्या की भाँति नहीं दिखाया (पुष्प-वाटिका का प्रसङ्ग वाल्मीकीय में नहीं है। गोस्वामीजी ने यह 'प्रसन्न-राघव' नाटक से लिया है। इससे शृङ्गार के अन्तर्गत पूर्व राग की साहित्यिक झलक मिल जाती है।)

(ख) रामचन्द्रजी से धनुष सभा में तुड़वाया है, एकान्त में नहीं।

(ग) राजा जनक से स्वयंवर में धनुष तोड़े जाने का प्रण कराया है।

(घ) परशुराम को सभा में बुलाया है, वाल्मीकीय रामायण में राम का सीता के साथ अयोध्या जाते समय उनकी राम से भेंट कराई है। गोस्वामीजी ने यह नहीं लिखा कि परशुराम का तेज भी श्री रामचन्द्रजी ने ग्रहण किया (इस सम्बन्ध में रामचन्द्रिका वाल्मीकीय रामायण से अधिक प्रभावित है। गोस्वामीजी ने क्षत्रिय समाज के सामने ही क्षत्रियों को त्रास देनेवाले परशुरामजी द्वारा रामचन्द्रजी का महत्त्व स्वीकार कराया है।)

(ङ) तुलसीदासजी ने मेघनाद द्वारा लक्ष्मण के शक्ति का लगना लिखा है। वाल्मीकीय रामायण में रावण के हाथ से शक्ति लगना लिखा है। रामचन्द्रिका में भी वाल्मीकीय के अनुसार रावण द्वारा शक्ति लगवाई गई है।

(६) गोस्वामीजी ने नायक तथा उपनायकों का शील-गुण आद्योपान्त एक रस निभाया है।

(७) गोस्वामीजी ने विप्र-गण की महिमा का सदा गान किया है।

(८) गोस्वामीजी अन्य सब देवताओं का पूजन रामभक्ति प्राप्त करने के लिए ही करते हैं।

(९) गोस्वामीजी सगुण ब्रह्म के उपासक थे और उन्होंने श्री रामचन्द्रजी को साक्षात् परमब्रह्म माना है।

(१०) गोस्वामीजी ने कौशल्या, सुमित्रा, सीता, अनुसूया आदि को छोड़ कर स्त्रियों की हर जगह निन्दा की है।

(११) गोस्वामीजी अपने नायकों के गुण दिखलाने के लिए उपनायकों की त्रुटियां खूब दिखा देते हैं।

(१२) गोस्वामीजी ने बहुत बड़े-बड़े एवं बड़े ही सुन्दर रूपक लिखे हैं।

(१३) यद्यपि गोस्वामीजी को हँसी पसन्द न थी तो भी कहीं-कहीं प्रच्छन्न प्रहसन को उन्होंने स्थान दे दिया है। (जैसे वर अनुहार बरातन भाई)

(१४) इनके सैकड़ों पद कहावत के रूप में प्रचलित हो गये हैं।

(१५) गोस्वामीजी ने कई भाषाओं में (पश्चिमी अवधी, पूर्वी अवधी, व्रजभाषा) सफलता-पूर्वक कविता की है।

(१६) आपने स्थान और विषय के अनुसार समुचित शब्दों का प्रयोग किया है।

(१७) गोस्वामीजी अनुप्रास को बहुत आदर नहीं देते।

राम-भक्ति शाखा के अन्य कवि

नाभादास—(स० १६५७)—यद्यपि रामभक्ति शाखा के प्रमुख और प्रधान कवि तुलसीदासजी हैं तथापि कुछ अन्य कवियों ने भी इस शाखा को अपनी वाणी से अलङ्कृत किया है। इन कवियों में नाभादासजी अधिक प्रसिद्ध हैं। नाभादासजी ने अपने गुरु अग्रदासजी की प्रेरणा से 'भक्तमाल' नाम का एक ग्रन्थ लिखा है जिसमें उन्होंने साम्प्रदायिक भेद-भाव छोड़कर सभी भक्तों का यश वर्णन किया है। भक्तों में इस ग्रन्थ का बड़ा मान है। इसका बङ्गला भाषा में भी अनुवाद हुआ है। इसके वर्णन सूत्र रूप से हैं। इनसे जीवन पर प्रकाश बहुत थोड़ा पड़ता है किन्तु इस पर जो प्रियादास की टीका है वह बड़ी विस्तृत है और उसके द्वारा भक्तमाल में जो कमी है उसकी पूर्ति हो जाती है। नाभादासजी तुलसीदासजी के समकालीन थे और इनसे तुलसीदासजी की भेंट होना भी बताया जाता है। इनका जन्म-संवत् १६५७ बताया जाता है। इनके दो ग्रन्थ और बताये हैं—एक अवधी में लिखा है और दूसरा व्रजभाषा में।

प्राणचन्द चौहान (रचनाकाल सं० १६६७) और हृदयरामजी—(रचनाकाल स० १६८०) ने भी रामचरित नाटक

के रूप में वर्णन किया है। ये काव्य कथोपकथन के रूप में होने के कारण नाटक कहे जाते हैं, अन्यथा इनमें नाटकीय-तत्व बहुत कम हैं। प्राणचन्द ने 'रामायण' महानाटक और हृदयराम ने संस्कृत हनुमन्नाटक की छायास्वरूप हिन्दी का हनुमन्नाटक लिखा है।

श्री रामचन्द्रजी के सम्बन्ध मे हनुमानजी की उपासना का भी महत्व हो गया था। हनुमानबाहुक, सङ्कटमोचन, हनुमान चालीसा आदि स्तोत्र-ग्रन्थ इसी प्रवृत्ति के फल हैं।

रीवाँ दरवार में रामानन्दी सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव रहा। वहाँ के विश्वनाथसिंह और रघुराजसिंह नरेश ने भी रामचरित सम्बन्धी सुन्दर काव्य-ग्रन्थ लिखे हैं। इन महानुभावों के अतिरिक्त अयोध्या के और कवियों ने भी राम सम्बन्धी काव्य लिखा किन्तु उसका विशेष महत्व नहीं है। अयोध्या के कुछ कवियों ने (जैसे श्री युगलानन्दशरणजी) राम का शृङ्गारी नायक के रूप में वर्णन किया है और यमुनातट की भाँति सरयू तट उनकी विहारस्थली बनाई है। उन पर कृष्ण भक्ति का प्रभाव है। वास्तव में तुलसीदास की काव्य-ज्योत्स्ना के आगे अन्य तारागणों का प्रभाव मन्दीभूत हो जाता है। राम-भक्ति सम्बन्धी कविता करने वालों में महाकवि केशव का भी नाम आया है। किन्तु उनकी प्रवृत्ति रीति-ग्रन्थ लिखने की ओर अधिक थी, अतः उनका वर्णन रीति-काल के कवियों के साथ ही किया गया है। आधुनिक युग में जो राम-काव्य का विकास हुआ है उसका वर्णन हम यथास्थान करेंगे।

कृष्ण-भक्ति शाखा

कृष्ण-भक्ति और गीत-काव्य—कृष्ण-भक्ति-शाखा का विकास प्रायः मुक्तक के रूप में ही हुआ है और अष्टछाप के भक्त-कवियों की सङ्गीत लहरी में ही हमको उसका पूरा पूरा आनन्द मिलता है। यद्यपि कुछ कवियों ने रामायण के अनुकरण में कृष्णचन्द्रिका लिख-

कर कृष्ण-चरित को प्रबन्ध-काव्य के रूप में लाने का उद्योग किया है तथापि वे लोग इस कार्य में यथेष्ट सफलता नहीं प्राप्त कर सके। (आजकल के युग मे श्रीद्वारकाप्रसाद मिश्र की कृष्णायन कुछ अधिक सफल हुई है। उन्होंने प्रवन्ध काव्य के उपयुक्त अवधी भाषा का प्रयोग किया है।) इसका यही कारण मालूम होता है कि यद्यपि कृष्ण-भगवान के लोक-रञ्जक और लोक-रक्षक दोनों ही रूप में लोगों की रुचि अधिक आकर्षित हुई तथापि लोग जितने गोपी-कृष्ण की ओर आकर्षित हुए उतने द्वारकाधीश की ओर नहीं। भगवान कृष्ण में ऐश्वर्य की अपेक्षा माधुर्य का प्राधान्य है, इसका सङ्गीत मय पदों में ही अच्छी प्रकार वर्णन हो सकता था। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के जीवन की-सी अनेक-रूपता में अष्टछाप के कवियों का मन न रम सका। इसी कारण प्रवन्ध काव्य के लिए वे उचित सामग्री उपस्थित करने में असमर्थ रहे।

प्रभाव—कृष्ण काव्य में दो प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित होते हैं (१) श्री वल्लभाचार्य (१५३५-१५८७) का वालकृष्ण की उपासना प्रधान भक्ति-पद्धति और (२) जयदेव, विद्यापति, चण्डीदास आदि भक्त कवियों की गीत-काव्य पद्धति। गीत-गोविन्द के रचयिता श्री जयदेवजी का 'गीत गोविन्द' गीत-काव्य का बड़ा सुन्दर ग्रन्थ है जो कि स्वर और ताल के साथ गाया जा सकता है। उन्होंने गीत-काव्य द्वारा स्त्री-पुरुष की साधारण प्रेमलीलाओं में सहज आकर्षण रखने वाले मनुष्यों के चित्त को अपनी कोमल-कान्त पदावली द्वारा राधाकृष्ण की दिव्य लीलाओं की ओर आकर्षित करना चाहा, विद्यापति और चण्डीदासजी ने इनका ही अनुकरण किया। चैतन्य महाप्रभु द्वारा बङ्गाल के इन गेय पदों का वृन्दावन में भी प्रचार हुआ। जयदेव ने विलास कला-कौतूहल की शक्कर के सहारे हरि स्मरण की औषधि को सांसारिक लोगों के गले के नीचे उतारना चाहा था। उनका कथन इस प्रकार है:—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो, यदि विलासकलासुकुतूहलम् ।
मधुर कोमलकान्तपदावलीं, शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम् ॥

कृष्ण भक्त शृङ्गारी कवियों के उद्दाम शृङ्गार वर्णन की यही सफाई है। उन्होंने मनुष्यों की रागात्मिक वृत्तियों का आश्रय लेकर भगवान का स्मरण कराया है। भक्तों का हृदय तो वासना कर्दम से अछूता रहा होगा (कुछ लोग उनके अवचेतन में वासना चाहे मानलें) क्योंकि भक्ति-भावना, वासना को दवाये रखती होगी, किन्तु इतर मनुष्यों के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। रीतिकाल में हरि-स्मरण तो नाम मात्र को रह गया किन्तु शक्कर की चाट पड़ गई। हरि स्मरण की रसायन की अपेक्षा विलास-कला-कौतूहल की चाशनी अधिक प्रिय लगी उन लोगों को, साधन ही साध्य बन गया।

वल्लभ सम्प्रदाय और अष्टछाप—सूरदासजी कृष्णभक्ति शाखा के प्रधान कवि हैं और ये महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य थे। उन्हीं की प्रेरणा से सूरदासजी ने भगवान के सगुण रूप का गान किया—'ऐसो घिघियात काहे को है, भगवत लीला वर्णन कर।' महाप्रभु वल्लभाचार्य ने वेदान्त सूत्रों का 'अणु भाष्य' लिखकर शुद्धाद्वैत का प्रचार किया। उन्होंने उपासना में बालकृष्ण की उपासना पर जोर दिया था। भक्ति पक्ष में ये लोग पुष्टिमार्गी कहलाते हैं। क्योंकि ये लोग भगवान के अनुग्रह द्वारा ही जिसको कि वे अपनी परिभाषिक भाषा में पुष्टि या पोषण कहते हैं, अपने शुद्ध ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त होना मानते है। 'पुष्टिस्तदनुग्रहः'

श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने पुष्टिमार्गी कवियों में से आठ प्रधान कवियों को चुन कर उनको अष्टछाप की संज्ञा दी है। अष्टछाप के आठ कवियों की नामावली इस प्रकार है:—

१—सूरदास, २—कुम्भनदास, ३—परमानन्ददास, ४—कृष्णदास, ५—छीतस्वामी, ६—गोविन्दस्वामी, ७—चतुर्भुजदास, ८—नन्ददास। इनमें से पहले चार आचार्य महाप्रभु के

शिष्य थे और शेष चार ने गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा ग्रहण की थी।

यद्यपि कृष्ण-भक्ति शाखा में वल्लभ-सम्प्रदाय के कवियों का प्राधान्य है तथापि अन्य कृष्णोपासक सम्प्रदायों ने भी कृष्ण-काव्य की श्रीवृद्धि करने में योग दिया है। उनका उल्लेख पीछे किया जायगा।

सूरदास जी

जीवन वृत्त—सूरदासजी की जन्म-भूमि रुनकुता ग्राम (रेणुका क्षेत्र) में बताई जाती है। यह स्थान आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क पर है। कुछ लोग इनका जन्म-भूमि दिल्ली के निकट सीही नामक ग्राम में बताते हैं। गोस्वामी-गोकुलनाथ कृत 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' के आधार पर इनको सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है और इनके पिता का नाम रामदास बताया जाता है। लेकिन डा० धीरेन्द्र वर्मा ने अपने 'विचार धारा' नाम के निबन्ध-संग्रह में जनता का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है कि वार्ता में इस बात का उल्लेख नहीं है। 'चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता' में सूरदासजी को गऊ घाट रहते बतलाया गया है—'सो गऊ घाट ऊपर सूरदास कौ स्थल हुतौ' यह गऊ घाट आगरा मथुरा की सड़क पर रुनकुता के पास है। सूरदासजी के सारस्वत होने की बात चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता पर तो नहीं किन्तु श्री हरिरायजी कृत भावप्रकाश पर, जो एक प्रकार से वार्त्ता की टीका है, निर्भर हो सकती है। उसमें लिखा है 'सो सूरदासजी दिल्ली के पास चारि कोस उरे में एक सीही गाम है, जहाँ राजा परीक्षित के बेटा जन्मेजय ने सर्पयज्ञ कियो है। सो ता ग्राम में एक सारस्वत ब्राह्मण के यहाँ प्रकटे।'

दूसरा मत यह है कि सूरदासजी ब्रह्म-भट्ट थे और चन्दवरदाई उनके पूर्व पुरुषों में से थे। यह मत साहित्य लहरी के एक पद पर अवलम्बित है। इनके पिता का नाम हरिश्चन्द्र था और ये सात भाई थे। जब इनके शेष छः भाई मुसलमानों के साथ युद्ध में मारे गये तब ये निरीह और नेत्रहीन अपने भाइयों की खोज में जाते हुए एक

दिन कुए में गिर पड़े और छः दिन तक वहीं रहे। सातवें दिन भगवान् कृष्ण ने इनको दृष्टि प्रदान कर अपने दर्शन कराये। किन्तु उन्होंने भगवान् के दृष्टि सम्बन्धी वर से लाभ उठाना नहीं चाहा और उनसे प्रार्थना की जिन नेत्रों से मैंने अपने भगवान् को देखा हैं उनसे और किसी को न देखूँ—फिर वे नेत्रहीन हो गये। इसी घटना के सम्बन्ध में एक दोहा प्रचलित है—

बाँह छुडाये जात हो, निबल जानि के मोहि।
हिरदे ते जब जाहुगे, मर्द बदोंगो तोहि॥

इस दोहे में एक अपभ्रंश दोहे की छाया मालूम पड़ती है, इसलिए इसके प्रामाणिक होने में सन्देह है।

एक किंवदन्ती ऐसी भी है कि सूरदासजी ने एक सुन्दरी द्वारा, जिस पर कि वे आसक्त हो गये थे अपने दोनों नेत्र फुड़वा लिये थे क्योंकि वे (नेत्र ही) इस अनुचित आसक्ति के लिए उत्तरदायी थे। इस सम्बन्ध में रवीन्द्र बाबू की लिखी हुई 'सूरदासेर प्रार्थना' नाम की एक बड़ी सुन्दर और भावपूर्ण कविता है।

जो कुछ भी हो यह बड़े भावुक पुरुष थे। इनकी कविता मे ऐसा मालूम होता है कि वे जन्मान्ध तो न थे क्योंकि उनके वर्णन ऐसे सजीव हैं कि ऐसा वर्णन कोई अन्ध पुरुष, जिसको कि निजी अनुभव न हो, नहीं कर सकता। उन्होंने बालकृष्ण के सोते हुए अधरपुट हिलाने का अथवा गोपिकादि की क्रीड़ादि का जो वर्णन किया है वह ऐसा नहीं है कि किसी से सुनकर लिख दिया गया हो। इसीके साथ-साथ जान-बूझकर आँखें फुड़वाने की बात भी घटना-सत्य नहीं जान पड़ती (यद्यपि इसमें काव्यगत सत्य बहुत कुछ है) यदि अपने आप आँख फुड़वाई होती तो वे भगवान् को अन्धे होने का उलाहना न देते।

मित्र सुदामा कौन अयाचक, प्रीति पुरानी जानि।
सूरदास सों कहा निठुरई, नैनन हू की हानि॥

जन्म और स्वर्गवास का संवत्

सूरदासजी का जन्म संवत् १५४० के आस-पास माना जाता है। 'साहित्य-लहरी' के एक दोहे में दिये हुये संवत् के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है। 'साहित्य,लहरी' संवत् १६०७ में बनी थी। इस सम्बन्ध में नीचे का दोहा प्रचलित है:—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरीनन्द को लिखि सुवल संवत् पेख ॥

इसका साधारणतया यह अर्थ लगाया जाता है मुनि = रसन = रस + न = शून्य, रस = ६, कविता के नौ रस होते हैं लेकिन भोजनों के षटरस ही प्रसिद्ध हैं। इसलिए कुछ लोग इस दोहे में रसन को रसना मानकर उसका अर्थ दो बताते है क्योंकि रसना के दो काम होते हैं— १—बोलना और २—आस्वादन करना। (देखिए मुन्शीराम शर्मा का 'सूर-सौरभ') 'दसन गौरी नन्द को' का अर्थ होता है—१, क्योंकि गणेशजी के एक ही दांत था। 'अंकानां वामतो गतिः' के न्याय से इसका अर्थ होता है–१६०७। और मुन्शीराम जी के अनुसार होता है—१६२७ सूर-सारावली जब बनी थी तब उनकी अवस्था सड़सठ वर्ष की थी (गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन)। यह दोनों पुस्तकें एक ही समय की मान ली जायं तो यह संवत् (१५४० ठीक बैठता है।

कॉंकरौली विद्या-विभाग से प्रकाशित प्राचीन-वार्ता रहस्य में लिखा है कि निजीवार्त्ता के अनुसार महाप्रभु श्री वल्लभाचार्य तथा सूरदासजी का जन्म संवत् एक ही है। इस हिसाब से जन्म संवत् १५३५ होता है। सम्भव है दोनों पुस्तकों अर्थात् साहित्य-लहरी और सूर सारावली के निर्माण में पॉंच वर्ष का अन्तर हो, सूर-सारावली पॉंच वर्ष पहले बनी हो।

संवत् १६२० के लगभग पारसौली नामक ग्राम में इन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। उस समय श्री विट्ठलनाथ जी उपस्थित थे,

और उनकी उपस्थिति में सूरदासजी ने निम्नलिखित पद गाया—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसय चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते॥
उड़ि उड़ि जात निकट स्रवननि के उलट-पलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके नतरु अबहिं उड़ि जाते॥

ग्रन्थ—सूरदासजी कृत पाँच ग्रन्थ बताये जाते हैं:—

१—सूर-सागर, २—सूर-सारावली, ३—साहित्य-लहरी, ४—नल दमयन्ती, ५—ब्याहलो।

पिछले दो ग्रन्थ अप्राप्य हैं और उनके सूर-कृत होने मे भी सन्देह है। सूरसागर श्रीमद्भागवत् की काव्यमयी छाया है, किन्तु अनुवाद नहीं है।* यह छाया सूर की भावुकता के साथ कहीं घटी हुई तो कहीं बढ़ी हुई दिखाई पड़ती है। इसमें दशम स्कन्ध में वर्णित श्रीकृष्ण लीलाओं का सु-मधुर और स-विस्तार वर्णन है और वह श्रीमद्भागवत् से अधिक विशद है, शेष स्कन्धों का वर्णन बहुत ही संक्षिप्त और चलता हुआ मिलता है। सूरसागर ही सूरदासजी की मुख्य कृति है। सूरसागर वास्तव मे सागर ही है। वह सवा लाख पदों का बताया जाता है, यद्यपि आजकल जो प्रतियाँ मिलती हैं उनमें चार या पाँच हजार ही पद पाये जाते हैं। सूरदास जी ने कुछ दृष्टिकूट भी लिखे हैं जिनमें कुछ अलङ्कार और नायिका भेद भी आ जाता है।

रस—सूरदासजी की कविता में यद्यपि सभी रसों का पुट मिलता है तथापि उसमें शृङ्गार, वात्सल्य और शान्त की ही मुख्यता है। ये तीनों रस मनुष्य जीवन की तीनों अवस्थाओं से सम्बन्ध रखते हैं। वात्सल्य का सम्बन्ध बाल्यावस्था से है, शृङ्गार का यौवनावस्था से और शान्त का वृद्धावस्था से। शृङ्गार वर्णन में वे किसी कवि से पीछे

* इसका पूरा विश्लेषण डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा की 'विचार धारा' में मिलेगा।

नहीं है। वात्सल्य रस के सम्बन्ध मे यह निश्चयपूर्वक कहा जासकता है कि कोई उनकी छाया भी नहीं छू पाता और शान्त रस मे वे शायद तुलसी से पीछे रह जाते हैं किन्तु बहुत पीछे नहीं। उनकी विनय में एक निजीपन है जो उसे एक विशेष माधुर्य प्रदान कर देता है। 'सूरदास द्वारे टाडो आँधरो भिखारी' में उनकी अवस्था से सामञ्जस्य रखता हुआ कैसा दैन्यभाव है!

उनका वात्सल्य वर्णन एक प्रकार से बालमनोविज्ञान का माधुर्य पूर्ण अध्ययन है। भगवान् कृष्ण की बाल-लीलाओं का ऐसा सुन्दर सरल और सरस वर्णन है कि पृथ्वी पर स्वर्ग अवतरित हो जाता है। यद्यपि सूर ने कृष्ण को 'हरि' कहकर उनका देवत्व स्वीकार किया है तथापि ये वर्णन ऐसे हैं कि बिना भक्ति-भावना वाला मनुष्य भी उनको पढ़कर भावमय हो जाता है और सूर के स्वर मे स्वर मिला कर कह सकता है कि 'जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नद भामिनि पावै।'

सूर का शृङ्गार वर्णन भी बड़े महत्व का है। उसमे कवि-परम्परा का पालन मात्र नहीं है वरन् उसमें जीवन की सजीवता और पूर्णता लक्षित होती है। कृष्ण और गोपियों का शृङ्गार एक व्यापक जीवन का अङ्ग बन जाता है। इसलिए उनका वियोग एक विशेष तीव्रता धारण कर लेता है। सूर का भ्रमर-गीत वियोग शृङ्गार का ही उत्कृष्ट ग्रन्थ नहीं है वरन् उसमे सगुण और निर्गुणवाद का भी सुन्दर काव्य-मय विवेचन है। गोपियों के व्यंग्य और उपालम्भ उनकी सजीवता के परिचायक हैं। यद्यपि श्रीकृष्णजी ब्रज से अधिक दूर न थे और न प्रेमी और प्रेमिकाओं की किसी प्रकार से जान खतरे में थी तथापि वे राजनीति के चक्कर मे पड़कर तथा कुब्जा के प्रभाववश गोपियों से कुछ उदासीन से हो गये थे। 'हरि राजनीति पढ़ि आये' स्थान को दूरी का प्रश्न न था, मन की दूरी अखरती थी। मेंढक जल में रह कर भी कुमु-दिनी से दूर है और चन्द्रमा दूर रह कर भी उसके पास है। इसी कारण गोपियों के विरह की सार्थकता है।

भाषा—सूर की भाषा साहित्यिक ब्रज-भाषा है जिसमें कहीं-कहीं संस्कृत का भी पुट है किन्तु बहुत अधिक नहीं है। कहीं-कही चलन से उतरे हुए ब्रज भाषा के ठेठ ग्रामीण शब्द आगये हैं। उनकी भाषा में माधुर्य गुण पूर्णतया निभाया गया है। सूर के शब्दों में बड़ी सुन्दर व्यञ्जना रहती है। योग का निरस्कार करने के लिए उसे 'मोट' और 'खेप' कहा है, जिससे एकदम उसकी अल्प-मूल्यता, स्थूलता और निरर्थकता का चित्र उपस्थित हो जाता है। सूर ने मुहावरों का भी बड़ा सार्थक प्रयोग किया है' (खोटी खाई', 'न्हात खसे जनि वार')।

सूर की भाषा में पूर्वी प्रयोग जैसे मोर, हमार, कीन आदि भी यत्र-तत्र मिलते हैं। कहीं-कहीं गहिबी, आदि बुन्देलखण्डी प्रयोग भी आ गये हैं। एक आध पञ्जावी शब्द भी जैसे प्यारी, मँहगी के अर्थ में आगया है।

सूर और तुलसी की भक्ति-भावना

जैसा कि ऊपर कहा गया है सूरदासजी की दीक्षा वल्लभ-सम्प्रदाय की है। उनकी उपासना बालकृष्ण की थी और भक्ति सखा भाव की। कुछ लोग उनको उद्धवजी का अवतार भी मानते हैं। इस आधार पर श्रद्धेय मिश्र बन्धुओं का यह विचार है कि सूरदासजी बड़े अक्खड़ थे, इसलिए वे अपने भगवान् को गोपियो के मुख से खरी-खोटी कहलाने मे नही चूके। मिश्र वन्धुओं ने इनके मुकाबिले तुलसीदासजी को चापलूस ठहराया है। आचार्य शुक्लजी ने इस मत का थोड़ा विरोध किया है। जिन प्रसङ्गों में भगवान् को खरी-खोटी सुनायी गयी है वे शृङ्गार और वात्सल्य के हैं। उनमें प्रेमाधिक्य के कारण खरा-खोटा कहा ही जाता है। यशोदा के लिए तो मथुरा में पराक्रम दिखाने वाले कृष्ण 'छगन मगन' और ललित लढैते' ही बने रहते हैं। इसमें अक्खड़पन की कोई वात नहीं है। तुलसीदासजी की भक्ति-भावना में दास्य-भावना

का प्रभाव ऐसा बढ़ा-चढ़ा है कि वे उन प्रसङ्गों को आने ही नहीं देते जिनमें कोई खरी-खोटी कहे। उनका शृङ्गार बड़ा मर्यादित है, उसमें उपालम्भ की गुञ्जाइश नहीं रहती, रामचन्द्रजी की हीनता दिखाये जाने ही के भय से उन्होंने लवकुश काण्ड नहीं लिखा। तुलसी का वात्सल्य भी कहीं-कहीं अवश्य उनकी दास्य-भावना से प्रभावित हो गया है। सूरदासजी ने जहाँ विनय की है, वहाँ दीनता और हीनता दिखाने में तुलसीदासजी से पीछे नहीं हैं।* देखिए:—

"प्रभु मैं सब पतितन को टीकौ"

× × ×

"जैसे ही राखौ तैसेहि रहिहौं॥"

× × ×

'कमल नयन घनश्याम मनोहर अनुचर भयौ रहौं।
सूरदास प्रभु जगत कृपानिधि अनुचर चरन गहौं॥"

सूरदासजी अनुचर अवश्य थे, पर घर के मुँह लगे अनुचर थे—

'तुम प्रताप बदत न काहू निडर भये घर चेरे।'

इसलिए कहीं-कहीं वे भगवान् से अकड़ जाते हैं और उन्हें 'विरद-विनु' करने की धमकी देते हैं। तुलसीदासजी भी उपालम्भ देते हैं किन्तु मर्यादा के भीतर। उनके उपालम्भों से भी उनकी अनन्यता प्रकट होती है—

दूबरे कौ दूसरौ न द्वार राम दया धाम,
रावरी ही गति बल-विभव-विहीन की।

जब बेचारे इतना कह लेते हैं तब कहीं विरद को लज्जा आने की बात उठाते हैं—

---

* इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि सूर ने दीनता के पद महाप्रभु वल्लभाचार्य्य से दीक्षा लेने के पूर्व लिखे। उसके बाद उनकी उपासना सखा-भाव की हो गई।

लागैगी पै लाज व विराजमान विरुदहि.
महाराज आज जो न देत दाद दीन की।

तुलसीदासजी से चापलूसों की सी हृदय की बेईमानी कोसों दूर थी। जो कुछ लिखा दैन्य और सेवक भाव से लिखा और सच्चे हृदय से। तुलसीदासजी अपने मर्यादावाद के कारण अपने इष्टदेव में अनन्य भक्ति रखते हुए भी दूसरे देवताओं की अधिक बुराई नहीं करते किन्तु सूरदास और देवताओं की बुराई करने में नहीं चूकते—

'और देव सब रंक-भिखारी, त्यागे बहुत अनेरे।'

तुलसी की भक्ति-भावना नीति समन्वित थी। सूर ने नीति की अवहेलना की है। तुलसी के मर्यादावाद ने उसका साथ कहीं नहीं छोड़ा है।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि सूर अपने इष्टदेव के माधुर्य के उपासक थे और तुलसीदासजी उनके ऐश्वर्य के। इसी अन्तर के कारण सूर और तुलसी के वात्सल्य वर्णन में अन्तर पड़ जाता है। तुलसीदासजी गीतावली के वात्सल्य वर्णन में सूर के बहुत निकट पहुँच जाते हैं। उन्होंने राम-लक्ष्मण के बाल-विनोद का अच्छा वर्णन किया है किन्तु वे यह नहीं भूल सकते कि राम और लक्ष्मण राजकुमार हैं। बाल्यावस्था की चपलता, समता की भावना एवं स्वतन्त्रता ही तो उस अवस्था में आकर्षण उत्पन्न करती है। तुलसी के राम की चपलता मर्यादित है, वे गुरू से थोड़ी देर अलग रह कर चपलता कर लेते हैं, फिर फौरन उनके साथ हो जाते हैं। वे प्रायः राजकुमारों के साथ खेलते हैं। 'खेलत में को काको गुसैयाँ' की-सी बाल-गोपालों की स्वातन्त्र्यभावना उनमें नहीं है।

कुछ विशेषताएँ—

सूर-काव्य की विशेषताएँ मिश्रबन्धुओं के शब्दों में इस प्रकार बतायी जा सकती हैं:—

(१) अटलभक्ति—कर्म-भेद, जाति-भेद सबके ऊपर है।

(२) भाषा—शुद्ध ब्रजभाषा है। बड़ी ही ललित और श्रुति-मधुर है। मीलित वर्ण बहुत कम हैं। उसमें माधुर्य और प्रसादगुण प्रधान है। कहीं यमक आदि के लिए भाव नहीं बिगड़े। इनके पद अर्थ गम्भीरता से भरे हुए हैं। संस्कृत के पद बहुतायत से नहीं रक्खे।

(३) प्रबन्धध्वनि—अपनी कविता में पुराने आख्यानों और कथाओं का हवाला बहुत स्थानों पर दिया है।

(४) प्रत्येक वस्तु का साँगोपांग वर्णन करते हैं, और कवियों के लिए बहुत गुञ्जाइश नहीं छोड़ते।

(५) सूरदास ने स्थान-स्थान पर नायिका-भेद भी दिया है परन्तु रीति-ग्रन्थों की भाँति नहीं।

(६) सत्सङ्ग तथा प्रीति आदि विषयों का वर्णन भी अच्छा है।

(७) सूर ने स्थान-स्थान पर कूट भी लिखे हैं।

(८) लोगों का शील-गुण भी अच्छा दिखलाया है, जैसे यशोदा।

नन्ददास—गोस्वामी गोकुलनाथजी ने अपने चौरासी वैष्णवों की वार्ता में, इनको गोस्वामी तुलसीदासजी का भाई बताया है। गोस्वामीजी के ही अनुकरण में इन्होंने श्रीमद्भागवत् की कथा पद्य में लिखी है। नन्ददास के ही साथ वृन्दावन जाने पर तुलसीदासजी ने श्रीकृष्ण की मूर्त्ति के सामने यह प्रसिद्ध दोहार्द्ध कहा था—

'तुलसी मस्तक तब नवैं, धनुष बान लेउ हाथ'

तुलसीदास और नन्ददास के भाई-भाई होने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है। तुलसीदासजी के भाई होने की बात चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता पर अवलम्बित है। 'भक्तमाल' में इनको चन्द्रहास का भाई कहा है और गुसाईं चरित में इनको तुलसीदासजी का गुरु भाई बताया गया है। 'सिच्छा गुरु बन्धु भये तिहिते'। इसलिए यह बात अनिश्चित-सी हो जाती है। अष्टछाप के सभी कवियों में सूरदास को

छोड़ कर इनकी अधिक प्रसिद्धि है। इनके लिए कहा जाता है—"नन्ददास जड़िया और कवि गढ़िया।" इन्होंने एक-एक पद को काट छाँट कर उस नगीने का-सा सौन्दर्य प्रदान किया है। इनकी रास-पञ्चाध्यायी बहुत प्रसिद्ध है। इसमें भगवान की रास लीला का बड़ा सुन्दर, प्रवाहमय और सजीव भाषा में वर्णन है। उसकी उत्साहपूर्ण गति का चित्र-सा हमारे सामने उपस्थित हो जाता है, देखिए—

छवि सों नित्तंनि, पटकनि, लटकनि, मंडल डोलनि।
कोटि अमृत सम मुसकनि, मँजुलता थेई-थेई बोलनि॥

इसी प्रकार नन्ददासजी के ध्वनि के भी सुन्दर चित्र दिये हैं, देखिए—

नूपुर, कङ्कन किंकिनि करतल मँजुल मुरली।
ताल, मृदङ्ग, उपङ्ग चङ्ग एकहि सुर जुरली॥
मृदुल मुरज-टङ्कार, तार-झकार मिली पुनि।
मधुर जन्त्र की तार, भँवर गुँजार रली पुनि॥

पहले उद्धरण मे नन्ददास टवर्ग प्रधान ओज गुण को भी शृङ्गार का सहायक बनाने में सफल हुए हैं। गोपियों के दैन्य दिखाने मे कवि ने अलङ्कारों के आडम्बर से सरल भाषा द्वारा भवभूति की करुणा को भी लज्जित-सा कर दिया है। 'कइ घटि जैहै नाथ! हरत दुख हमरे हिय के।' इस एक पंक्ति मे अपार करुणा के साथ दैन्य मिश्रित है।

नन्ददासजी ने रास पञ्चाध्यायी को लौकिक शृङ्गार वर्णन के रूप में नहीं लिखा है। वे रासलीला को गोलोक की नित्य लीला का ही अङ्ग मानते हैं। 'नित्य रास रमनीय नित्य गोपीजन वल्लभ,' इस दृष्टिकोण से कम से कम भक्तों के लिए, नन्ददास के शृङ्गारिक वर्णनों की ऐन्द्रिकता उद्वेगजनक नहीं होती। लौकिक दृष्टि से भी रास पञ्चाध्यायी के वर्णन बड़े सजीव और सरस हैं। इनकी भाषा में अनुप्रास और पद-विन्यास का विशेष सौन्दर्य है। सूरदास ने चलती हुई भाषा का

स्वाभायिक माधुर्य दिखाया है और उन्होंने उसे शब्दालङ्कारों से विभूषित कर दिया है।। पंचाध्यायी के अतिरिक्त १—भ्रमर-गीत, २—अनेकार्थ-मञ्जरी, ३—अनेकार्थ-माला, ४—रस-मञ्जरी, ५—स्याम-सगाई, ६—रुकमिनि मंगल आदि नन्ददास जी के बहुत से ग्रन्थ प्रयाग विश्व-विद्यालय के संग्रह में प्रकाशित हो गये हैं। इनमें भ्रमर-गीत अधिक लोक-प्रिय है। इसमे भावुकता की अपेक्षा तार्किकता का प्राधान्य है। इसकी गोपियों मे बुद्धि-वाद का बाहुल्य है। देखिए—

जो उनके गुन नाहिं और गुन भये कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमें, मोहि तुम कहो कहाँ ते॥
वा गुन की परछाँह ही, माया दर्पन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भये, अमलवारि मिल कीच॥
सखा सुन श्याम के।

अन्त में छोटी पंक्ति नन्ददास के भ्रमर-गीत की विशेषता है, इस का सत्यनारायणजी ने अपने भ्रमर-दूत मे बड़ी स[illegible]तापूर्वक अनुकरण किया है।

परमानन्ददास—रचना के विस्तार और काव्य की उत्कृष्टता की दृष्टि से अष्ट छाप के कवियों मे इनका स्थान बहुत ऊँचा है। ये कन्नौज के रहने वाले थे और इनका जन्म सं० १५५० में हुआ था। गोस्वामी विट्ठलनाथ की दीक्षा लेने से पूर्व यह भी सूरदास जी की भांति शिष्य और सेवक बनाते थे और स्वामी कहलाते थे। बाल्य-काल से ही इनकी रुचि भगवत् भक्ति की ओर थी और इन्होंने विवाह नहीं किया। इनके रचे हुए छः ग्रन्थ बतलाये जाते है।

१—परमानन्द सागर।

२—परमानन्द दास जी को पद।

३—दान लीला।

४—उद्धव लीला।

५—ध्रुव चरित्र ।

६—संस्कृत रत्न माला ।

यद्यपि इन्होंने भगवान कृष्ण की बाल लीला का विशद वर्णन किया है तथापि इनके विरह वर्णन सम्बन्धी पद बड़े उत्कृष्ट माने जाते हैं । एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :—

ब्रज के विरही लोग विचारे ।
—बिन गोपाल टगे से ठाडे, अति दुर्बल तन हारे ।
मात जसोदा पथ निहारत, निरखत सांझ सकारे ॥
जो कोउ कान्ह-कान्ह कहि बोलत, अँखियन बहत पनारे ।
ये मथुरा काजर की रेखा, जे निकसे ते कारे ।
"परमानन्द स्वामी" बिन ऐसे जैसे चदा बिनु तारे ॥

कृष्णदास—ये जाति के शूद्र थे । महाप्रभु वल्लभाचार्य के शिष्य और कृपापात्र होने के कारण मन्दिर के मुखिया बन गये थे । इनके "जुगल मान चरित" के अतिरिक्त "भ्रमर-गीत" और "प्रेमतत्त्व निरूपण" नाम के दो और ग्रन्थ बताये जाते हैं ।

अष्टछाप के अन्य कवि—अष्टछाप के प्रायः सभी कवि अपनी अनन्यता और तन्मयता के लिए प्रसिद्ध हैं । ये लोग अच्छे गायक थे और ब्रजभाषा पर पूर्ण अधिकार रखते थे । ये लोग हृदय की अनुभूति से प्रेरित हो अपने भावों को सङ्गीतमयी भाषा में अभिव्यञ्जित करते थे । इनकी रचनाएँ स्वान्तःसुखाय होती थीं । ये राज्याश्रय नहीं चाहते थे । अकबर बादशाह के निमन्त्रण देने पर कुम्भनदासजी को फतहपुर सीकरी जाना पड़ा था किन्तु राज-दरबार मे जाना उनकी रुचि के अनुकूल न था । नीचे के पद से प्रकट होता है कि उनको दरबार में जाने से कितनी ग्लानि हुई थी—

सन्तन कहा सीकरी सों काम ।
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयौ हरि-नाम ।
जिनको मुख देखत दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम ॥

छीत स्वामी ने बीरबल द्वारा गोस्वामी विट्ठलनाथ के देवत्व में संदेह प्रकट किये जाने पर उनकी पुरोहित वृत्ति त्याग दी थी। वे इतने भावुक थे कि जमुना जल में पैर देने के अपराध के भय से इसमें प्रवेश नहीं करते थे। रेती में लोटा करते थे और कूए के जल से नहाते थे।

अष्टछाप के कवियों की वाणी में भगवद्भक्ति के अतिरिक्त श्रीकृष्ण के चरणारविन्द से पवित्र की हुई ब्रजभूमि के प्रति भी विशेष श्रद्धा प्रकट होती है।

'हे।विधना तो सो अचरा पसारि मांगों,
जनम जनम दीजो मोहि याही ब्रज बसिवो'।

गोविन्द स्वामी तो ब्रज को छोड़कर वैकुण्ठ भी नहीं जाना चाहते-

कहा करें वैकुण्ठहि जाय।
जहँ नहिं कुंज लता, अलि, कोकिल मद सुगंध न वायु बहाय।
नहिं वहां सुनियत स्रवनन वशी धुनि,कृष्ण न मूरत अधर लगाय॥
सारस, हंस मोर नहिं बोलत, तहँ को बसिवो कौन सुहाय।

ज की महिमा के साथ वहा के प्राकृतिक वर्णन का दृश्य भी अच्छा है।

अन्य सम्प्रदायों के कृष्ण-भक्त कवि

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अष्टछाप के कवि वल्लभ-सम्प्रदाय के थे। इसके अतिरिक्त चार और वैष्णव-सम्प्रदायों की मुख्यता दी जाती है। वे इस प्रकार हैं:—

१—राधावल्लभीय सम्प्रदाय, २—गौड़िया सम्प्रदाय, ३—टट्टी सम्प्रदाय, ४—निम्बार्क सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायो ने भी बड़े-बड़े रसिक और भावुक कवियों को जन्म दिया है। उनमें से कुछ क उल्लेख किया जाता हैं।

श्री हितहरिवंश (रचनाकाल १६००–१६४०)—ये राधावल्ला भीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक थे और इनका जन्म मथुरा के निकट वाद

ग्राम में हुआ था। कहा जाता है कि स्वयं राधिकाजी ने ही इनको मन्त्र दीक्षा दी थी। इनके सम्प्रदाय में राधिकाजी को स्वयं भगवान से भी अधिक प्रधानता दी जाती है क्यों कि भगवान अपनी प्रकृति के ही वशीभूत रहते हैं। इनके 'हितचौरासी' नाम के चौरासी पद भाषा के संगीतमय प्रवाह और माधुर्य के कारण बहुत ही श्रेष्ठ और आकर्षक हैं। अपनी रचना के माधुर्य के कारण ये श्रीकृष्ण की वंशी के अवतार कहे जाते हैं। इन्होंने 'राधा-सुधा-निधि' नामक एक संस्कृत का ग्रन्थ भी लिखा है। ध्रुवदासजी और वृन्दावन चाचा भी इन्ही के सम्प्रदाय के थे

हितहरिवंशजी की कविता का एक उदाहरण यहां दिया जाता है—

आजु वन नीको रास बनावो।
पुलनि पवित्र सुभग जमुना-तट, मोहन वेनु वजायो।
कल कङ्कन किंकिनि नूपुर-धुनि, सुनि खगमृग सचुपायौ॥
जुवतिन-मण्डल मध्य श्यामघन, सारंग राग जमायौ।
ताल मृदंग उपंग मुरज ढफ मिलि रस-सिन्धु बढ़ायौ॥
× × × ×
अभिनय निपुन लटकि लटि लोचन, भृकुटि आनन्द नचायो।
ततथेई-ततथेई धरति नवल गति, पति ब्रजराज रिझायो॥
सकल-उदार नृपति-चूड़ामणि, सुख-बारिद बरसायो।
× × × ×
हित हरिवंश रसिक राधापति जस-वितान जग छायो॥
× × × ×

गदाधर भट्ट—ये गौड़िया सम्प्रदाय के कवियों मे प्रमुख हैं। ये दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे और संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी भाषा में संस्कृत का प्रभाव अधिक दिखाई पड़ता है। इन्होंने श्रीकृष्णजी की वन्दना के साथ नन्द और यशोदा की भी वन्दना की है। इन्होंने होली तथा झूला झूलने के बड़े सजीव वर्णन किये हैं। देखिए—

मिलि खेलें फाग वल्लभी वाला।
संग खरे रस रंग भरे नवरंग त्रिभंगी लाला॥
बाजत बाँसुरि-चंग उपंग पखावज आवज ताला।
गावत गारी दे दे ब्रजनारी मनोहर गीत रसाला॥
सींचत रंगनि अंग भरे बढ्यो प्रेम प्रवाह विशाला।
नैन सैन खुर-रेनु उडी नभ छायौ अबीर गुलाला॥

'ललित किशोरी' और 'ललित-माधुरी' जिन महानुभावों का वृन्दावनस्थ मन्दिर साहजी साहब के मन्दिर के नाम से प्रख्यात है, इस सम्प्रदाय के अच्छे कवि हैं। श्री हरिराम व्यास का भी कुछ दिनों गौड़िया सम्प्रदाय से सम्बन्ध रहा। ब्रज के प्रति इन भक्तों की बड़ी श्रद्धा थी।

ऐसे ही बसिये ब्रज वीथिन।
साधुन के पनवारे चुनि-चुनि उदर पोषिये सीथिन॥
घूरिनि में के बीन चिनगरा रच्छा कीजै सीतिन॥

हरिदास—ये महाशय पहले तो निम्वार्क सम्प्रदाय के थे, फिर इन्होंने स्वतन्त्र टट्टी सम्प्रदाय के नाम से एक मठ स्थापित किया। ये गाने में बड़े निपुण थे और स्वयं तानसेन के भी गुरु थे। इनका काव्य सङ्गीत में बँधा हुआ और राग-रागनियों में गाने योग्य है।

वैसे तो हिन्दी-साहित्य में कृष्णोपासना की भरमार रही है और अनेकों कवियों ने कृष्ण और राधा की प्रेमलीलाओं का वर्णन किया है किन्तु कृष्ण भक्ति से सम्बन्ध रखने वाले कवियों मे नीचे लिखे कवियों का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है—मीरा, रसखान और घनानन्द।

मीरा—इनका जन्म जोधपुर राज्यान्तर्गत मेड़ते में हुआ था। 'क्षत्रि-वंश जन्म मम जानौ नगर मेड़ते आना।' जोधपुर राज्य के बसाने वाले राव जोधाजी इनके प्रपितामह थे। ये रत्नसिंह की पुत्री

थीं। इनको बालकपन से ही गिरधरलालजी का इष्ट हो गया था और ये अपने को उन्हीं से विवाहित समझती थीं। इनका सांसारिक विवाह भोजराजजी से हुआ था। किन्तु थोड़े दिन के पश्चात् इनके पतिदेव की मृत्यु हो गई। ये साधुओं के सत्संग में अपना जीवन व्यतीत करना चाहती थीं। किन्तु इनके घर के लोग इस बात से नाराज थे। कहा जाता है कि इनको भगवान के चरणामृत के धोखे विषपान कराया गया था—किन्तु उसका कुछ असर न हुआ। 'राणाजी ने भेजा विष का प्याला सा अमरत कर पीज्यो जी'। तुलसीदासजी से इनका पत्र व्यवहार होना भी बतलाया जाता है। गोस्वामीजी का निम्नलिखित पद इनके ही पत्र के उत्तर मे लिखा हुआ कहा जाता है—

जाके प्रिय न राम बैदेही।

तजिये ताहि कोटि वैरी सम यद्यपि परम सनेही॥

इस घटना की वास्तविकता मे लोग सन्देह करते हैं। तुलसी के जीवन के सम्बन्ध में हम इस बात का विवेचन कर चुके हैं। मीरा के बनाये हुए चार ग्रन्थ कहे जाते हैं—

१—नरसीजी का मायरा, २—गीत गोविन्द टीका, ३—राम गोविन्द और ४—राग सोरठ के पद।

इनकी वाणी का गुजरात में बहुत आदर है। इनके पद कुछ राजस्थानी में हैं और कुछ शुद्ध ब्रज भाषा में। जो पद इन्होंने लिखे हैं वे तन्मयता से भरे हुए हैं। इनकी प्रेम-पीडा में निजीपन अधिक है। इन्होंने गोपियों का विरह-वर्णन न कर स्वयं अपना विरह निवेदन किया है। इनके पदों से इनकी तीव्रानुभूति का परिचय मिलता है। मीरा ने अपनी तन्मयता के ही कारण इतनी ख्याति प्राप्त की है और हृदय की तीव्र सवेदना के कारण ही इनकी वाणी नें इतना बल आ सका है।

मीरा के दो पद नीचे दिये जाते हैं:—

बसौ मेरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनि मूरति साँवरि सूरति नैना बने बिसाल।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दिए भाल।
अधर सुधारस मुरली राजति उर बैजन्ती माल॥
छुद्र घन्टिका कटि-तट सोभित नूपुर शब्द रसाल।
मीरा प्रभु सन्तन सुखदाई भक्त बछल गोपाल॥

* * * *

स्याम, मने चाकर राखो जी।
गिरधारीलाल चाकर राखो जी॥
चाकर रहसू, बाग लगासूँ नित-उठ दरसन पासू।
चाकरी मे दरसन पाऊँ सुमिरण पाऊँ खरची।
भाव भगति जागीरी पाऊँ, तीनूँ बाताँ सरसी॥

* * * *

हरे-हरे नित बाग लगाऊँ बिच-बिच राखूँ क्यारी।
साँवरिया के दरसन पाऊँ पहर कुसुम्भी सारी॥

दूसरे पद मे मीरा का निजी उत्साह झलक रहा है। इसीकी छाया लेकर कवि सम्राट रवीन्द्रनाथ बाबू ने अपनी Gardener नाम की कविता की, जिसमें बागबान रानी से उसके यहाँ नौकरी करने की प्रार्थना करता है। वेतन पूछे जाने पर वह कहता है, एक माला नित्य समर्पित करने का अधिकार—मीरा के 'सुमिरण पाऊँ खरची' (जेब खर्च) का ही भाव है।

रसखान—ये हिन्दी के मुसलमान कवियों में बहुत प्रसिद्ध हैं। ये जाति के पठान थे और इनका शाही खानदान से भी सम्बन्ध था। (छिनहि बादिसा-वंस की ठसक छाँड़ि रसखान)। इन्होंने वल्लभ सम्प्रदाय में गोस्वामी विट्ठलनाथजी से दीक्षा ली थी। इनका उल्लेख दोसौ बावन वैष्णवन की वार्ता में हुआ है। प्रारम्भिक जीवन में ये एक लड़के पर आसक्त थे। किन्तु पीछे से इनका भौतिक-प्रेम कृष्ण-

प्रेम में परिणत हो गया। इनकी दो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं 'प्रेम-बाटिका' (इसका रचना-काल १६७१ वि० है) और 'सुजान रस-खान'। इन्होंने अपने ग्रन्थो में प्रेम का बहुत ही सुन्दर स्वरूप दिया है। इन्होंने एकाङ्की और निस्वार्थ प्रेम को ही प्रेम का आदर्श माना है।* इन्होंने गेय पद न लिख कर ऐसे सुन्दर कवित्त और सवैये लिखे हैं कि इनकी सुन्दरता के कारण सवैया रसखान के ही नाम से पुकारे जाने लगे। वास्तव में इनके सवैया रस की खान हैं। रसखान में चलती हुई शुद्ध ब्रजभाषा का अच्छा नमूना मिलता है। इन्होंने अपनी कविता में चलन से बाहर के शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। इनका ब्रजभूमि से बड़ा प्रेम था। नीचे के सवैया में इनका प्रेम लबालब भरा हुआ दिखलाई पड़ता है:—

मानुष हौं, तो वही रसखान, बसौं ब्रज-गोकुल-गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं, तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं, तौ वही गिरि कौं, जु धरयो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौ तो बसेरो करौं, मिल कालिन्दी-कूल कदंब की डारन॥

इनके उपालम्भ बड़े सुन्दर हैं, देखिए:—

दानी भए नए माँगत दान,
सुनैं जु पै कंस तो बाँधि के जैहौ॥
रोकत हौ मग में 'रसखानि'
पसारत हाथ घनौ दुख पैहौ।
टूटै छरा बछारादिक गोधन,
जो धन है सु सबै धन दैहौ।
जैहै अभूपन काहू सखी कौ,
तो मोल छला के, लला न बिकैहौ॥

---

* इकअंगी, बिन कारनहिं, इक रस सदा समान।
गनै प्रियहिं सर्वस्व जो, सोई प्रेम प्रमान॥

रसखान भी सूरदासजी की भाँति वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित थे और सखा भाव की उपासना करते थे। तभी तो उनके इन उपालम्भों में इतनी स्वतन्त्रता और अक्खड़पन की भावना है।

भारतेन्दुजी ने ठीक कहा है 'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिन्दू वारिए'।

घनानन्द—यद्यपि काल-विभाग से इनकी गणना रीति काल के कवियों में की जाती है तथापि इनका कृष्णोपासक भक्त कवियों के साथ उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा। नकी कविता में रीतिकाल के कवियों की अपेक्षा निजीपन और हृदय का उल्लास अधिक था। इनमे भक्तों की रु याग-वृत्ति भी थी। इनका जन्म सं० १७४६* के लगभग हुआ था और ये स० १७९६ मे नादिरशाह के सिपाहियो के हाथ से मारे गये थे। ये मुहम्मदशाह के मीर मुन्शी थे। सुजान नाम की एक वेश्या पर आसक्त थे। इनकी कविता में सुजान का नाम वहुतायत से मिलता है। इन्होने वहुत सुन्दर कवित्त सवैये लिखे हैं। फुटकर सवैयों के अतिरिक्त सुजानस ़, विरहलीला, कोक सार, रस-केलि-वल्ली और कृपा-काण्ड नामक ग्रन्थों का और पता लगता है। ये निम्वार्क सम्प्रदाय दीक्षित थे।

विशुद्ध व्रजभाषा लिखने इनका नाम रसखान के साथ लिया जाता है। इनकी भाषा मे विदग्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य भी है। इन्होने विरह के छन्द अच्छे लिखे हैं। इनके विरह वर्णन के सम्वन्ध मे आचार्य शुक्लजी का इस प्रकार कथन है—

'ये वियोग-शृङ्गार के प्रधान मुक्तककार कवि हे'। 'प्रेम की पीर' ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। इनके भावों मे स्वाभाविक मृदुलता और कोमलता है, उद्वेग और भड़कन नहीं। इनका विरह

*वावू अमीरसिंह ने अपने 'रसखान घनानन्द' की भूमिका में घनानन्द का जन्म स० १७९५ वतलाया है।

प्रशान्त सागर के रूप मे हैं, अन्धड और तूफान के रूप मे नहीं। यही इनकी विरह-वेदना की विशेषता है। यही इनके गूढ़ और गम्भीर प्रेम का लक्षण है। सच्चे गम्भीर भावुक होने के कारण इन्होंने विहारी आदि के समान विरह-ताप की अत्युक्ति का खिलवाड नही किया है। प्रेम मार्ग का ऐसा धीर और प्रवीण पथिक तथा जबाँदानी का ऐसा दावा रखने वाला ब्रजभाषा का दूसरा कवि नही हुआ।'

इनकी कविता के दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं:—

तव तौ तुम दूरहि ते मुसिकाय,
　　　　वजाय के और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरति ऐसी,
　　　　रचाय के नैनन मे सरसे॥
अब तो उर माँहि वसाइ कै मारत,
　　　　एजू विसासी, कहाँ धौं वसे।
कछु नेह-निवाह न जानत हे,
　　　　तो सनेह की धार मे काहे धँसे॥

घनानन्दजी का मेघदूत देखिए। वादल को उसके अनुकूल ही काम सौंपा गया है:—

परकाजहि देह को धारे फिरौ, 'परजन्य' जयरथ ह्वै दरसौ
निधि-नीर सुधा के समान करौ, सबही विधि सज्जनता सरसौ॥
घनआनँद जीवन-दायक हौ, कछु मेरियौ पीर हिए परसौ।
कबहूँ वा विसासी सुजान के आँगन, मो अँसुवानहि लै वरसौ॥

विशेष—घनानन्द के अतिरिक्त इनसे मिलते-जुलते नाम के आनन्दघन दो कवि और हुए हैं—१ भक्ति कवि आनन्दघन और जिन्होंने पदावली इश्कलता और यमुना यश लिखा है। २—जैन कवि आनन्दघन हैं जिन्होंने आनन्दघन चौबीसी और आनन्दघन बहोत्तरी लिखी है।

इन कृष्ण-भक्त कवियों के अतिरिक्त और कवियों ने भी कृष्णभक्ति

सम्बन्धी काव्य लिखा। उन सबका वर्णन तो क्या-उनकी नामावली देना भी कठिन है। यह कृष्ण भक्ति शाखा बहुत दिनों तक पल्लवित होती रही। रीतिकाल मे भी इसका प्रभाव रहा, और उस समय भी महाराजा नागरीदास जैसे बहुत से भक्त कवि हुए। आजकल भी राम और कृष्ण सम्बन्धी कई उत्तम काव्य रचे गये है।

कृष्ण-भक्त कवियो की यह महत्ता रही कि इनके कारण व्रजभाषा का रूप निखरा और उसका मान बढ़ा। यहां तक कि मुगल दरबारो में भी इनकी चर्चा होने लगी। अकबरी-दरबार कवियों का आश्रय स्थान बन गया। इन राज्याश्रित कवियों ने भक्ति के अतिरिक्त शृङ्गार और नीति आदि अन्य विषयों पर फुटकर रचनाएँ कीं। अकबरी दरबार के कवियों मे रहीम, गंग, नरहरि, बीरबल और टोडरमल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस काल के कवियों में अकबर और जहाँगीर के समय के जीवन की उछल-कूद की छाप मिलती है, यद्यपि कहीं-कहीं करुणा-क्रन्दन की छाया दिखलाई देती है, तथापि वह और रंगों मे इतनी मिल जाती है कि उसका गहरा प्रभाव नहीं पडने पाता।

अकबरी दरबार के कवि

रहीम—इनका पूरा नाम अब्दुर्रहीम खानखाना था। खानखाना वैरामखाँ इनके पिता थे। ये प्रकृति के बड़े दयालु थे। दानशीलता में इनकी कर्ण से तुलना की जाती है। गोस्वामी तुलसीदास से इनकी विशेष घनिष्टता थी। इन्होंने तुलसी के "सुरतिय, नरतिय, नागतिय सब चाहत अस होय" दोहार्द्ध की इस प्रकार पूर्ति की थी—"गोद लिए हुलसी फिरे तुलसी सौ सुत होय"। ये राजकाज में दक्ष होते हुए भी बड़े साहित्यिक और विद्वान थे। इनको फारसी, अरबी, हिन्दी और संस्कृत पर पूरा अधिकार था। इन्होंने संस्कृत वृत्तों मे भी कुछ कविता की थी। मालिनी छन्द में लिखा हुआ इनका मदनाष्टक बहुत

प्रसिद्ध है। राज्य-कार्य मे बहुत दिनों तक रहने के कारण इनको मानव-प्रकृति का अच्छा परिचय हो गया था, जिसकी झलक नीति के दोहों मे स्पष्ट मिलती है। इनके दोहे बड़े चुभते हुए हैं और उनमे कहीं-कहीं गम्भीर हास्य भी मिलता है। जैसे कि लक्ष्मीजी के सम्बन्ध मे कही हुई उनकी यह उक्ति 'पुरुष पुरातन की वधू, क्यो न चचला होइ।' नायिका भेद सम्बन्धी इन्होने बड़े सरस बरवै लिखे हैं। ये बरवै अवधी-भाषा में हैं। रहीम ही बरवै-छन्द के जन्म-दाता माने जाते है। ऐसी जनश्रुति है कि इनको एक सिपाही की स्त्री के प्रेम सन्देश मे ('प्रीति को बिरवा चलेहु लगाय') बिरवा शब्द से बरवै छन्द लिखने की प्रेरणा मिली थी।

गङ्ग और नरहरि—ये दोनो ही अकबरी दरबार के श्रेष्ठ कवियों मे गिने जाते हैं। गंग ने शृङ्गार और वीर दोनों रसो की कविता की है। इनको गणना तुलसीदास जी के साथ सुकवियो के सरदारो मे की गई है और दोनों की भाषा इस बात की समता बताई जाती है कि उनमे बहुत सी भाषाओं का सम्मिश्रण है:—

तुलसी गङ्ग दुवौ भये, सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन मे मिलै, भाषा विविध प्रकार॥

कहा जाता है कि गङ्ग किसी राजा या नवाब के कोप-भाजन बन गये थे, और हाथी से कुचलवा डाले गये थे।

नरहरि बन्दीजन का भी अकबरी दरबार मे अच्छा मान था। कहा जाता है कि उनका निम्न छप्पय सुनकर अकबर ने अपने राज मे गो-वध बन्द करा दिया था। इनके तीन ग्रन्थ हैं—रुमिणी मङ्गल, छप्पय नीति और कवित्त नीति।

अरिहु दत तिनु धरै ताहि नहि मार सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, बचन उच्चरहि दीन होइ॥
अमृत पय नित स्रवहि, वच्छ महि थंभन जावहि।
हिंदुहि मधुर न देहिं, कटुक तुरकहि न पियावहि॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनौ, बिनवति गउ जोरे करन।

अपराध कौन मोहि मारियत, मुएहु चाम सेवइ चरन ॥

बीरबल और टोडरमल—अकबरी दरबार के उज्ज्वल रत्नों में से थे। बीरबल अपने वाक् चातुर्य के लिए बड़े प्रसिद्ध होगये हैं। ये बड़े गुण-ग्राही थे और कवियों को बहुत दान दिया करते थे। इनकी रचनाओं से यह भली भाँति प्रतीत होता है कि ये काव्याङ्गों से भी परिचित थे। महाराज टोडरमल के नीति-सम्बन्धी कवित्त बहुत प्रसिद्ध हैं।

बनारसीदास—ये जैन धर्मावलम्बी थे। ये जौनपुर के रहने वाले थे किन्तु इनका सम्बन्ध आगरे से भी इतना रहा है कि वहाँ के भी निवासी माने जाते हैं। इनके घर जवाहिरात का कारबार होता था। पहले इन्होंने कुछ शृङ्गार-रस सम्बन्धी कविता की थी किन्तु पीछे से धार्मिक आवेश में आकर इन्होंने अपनी शृङ्गार-रस सम्बन्धी कविता गोमतीजी में प्रवाहित करदी। इनकी कविता अधिकतर सुन्दरदास के ढङ्ग पर है जो कि नीति और ज्ञान से भरी हुई है। इन्होंने प्रबोध-चन्द्रोदय के ढङ्ग का 'समयसार' नाम का एक अपूर्व नाटक भी लिखा है। इनकी कविता का एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है।

मौदू ते हिरदे की आँखें।
जे करखें अपनी सुख सम्पति भ्रम की सम्पति नाखें
जिन आँखिन सों निरखि भेद गुन ज्ञानी ज्ञान विचारें
जिन आँखिन सों लखि स्वरूप मुनि ध्यान धारना धारें

इन्होंने अर्द्ध कथानक नाम से अपनी आत्म-कथा भी लिखी है। इसमें कवि ने अपनी हीनताओं के वर्णन में भी संकोच नहीं किया है। उस समय यूरोप में भी ऐसी आत्म-कथा शायद ही लिखी गई हो। रूसो की आत्म-स्वीकृतियाँ (Confessions) इसके पीछे की चीज है।

सेनापति—इनका जन्म संवत् १६४६ के लगभग अनूपशहर में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के यहाँ हुआ था। ये राज-दरबार के सम्पर्क में अवश्य रहे मालूम पड़ते हैं किन्तु इन्होंने अपने जीवन का उत्तरकाल संन्यास में ही व्यतीत किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि इनकी राज

दरबार से घृणा हो गयी थी। 'चारि-बर-दानि तजि पायँक मलेच्छन के पॉयक मलेच्छन के, कहे, काहे को कहाइये।' इनकी कविता बनाक्षरियों से है। भाषा पर इनको पूर्ण अधिकार था। इनकी भाषा बहुत सुगठित, सजीव और प्राञ्जल है। ये बड़े भावुक कवि थे। इनका हृदय भक्ति-भावना से भरा हुआ था। यद्यपि ये श्रीकृष्ण के विहार-स्थल वृन्दावन में रहते थे तथापि इनका हृदय रामोपासना में रमा हुआ था। भावुकता के साथ ये काव्य का चमत्कार दिखाने में भी निपुण थे। इन्होंने अपनी रचना में अनुप्रास और श्लेषों का बड़ा चमत्कार दिखाया है। मुक्तक काव्यकारों में सेनापति का स्थान बहुत ऊँचा है। इनके दो ग्रन्थ है—काव्य कल्पद्रुम और कवित्त रत्नाकर। इनकी भाषा शुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा है जिसमें तत्सम शब्दों की ओर झुकाव अधिक है। श्लेष और यमकों का चमत्कार संस्कृत तत्सम शब्दों के सहारे अधिक दिखाया जा सकता है। इनका षट् ऋतु वर्णन बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि यह उद्दीपन के रूप में लिखा गया है तथापि इसमें संश्लिष्ट योजना और सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय मिलता है। इन्होंने प्रकृति का मानवी भावों के साथ सामंजस्य स्थापित किया है जिसमें संस्कृत कवियों की परम्परा की कुछ झलक है। ऐसा सुन्दर ऋतु-वर्णन हिन्दी-साहित्य में बहुत कम मिलता है।

वृष को तरनि, तेज सहसौ करनि तपै,
ज्वालिन के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि, जग झुरति झुरनि, सीरो,
छाँह को पकरि पथी पञ्छी बिरमत है॥
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत,
घमका विषम जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है।
सिसिर तुषार के बुखार से उखारत है,

पूस वाते होत सून हाथ पाइ ठिरिकै।
द्यौस की छुटाई की वड़ाई वरनी न जाइ,
'सेनापति' गाई कछू, सोचिकै सुमिरिकै॥
सीत तें सहसकर सहस चरन ह्वै कै।
ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै।
जौलो कोक कोकी सों मिलत तौलों होत राति,
कोक अध-बीच ही ते आवत है फिरि कै॥

सेनापति ने कहीं-कहीं ऋतु वर्णन केवल चमत्कार प्रदर्शन करने के लिए भी किया है। यद्यपि केशवदास भी इसी काल मे हुए हैं, तथापि रीति-काल से इनका अधिक सम्बन्ध होने के कारण रीति-काल में ही इनका वर्णन किया जायगा।

नरोत्तमदास—इनका सुदामा-चरित्र भी इसी काल मे लिखा गया है। हिन्दी के खण्ड-काव्यो मे इसका वहुत ऊँचा स्थान है। इस ग्रन्थ मे व्रजभाषा का माधुर्य पूर्ण रूप से दिखाई पड़ता है। इनमे शब्द चित्र खींचने की अच्छी कुशलता थी, देखिये—

सीस पगा न झगा तन में,
प्रभु जाने को आहि वसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी लटी-दुपटी अरु,
पॉय उपानहुँ की नहि सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्वल एक,
रह्यो चकि सो वसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम,
वतावत आपनो नाम सुदामा॥

इस ग्रन्थ मे सुदामा की सन्तोषमयी ब्राह्मण-वृत्ति और उनकी धर्मपत्नी की व्यवहार बुद्धि का बड़ा सुन्दर तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया गया है। भगवान् कृष्ण के राज-वैभव में भी दीन सुदामा के प्रति प्रेम अक्षुण्ण रहा; कृष्ण के चरित्र की इसी विशालता को दिखाना इस खण्ड-काव्य का मूल उद्देश्य है।

रीति-काल

सामान्य परिचय—भक्ति-काल में निर्गुण ब्रह्म अथवा उसके सगुण रूप राम और कृष्ण के सम्बन्ध मे कविता हुई। किन्तु जितना विस्तार कृष्ण-काव्य का है उतना शायद राम-काव्य का नहीं। कृष्ण के माधुर्य के कारण जनता तथा कवियों का उनकी ओर सहज आकर्षण था। कृष्ण-काव्य मे शृङ्गार और भक्ति का ऐसा मिश्रण हो गया था कि एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते थे। भक्ति-काल के कवियों ने शृङ्गार का जो वर्णन किया है वह उनकी प्रगाढ़ भक्ति और प्रेम का ही फल है। उसमे एक जीवन संगीत था और उसने मृत हिन्दू जाति में जीवन का सञ्चार किया था। कृष्ण-काव्य अपने समय मे सजीवन बूटी सिद्ध हुआ था। प्रत्येक अच्छी चीज के साथ कुछ बुराई लगी रहती है। वहुत सी चीजें साधन-रूप मे अच्छी रहती हैं किन्तु जहाँ वे ही साध्य वन जाती हैं तव उनमे खोखलापन आ जाता है। जिस शृङ्गार की मदिरा ने भक्ति-काल मे औषधि का काम किया था वही पीछे से एक घातक व्यसन वन गयी। जव तक आकार या कलापक्ष का जीवन मे सम्बन्ध रहता है तब तक उसमें उन्नति की आशा रहती है किन्तु जब आकार ही की पूजा होने लगती है तब जीवन का स्रोत सूखने लगता है। पहले भक्तकवि शृङ्गार की कविता अपने इष्टदेव की भक्ति का अङ्ग मान कर करते थे। शृङ्गारिक कविता पीछे के कवियों के हाथ में एक प्रकार का व्यसन मात्र रह गई। राधा और कृष्ण शृङ्गारिक कविता के आलम्बन मात्र हो गये। वे विभिन्न नायक और नायिकाओं के रूप मे दिखाये जाने लगे। वंगाली वैष्णवों के प्रभाव से इस प्रवृत्ति को और भी वल मिला। भक्त कवियों में

धार्मिक भावना का प्राधान्य था और कवत्व उनके लिए एक गौण वस्तु थी। उनके पीछे के कवियों में कवित्व का प्राधान्य हो गया और भक्ति उनकी विलासमयी भावनाओं पर सुन्दर आवरण डालने की चादर बन गई। रीतिकालीन कवि दोनों ही काम साधना चाहते थे। भिखारी दास के शब्दो मे 'आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविता नत राधिक कन्हाई सुमिरन को वहानों है।' वास्तव मे तो रीतिकालीन कवियों मे अपनी शृंगारिक प्रवृत्ति के परिपोषण के लिए राधा गोविन्द का नाम एक वहाना मात्र रह गया।

रीति-काल मे आकार के प्राधान्य के और भी कई कारण हो गये थे। कविता 'स्वान्तःसुखाय' न वनकर राज-दरवार की वस्तु रह गई थी। प्रत्येक कवि अपने प्रतिद्वंद्वी से वाजी ले जाना चाहता था। और अपने आश्रय-दाता को 'येन-केन प्रकारेण' प्रसन्न करने के अर्थ प्रयत्नशील रहता था। इसके लिए उसे संस्कृत और प्राकृत साहित्य मे अवगाहन कर प्राचीन रत्नों को नये रूप में रखना पडता था। इस प्रकार कविता स्फूर्ति का विषय न वनकर एक आवश्यकता का विषय हो गई थी। इसका अभिप्राय यह नहीं कि उस समय के साहित्य का मूल स्रोत केवल राजाओं को प्रसन्न करने की नीच प्रवृत्ति मे ही था।

प्रत्येक चीज के अच्छे और वुरे दोनो ही पहलू होते हैं। भक्ति-काल मे कविता की लहर आई थी। उस कविता के वहाव मे अलङ्कार आदि स्वतः चले आते थे। सस्कृत भाषा मे अलङ्कारों और काव्याङ्गों के ऊपर काफी विवेचन हो चुका था। संस्कृत की उत्तराधिकारिणी हिन्दी मे भी उन वातो का आना स्वाभाविक था। इसका सूत्रपात तो भक्ति-काल में ही हो गया था। (सूर की साहित्यलहरी, नन्ददास की रसमंजरी और तुलसी की वरवै रामायण इसके प्रमाण हैं) किन्तु इस प्रकार की रचनाएँ करना उनका मुख्य ध्येय न था।

लक्ष्य-ग्रन्थों के वाद ही लक्षण-ग्रन्थ आते हैं। लक्ष्य-ग्रन्थ वन चुके थे, लक्षण-ग्रन्थों का समय अपेक्षित था और समयानुकूल साहित्य

का इस ओर झुकाव होना एक नैसर्गिक घटना थी। हिन्दी के कवियों ने अपनी रचनाएँ की। लक्षण देने मे तो नहीं परन्तु उदाहरण देने में हिन्दी कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों से भी आगे बढ़ गये हैं।

सक्षेप मे हम रीति-काल के आविर्भाव के लिए निम्न कारणों को उत्तरदायी समझते हैं—

१—भक्ति-काल की शृङ्गारिक कविता में से उसके जीवनतत्व का ह्रास होकर उसके आकार मात्र का रह जाना। साप निकल गया केंचुली पड़ी रह गयी थी।

२—हिन्दी का राज-दरबारो मे आश्रय पाना और आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने मे कवियो की मौलिकता का ह्रास।

३—पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा आचार्यत्व प्राप्त करने की महत्वाकाक्षा के कारण सस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन तथा उनका अनुकरण।

४—लक्ष्य-ग्रन्थों के पश्चात् लक्षण-ग्रन्थो के लिखे जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति।

५—राजाओं का मुसलमानी सत्ता का स्वीकार कर लेना और विलास की मदिरा में आत्म-ग्लानि को भुला देना। इस कारण कवियों की रचनाओं में शृङ्गार और विलास का प्राधान्य होना स्वाभाविक हो गया था।

६—जहाँगीर और शाहजहाँ के समय का कला-प्रेम काव्य में झलक उठना।

रीतिकाल की विशेषताएँ—

१—साहित्य-निर्माण के साथ-साथ रस, अलङ्कार आदि काव्याङ्गों पर विवेचना हुई। रसो में विशेष कर शृङ्गार के आलम्बनो और उद्दीपनो के बड़े सरस उदाहरणों का निर्माण हुआ। वे लोग शृङ्गार-रस को रसराज मानते थे। इसलिए उसको प्राधान्य देना स्वाभाविक ही था।

२—इस काल में शृङ्गार-रस के साथ कुछ वीर-रस की भी अच्छी कविता हुई।

३—इस काल मे कवित्त और सवैयो की प्रधानता रही। कवित्तों का सम्बन्ध विशेष कर वीर-रस से रहा। सवैये शृङ्गार और करुण दोनों मे प्रयुक्त हुए। इस काल मे विहारी ने दोहे की सम्भावनाओं को पूर्ण रूप से विकसित कर दिया।

४—इस काल की भाषा ब्रजभाषा और अवधी का मिश्रण थी। उसमे मुसलमानी दरबारो के प्रभाव से फारसी शब्दों की मात्रा बढ़ गयी थी। भाषा मे सुकुमारता का अधिक परिचय मिलता है। कवियों मे कला का प्रेम अधिक दिखाई देता है।

५—इस काल मे भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष का प्राधान्य रहा।

कुछ न्यूनताएँ:—

१—काव्यागों के विवेचन के साथ शब्द की शक्ति पर यथोचित विवेचन न हो सका। (शब्द शक्ति का विवेचन देव और भिखारी-दास आदि इने गिने कवियो ने ही किया है।) पद्य मे लिखने के कारण संस्कृत ग्रन्थो का-सा सूक्ष्म विवेचन न हो सका। संस्कृत के आचार्य गद्य में टीकाएँ और वृत्तियाँ भी लिखते थे।

रीति कालीन ग्रन्थो मे अधिक गहराई न होने के कारण यह भी था कि वे पण्डितों के लिए नहीं वरन् राजाओ और उनके दरबारियो के लिए लिखे गये। रीति-ग्रन्थों का मूल उद्देश्य काव्य का विवेचन नहीं रह गया था, वरन् शृङ्गारिक और अलङ्कारिक कविता के लिए पृष्ठ भूमि तैयार करना था।

२—नाट्य-शास्त्र के विवेचन का अभाव भी रहा। ये उस समय के अचार्यत्व में कमी की बात थी। हिन्दी मे नाटक के लक्ष्य ग्रन्थ भी न थे।

३—विषयों का सङ्कोच-सा हो गया था और कवियों में कवि परम्परा रूपी गाड़ी की लीक पर चलने की प्रवृत्ति हो गयी थी। इसलिए कवियों को भी अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा दिखाने की कम गुञ्जाइश

रह गई थी, जो कुछ कविता करते थे ये स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं वरन् कवि कर्तव्य के कठोर वन्धन मे बँधकर एक प्रकार की परम्परा की पूर्ति के लिए।

४—इतना अवश्य कहा जायगा कि यद्यपि ये जीवन की अनेक-रूपता को अपने काव्य मे न ला सके तथापि इन्होंने शृङ्गार के सकुचित क्षेत्र मे पारिवारिक जीवन को बाँधकर उसमे सौन्दर्य-दर्शन की चेष्टा की और जीवन के उस अग को पर्याप्त रूप मे प्रकाश मे लाये।

आचार्य केशवदास

रीति-काल संवत् १७०० से माना जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि १७०० से पूर्व रीति-ग्रन्थ नही रचे गये। कुछ लोगो के मत से तो रीति-काल का उदय हिन्दी-साहित्य के जन्म के साथ ही हुआ है, क्योंकि हिन्दी के प्रथम कवि पुष्य का ग्रन्थ रीति-शास्त्र (अलङ्कारो) ही का ग्रन्थ था। सूर की 'साहित्य लहरी' में भी अलङ्कारों का वर्णन है। यद्यपि केशवदासजी के पूर्व-कृपाराम, मोहनलाल तथा अकबरी दरबार के 'करनेस' आदि कई कवियो ने रस और अलङ्कार के ऊपर ग्रन्थ लिखे हैं, तथापि साहित्य-शास्त्र की विधिवत् विवेचना कर हिन्दी में आचार्यत्व की स्थापना करने का श्रेय केशवदासजी को ही है। हिन्दी में रीति-काल की परम्परा स्थापित करने वालो मे केशवदासजी को ही प्रथम कवि माना जायगा।

आचार्य शुक्लजी केशवदासजी को रीति-काल का प्रवर्तक नहीं मानते। उसका मुख्य कारण यह है कि केशवदासजी तथा चिन्तामणि और उनके अनुयायियो के साहित्यिक आदर्श भिन्न थे। केशव ने दण्डी और रुय्यक का आधार लेकर उस प्रारम्भिक अवस्था का प्रतिनिधित्व किया था जिसमे कि अलङ्कार्य (वर्ण्य विषय) और अलङ्कारादि का भेद न था। उन्होंने रस को भी अलङ्कार के अन्तर्गत माना था किन्तु उनकी कविप्रिया में अलङ्कार का अर्थ व्यापक था। उनके 'विशेष' अलङ्कार ही आजकल के प्रचलित अलङ्कार हैं। इसके विपरीत चिन्तामणि

और उनके पीछे के कवियों ने अलंकारों का वर्णन चन्द्रालोक और कुवलयानन्द के आधार पर किया और रस-सिद्धान्त में वे विश्वनाथ से प्रभावित हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि उन लोगों ने यद्यपि रस का विशद विवेचन तो नहीं किन्तु रस को स्वतन्त्र स्थान देकर उसको अलङ्कारों के अन्तर्गत नहीं माना।

शुक्लजी का कथन है कि पीछे से रीतिकालीन कवियों ने केशव के आदर्शों को न अपनाकर चिन्तामणि त्रिपाठी के आदर्शों को अपनाया और दूसरी बात यह है कि केशव के पचास वर्ष बाद तक रीतिकालीन कवियों की परम्परा टूटी-सी रही और चिन्तामणि के पश्चात् वह अविच्छिन्न रूप से चली।

इन दोनों बातों को स्वीकार करते हुए यह कहना पड़ेगा कि हिन्दी के कवियों में रीति काल की आत्मा के (साहित्यिक सिद्धान्तों के निरूपण और उनके उदाहरणों के स्वरूप काव्य की सृष्टि करने की प्रवृत्ति के) दर्शन केशव के काव्य में पहली बार होते हैं। उनका काव्य सूर और तुलसी की भाँति भक्ति की प्रेरणा से नहीं रचा गया था वरन् आचार्यत्व के कर्तव्य पालन के निमित्त। आचार्यत्व के लिए यह बात गौण है कि किसने कौनसी परम्परा को अपनाया।

यद्यपि 'रामचन्द्रिका' के कारण और कुछ काल-विभाग के कारण केशवदासजी को प्रायः भक्ति-काल में ही स्थान दिया जाता है तथापि उन्हें रीति-काल का प्रथम कवि कहना अधिक उपयुक्त होगा। 'विहारी-सतसई' की भाँति 'रामचन्द्रिका' भी एक प्रकार से अलङ्कारों का उदाहरण ग्रन्थ है। उसमें छन्द-शास्त्र के भी उदाहरण मिलते हैं।

केशवदासजी का परिचय—आचार्य केशवदास सनाढ्य कुलोद्भव पं० काशीनाथ के पुत्र थे। 'धरणी तल धन्न' ओड़छा नगर के रहने वाले थे और 'नृपमणि' मधुकरशाह के पुत्र दूलहराय के भाई इन्द्रजीत के आश्रित थे। इनका जन्म संवत् १६१२ में और मृत्यु

१६७४ में बताई जाती है। ये सस्कृत के अच्छे पण्डित थे और आर्थिक चिन्ता न होने के कारण इन्हे अध्ययन के लिए समय भी यथेष्ट मिला होगा। सस्कृत का ज्ञान इनकी पैतृक सम्पत्ति थी। इनको इस बात का खेद था कि कुल की परम्परा के विरुद्ध इन्होंने हिन्दी में कविता की।* इनको इन्द्रजीत की ओर से बाईस ग्रामों की जागीर मिली थी, अतः ये एक प्रकार से छोटे-मोटे राजा ही थे, देखिए—

भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै युग-युग,
जाके राज केशोदास राज-सो करत है।

केशवदास के ग्रन्थ—रसिकप्रिया (सं० १६४८) इसमें रस-निरूपण विशेषकर शृङ्गार-रस और नायिका-भेद है।

रामचन्द्रिका—(कार्तिक सुदी १२ संवत् १६५८) यह ग्रन्थ प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिखा गया है, किन्तु छन्दों में वैविध्य तथा अलङ्कारों की भरमार के कारण यह ग्रन्थ एक प्रकार से उदाहरण-ग्रन्थ-सा बन जाता है।

कविप्रिया—(फागुन सुदी पञ्चमी सवत् १६५८) इसमें कवि के वर्ण्य विषयों तथा अलङ्कारों का वर्णन है। यह एक प्रकार से कवि शिक्षा का ग्रन्थ है।

विज्ञान-गीता—(सवत् १६६७) यह ग्रन्थ 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक' की रीति पर लिखा गया है। यह आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इनके दो ग्रन्थ और हैं 'जहाँगीर जश चन्द्रिका' और 'वीरसिंह देव चरित्र।'

काव्य की आलोचना—कविवर केशवदासजी हमारे सामने कवि और आचार्य दोनों ही रूपों में आते हैं। यद्यपि उनका आचार्य रूप प्रधान है तथापि उनका कवि का रूप भी उपेक्षा योग्य नहीं है।

---

* भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास।
तिन भाषा कविता करी, जड़ मति केशवदास॥

वे यदि सूर्य-चन्द्र की पदवी नही पाते तो न सही, किन्तु उड़गन प्रगणित होकर साहित्य-गगन के ज्योतिर्पिण्डों मे अवश्य स्थान पाते हैं।

'रसिक प्रिया'—यद्यपि लक्षण ग्रन्थ है तथापि उसमे मुक्तक काव्य के अच्छे उदाहरण मिलते ह। इसके बहुत से उदाहरणों में उक्ति-वैचित्र्य और कल्पना की उड़ान का अच्छा परिचय मिलता है। इनके काव्य में हृदयपक्ष की न्यूनता और कलापक्ष का प्राधान्य है। काव्य मे उत्कृष्टता लाने के जितने कृत्रिम साधन होते हैं वे इनमें पूर्णरूपेण वर्तमान है। मानव-प्रकृति के अध्ययन की भी इनमे कमी नहीं है। 'राज-सो करते हुए भी इन्होने अपने समय का दुरुपयोग नही किया। अपने स्वाध्याय और पाण्डित्य के ही कारण वे हिन्दी साहित्य में आचार्यत्व के पथ-प्रदर्शक बने। रामचन्द्रिका के कथोपकथन बड़े सजीव और नाटकत्वपूर्ण हैं। एक ही छन्द में प्रश्न और उत्तर लाने में ये विशेष सफल हुए हैं। रावण-हनूमान सवाद व्यङ्ग से भरा हुआ है। लव-कुश का निर्भय वार्तालाप बड़ा मनोहर है। 'कोप के भार, मे भूँजहु भरत्थहि' रौद्र-रस-प्रधान बड़ी ओजपूर्ण उक्ति है।

केशव में जात्यभिमान पूर्ण मात्रा मे था, चाहे वह ब्राह्मण और विशेष कर सनाढ्य जाति में ही क्यो न संकुचित हो। उन्हे अपने नगर से भी बहुत प्रेम था। विभीषण की दिल खोल कर बुराई करने से प्रकट होता है कि उनमे भक्ति-भावना की अपेक्षा जाति-प्रेम और स्वदेश-प्रेम की भावना बलवती थी।

मानव सम्बन्धों में जो कोमलता तुलसीदासजी ला सके, वह इनके काव्य मे नही आ सकी। तुलसी की सीता श्री रामचन्द्रजी के चरण चिह्नों को बचा कर चलती हैः—

'प्रभु पद रेख बीच बिच सीता।
धरहिं चरन मग चलति सभीता॥
सिया-राम पद अङ्क बराये।
लषन चलहिं मग दाहिन बाँये॥'

किन्तु केशव की सीता उन्हीं चरण-चिह्नों पर चलती हुई शीतलता अनुभव करती है—

'मारग की रज तापित है अति,
केशव सीतहिं शीतल लागति।
ज्यों पद-पङ्कज ऊपर पांयनि,
दै जो चलै तेहि ते सुखदायनि॥'

केशव की सीता प्रेम का परिचय अवश्य देती है, किन्तु तुलसीदासजी की सीता में जो मर्यादा और आदर-भाव है वह उनमे एक दिव्य कोमलता प्रदान करता है।

यह बात नही कि केशवदासजी की वाणी मे रस न हो, कहीं-कहीं तो उन्होंने बड़ी ही सरस रचना की है—

'मग को श्रम श्रीपति दूर करें,
सिय को शुभ बाकल-अञ्चल सो।
श्रम तेउ हरें तिनको कहि केशव,
चञ्चल चारु दृगञ्चल सो॥'

परन्तु इसी के साथ अलङ्कार-प्रियता में पड़कर कहीं-कहीं वे हास्यास्पद बन जाते हैं। सीताजी के मुख की कमल और चन्द्र की तुलना में व्यतिरेक का उदाहरण-सा उपस्थित करते हुए मुख के दिन और रात एक से रहने की ऊक्ति प्रसन्नता अवश्य देती है, किन्तु उसके साथ ही वे उत्साह के आवेश में ऐसी बात कह डालते हैं जो सत्य नहीं है—''देखे मुख भावै अनदेखे ही कमल चन्द'' यह कमल और चन्द्र के प्रति अन्याय है।

बाह्य-प्रकृति के वर्णन में केशवदासजी ने केवल कवि-कर्म का ही पालन किया मालूम होता है। यद्यपि उनकी 'कविप्रिया' को पढ़कर इस बात का सन्तोष होता है कि उन्होंने वन, उपवन, नदी, तड़ाग आदि को वर्ण्य विषयो में रख कर काव्य-क्षेत्र का विस्तार किया है

तथापि वे स्वयं 'कविप्रिया' के उदाहरणों में अथवा 'रामचन्द्रिका' के प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में सफल नहीं हो सके हैं। केशव की अलङ्कार प्रियता, राजसी ठाठ और राज्याश्रयता ने उनको वाह्य-प्रकृति से उदासीन कर दिया है। प्रकृति से उनका सम्बन्ध पुस्तकों द्वारा ही हुआ था और इसलिए उनको राज-दरवार से दूर प्रकृति की अपेक्षा शब्द-जाल अधिक आकर्पित कर सका। प्रकृति की गोद में पले हुए जीव का जो प्रकृति के प्रति स्वाभाविक प्रेम होता है, केशवदास में उसका सर्वथा अभाव-सा दिखाई पड़ता है। दण्डक वन में भी पहुँच कर राज-सेवा वृत्ति उनका पीछा नहीं छोड़ती—

शोभित दण्डक की रुचि वनी।
भाँतिन भाँतिन सुन्दर वनी॥
सेव वडे नृप की जनु लसै।
श्रीफल भूरि भाव जहँ वसै॥
वेर भयानक सी अति लगै।
अर्क समूह जहाँ जगमगै॥

इसमें सेव, वेर के नाम मात्र आये है। अर्क अकौआ और सूर्य दोनों को कहते हैं। इस शब्द-साम्य के आधार पर उस वन में द्वादश सूर्यों के होने के प्रलयकाल का-सा भयानक समय (वेर) उपस्थित कर दिया है। इसे चाहे श्लेष का चमत्कार कह लीजिए, किन्तु इसमें दण्डक वन की सुरम्यता नहीं दिखाई देती॥कविवर विहारीलाल चाहे विरह सम्वन्धी अत्युक्तियों मे मर्यादा के वाहर हो गये हों किन्तु धतूरे की वस्तु-स्थिति के सम्बन्ध में वे काफी सचेत रहे। ऐसा मालूम होता है कि मानों केशव की ही भूल सुधारने के लिए उन्होंने नीचे का दोहार्द्ध लिखा हो। 'सुनो कहू तरु अरक को अरक समान उदोत' नाम यदि वस्तु का स्थान ले ले तो मिश्री कहने से ही मुँह मीठा हो जाय। 'मन-मोदक नहीं भूख वुताई' जैसे मन-मोदक में कल्पना का

फिर भी आनन्द रहता है किन्तु नाम उल्लेख मात्र में कोई आनन्द नहीं रहता। तुलसी की भाँति केशव भी राम से 'नाम' को अधिक महत्ता देते मालूम पड़ते है।

प्राकृतिक दृश्यों मे आध्यात्मिक उपमाओं का ले आना प्राकृतिक दृश्यों के महत्व को कम कर देता हैं। आध्यात्मिक उपमानों तक तो कुशल है, किन्तु जव प्राकृतिक वस्तुओं के लिए "जनु हेम कुपी सब सोंध भरी' कहने लगते है तो जी ऊवने लगता है और मालूम पडता है कि कवि को सोने का मोह नहीं छूटा था। अच्छा होता यदि केशवदासजी इतना ही कह कर रह जाते—

'वहु चम्पक की कलिका हुलसी,
तिन पे अलि श्यामल ज्योति लसी।'

इसमे 'श्यामल ज्योति' बड़ी ही सुन्दर शब्द-योजना है। इनके प्राकृतिक दृश्य वर्णन में वहुत-सी उत्प्रेक्षाएँ वडी सुन्दर हैं—

'पलास माल विन पत्र विराजमान,
मानो वसन्त दिए कामहि अग्निवान।'
'नर अन्ध भये दरसे तरू मौरे।
तिनके जनु लोचन हों इकठौरे॥'

प्राकृतिक दृश्य स्वतः आनन्द के कारण होते हैं। अग्नि और गङ्गाजल की भाँति उनका दूसरे पदार्थों द्वारा पवित्र किये जाने की अपेक्षा नही रहती। भीम और अर्जुन वृक्षों की महत्ता पाण्डवों के नाम धारण करने से नही होगी और न वे उन नामों के कारण 'पाण्डव की प्रतिमा सम लेखे' कहे जा सकते हैं। रामचन्दजी द्वारा पाण्डवो का उल्लेख काल-दूषण है। जिसका शमन उनके त्रिकालज्ञ होने से भी नहीं होता क्योंकि उस समय वे नर लीला कर रहे थे और काव्य मे हमें उन सीमाओं को स्वीकार करना पड़ता।

केशवदासजी अतिशयोक्तियों में अपनी कल्पना-शक्ति बहुत ऊँची उठा ले जाते हैं। श्री रामचन्द्रजी की चतुरङ्ग-चमू का वर्णन इसका उदाहरण है—

राघव की चतुरङ्ग चमू चय,
को गनै केशव राज समाजन।
सूर तुरङ्गन के उरझैं पग,
तुङ्ग पताकिन की पट साजन॥
टूट परै तिनके मुकता,
धरनी उपमा बरनी कविराजन।
बिन्दु किधौं मुख फेनन के,
किधौं राजसिरी स्रवैं मंगल लाजन॥

इसको हम सत्य की अवहेलना नहीं कहेंगे, इसको हम कवि का हृदय उत्साह ही ठहरायेंगे। भरतजी के घोड़ों की टाप से उठी हुई धूल के लिए जो केशवदास ने उत्प्रेक्षा की है वह भी अच्छी है—

उठि के धरि धूर अकाश चली,
बहु चञ्चल बाजि खुरीन दली।
भुव हालत जान अकास दिए।
जनु थंभित ठौरनि ठौर किए॥

वास्तव मे 'रामचन्द्रिका' वर्णन-प्रधान ग्रन्थ है और उनके बहुत से वर्णन ऐसे हैं जो केवल कवि कर्म पालनार्थ लाये गये हैं। 'कवि-प्रिया' में जिन बातों का करना कवि के लिए आवश्यक बताया गया है, उन सबका वर्णन रामचन्द्रिका में वर्तमान है। कवि परम्परा का पूर्णतया पालन किया गया है। नख-सिख का वर्णन भी आ गया है, चाहे वह दासी का ही क्यों न हो और चाहे सारिका द्वारा ही क्यो न किया गया हो। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि केशव ने सीताजी का नख-सिख वर्णन करना मर्यादा के विरुद्ध समझा, और दासी का

वर्णन कर यह व्यञ्जित किया कि जहाँ की दासियाँ इतनी सुन्दर थीं, वहाँ की रानी का क्या कहना है? यह सब बात ठीक है, किन्तु राम के लिए दासी के नख-शिख वर्णन को सुनते रहना भी मर्यादा के विरुद्ध हैं। इसके अतिरिक्त यह केवल वर्णन के लिए प्रतीत होता है और अप्रासङ्गिक-सा भी जान पड़ता है। पूरी 'रामचन्द्रिका' ही अलङ्कारों और छन्दो की एक प्रदर्शिनी-सी है। इसके छन्दों की सजावट मुक्तकों की-सी है और यद्यपि वह प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिखी गई है तथापि वस्तुओं के वर्णन का बाहुल्य ग्रन्थ के तारतम्य और प्रवन्ध सौष्ठव को नष्ट कर देता है। रामचन्द्रिका में जितना चमत्कार का ध्यान रक्खा गया है उतना प्रबन्ध निर्वाह का नहीं। राम-वनवास की सारी बात कितने सत्तेप मे चलती की है:—

यह बात भरत्थ की मातु सुनी। पठऊँ वन रामहि बुद्धिगुनी।
तेहि मंदिर मे नृप सों विनयो। वर देहु हतो हमको जु दियो।
नृप बात कही हँसि हेरि हियो। वर माँगि सुलोचनि मैं जु दियो।

मन्थरा को इस दृश्य से बाहर रखने के कारण सारा उत्तरदायित्व कैकेयी पर ही आजाता है। बिहारी-सतसई की भाँति रामचन्द्रिका लक्षण-रहित उदाहरणों का रीति-ग्रन्थ-सा बन जाता है। स्फुट रूप से उसकी उक्तियाँ और वर्णन बहुत सुन्दर हैं।

आचार्यत्व—केशव के आचार्यत्व के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि वे रीति-ग्रन्थ लिखने की शैली के प्रवर्तक हैं और अलङ्कारो की प्रधानता देने वाले सम्प्रदाय के अनुयायी हैं, 'भूषण बिन न विराजई कविता बनिता मित्त'। उन्होंने दण्डी रुय्यक आदि अलङ्कारवादी आचार्यों का अनुकरण किया है। रस और ध्वनि को उन्होंने प्रधानतः अलङ्कारो के ही अन्तर्गत लिखा है। 'कविप्रिया' में केशव ने सब वर्ण्य विषयो को बतलाकर कवि-कर्म को विस्तृत-सा कर दिया है। कवि शिक्षा के लिए जो बाते आवश्यक हैं वे सब कविप्रिया मे बताई गयी है। रसो और भावों में प्रकट और प्रछन्न

भेट कर उन्होंने एक नवीनता उपस्थित करदी है। रसिक-प्रिया में उन्होंने सब रसों को शृङ्गार रस के ही अन्तर्गत करने की कोशिश की है। इसी से वे और रसों के वर्णन मे सफल नही हुए हैं। यद्यपि इन्होने हास्य को चार प्रकार का माना है किन्तु इनके उदाहरण हास्य की प्रवृत्ति जाग्रत करने में असमर्थ रहते हैं। केशव ने वृत्तियो और रस दोषों का भी वर्णन किया है। वृत्तियों को कवित्व मे ही सीमित रखा है।

भाषा—केशव की भाषा व्रजभाषा है, किन्तु उसमे श्लेषादि शब्दालङ्कारों का प्राधान्य होने के कारण उनको सस्कृत शब्दावली का अधिक आश्रय लेना पड़ा है क्योंकि सस्कृत शब्दों में श्लेष के लिए अधिक क्षमता रहती है। उनकी भाषा मे उपदि, स्यो, टुगई, गौरमदायन जैसे बुन्देलखण्डी शब्दों का आना स्वाभाविक ही है। केशव की भाषा मे वह चलतापन और रसाद्रता नहीं है जो मतिराम में दिखाई पड़ती है। उनके काव्य की क्लिष्टता के कारण ही यह लोकोक्ति चल पड़ी थी—

'दीवो न चाहे बिदाई नरेस, तो पूछत केशव की कविताई।'

आचार्य केशवदास के काव्य मे दोष अवश्य हैं और अपनी दुरूहता के कारण वह अधिक लोक-प्रिय नहीं हो सका, तथापि लोकमत ने जो उन्हें सूर और तुलसी के साथ उडुगणों में स्थान दिया है वह न्यायसङ्गत ही है। उडुगनों में वे अत्यन्त दैदीप्यमान उडुगण हैं।

चिन्तामणि त्रिपाठी

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल चिन्तामणि त्रिपाठी को ही रीति काल का प्रवर्तक मानते हैं क्योंकि इन्हीं के पश्चात् रीति-ग्रन्थों की अविरल-धारा बहती रही। केशव और उनमे प्रायः ५० वर्ष का अन्तर था। इस समय के अन्तर के साथ कुछ साहित्यिक आदर्शों का भी अन्तर था। केशव ने दण्डी और रुय्यक का अनुकरण किया तो चिन्तामणि और

उनके पीछे के कवियों ने चन्द्रालोक और कुवलयानन्द का आधार लिया और रस को प्रधानता दी।

ये भूषण और मतिराम के भाई थे। इनके अतिरिक्त जटाशङ्कर नाम के एक और भाई बतलाये जाते हैं किन्तु साहित्य मे उनकी कोई प्रसिद्धि नहीं है। ये तिकवॉपुर के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम था रत्नाकर त्रिपाठी। इनका जन्म संवत् १६६६ के निकट और कविता-काल स० १७०० के लगभग बैठता है। इन्होंने काव्य-विवेक, कवि-कुल-कल्पतरु और काव्यप्रकाश नाम के तीन ग्रन्थ लिखे हैं। छन्द-विचार नाम का इन्होंने एक पिङ्गल-ग्रन्थ भी लिखा है। कहीं-कहीं इन्होने अपना नाम मणिलाल भी लिखा है। चिन्तामणि में अधिकांश में साहित्य दर्पण और काव्य प्रकाश का सहारा लिया है। कविकुल-कल्पतरु (रचना-काल १७०७) में काव्य की दो परिभाषाये दी हैं एक काव्य दर्पण से प्रभावित है—बत कहा रसयै जु है कवित्त कहावे सोय। और दूसरी काव्य प्रकाश से—वह इस प्रकार है —

सगुन अलकारन सहित, दोष रहित जो होइ।
शब्द अर्थ वारौ कवित्त विबुध कहत सब कोइ॥

महाराजा जसवन्तसिंह

ये मेवाड़ के महाराज गजसिंह के द्वितीय पुत्र थे। इनका जन्म सं० १६८३ में हुआ था, और ये सवत् १६९५ मे सिंहासनारूढ़ हुए। ये शाहजहॉ और औरङ्गजेब के बड़े विश्वासपात्र थे। कई महत्वपूर्ण लड़ाइयों में भी इन्हे भेजा गया था। संवत् १७३८ मे इनका शरीरान्त काबुल में हुआ था जहॉ कि वे अफगानों को सर करने के लिए भेजे गये थे। अलङ्कार ग्रन्थों मे इनका 'भाषा-भूषण' प्रसिद्ध है। इसमें बहुत कुछ चन्द्रलोक की छाया मिलती है। एक ही दोहे में लक्षण

और उदाहरण मिल जाते हैं जो विद्यार्थियों को सूत्ररूप से याद करने के लिए बहुत उपयोगी हैं। इन्होंने तत्वज्ञान सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे हैं, जैसे—अपरोक्ष सिद्धान्त, सिद्धान्त बोध, सिद्धान्तसार और प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक।

उदाहरण—सार-अलङ्कार—

एक एक ते सरस जब अलङ्कार यह सार।
मधु सों मधुरी है सुधा कविता मधुर अपार॥

परिसंख्या अलङ्कार—

परिसंख्या इकथल बरजि दूजे थल ठहराइ।
नेह हानि हिय में नहीं भई दीप में जाइ॥

चन्द्रालोक में परिसंख्या का जो उदाहरण दिया गया है वह भाषा भूषण के उदाहरण का आधार कहा जा सकता है—स्नेहक्षयः प्रदीपेन्द्र स्वान्तेषु न नतभ्रुवाम्।—(चन्द्रालोक ५।६५) अर्थात् स्नेह की हानि दीपकों ही में है किन्तु नीचे भौं रखने वाली कुल ललनाओं के अन्तःकरण में नहीं।

बिहारी

जीवनवृत्त—इनका जन्म ग्वालियर राज्य के बसुआ गोविन्दपुर में बताया जाता है। ये जाति के माथुर ब्राह्मण (चतुर्वेदी) थे। इनके वंशज बूँदी राज्य में अब भी वर्तमान हैं।

इनका जन्म संवत् १६६० में बताया जाता है। ये जयपुर के महाराज जयसिंह के आश्रित थे, जिनकी प्रशंसा में इन्होंने दो चार दोहे लिखे हैं। इन्होंने संवत् १७१६ में अपनी प्रसिद्ध सतसई समाप्त की थी:—

'संवत् ग्रह शशि जलधि छिति, तिथि छठ वासर चन्द।
चैत मास पख कृष्ण में पूरन आनन्द कन्द॥'

ग्रह = ६, शशि = १, जलधि = ७, छिति = १

अङ्कानां वामतो गतिः, अङ्क बाईं ओर को गिने जाते हैं, इस हिसाब से सतसई निर्माण समय १७१६ होता है।

इससे उस समय उनकी अवस्था ५६ वर्ष की बैठती है। इस दोहे से तथा महाराज जयसिंह के समय से जो कि संवत् १६७६ से १७२२ तक रहा, कवि का जन्म १६६० में होना युक्ति-संगत प्रतीत होता है। इनकी मृत्यु १७१६ के दो चार वर्ष बाद हुई होगी। इनके पिता का नाम केशव था।

"प्रकट भये द्विजराज कुल, सुवस वसे ब्रज आइ।
मेरो हरौ कलेश सब, कैसौ केसौराइ॥"

इस दोहे में कवि ने अपने पूज्य पिता श्रीकृष्ण से केशव नाम में तथा अन्य गुणों में समानता बता कर वन्दना की है। द्विजराजकुल में (कृष्ण पक्ष में चन्द्रवंश और पिता पक्ष मे ब्राह्मण कुल। द्विजराज चन्द्रमा और ब्राह्मण दोनो को कहते हैं) दोनों का जन्म हुआ। दोनों स्वेच्छा से ब्रज में बसे थे। केशवराय में राय शब्द के आजाने के आधार पर आजकल ब्रह्मभट्ट लोग उनको अपना सजातीय बताते हैं। राय तो बहुत से ब्राह्मणों और अब्राह्मणों के नाम के आगे भी होता है। इनका बाल्यकाल बुन्देलखण्ड में बीता था और जवानी मथुरा में बीती थी।

इस सम्बन्ध में भी एक दोहा प्रचलित है—

जन्म ग्वालियर जानिये, खण्ड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुखद मथुरा बसि ससुराल॥'

बुन्देलखण्ड में बाल्यकाल व्यतीत करने की बात उपर्युक्त दोहे तथा उनकी कविता में 'लिखबी' 'गनिबी' 'देखबी' 'लाने' 'बीधे' 'गुहारि' आदि बुन्देलखण्डी शब्दों के बाहुल्य के साथ आने से प्रमा-

णित होती है। काव्य-मर्मज्ञ प० पद्मसिंह शर्मा इस मत से सहमत नहीं होते। उन्होंने देखवी जानिवी शब्दों को व्रजभाषा का अपवाद नहीं माना। तुलसीदासजी की भाषा का उदाहरण जो दिया है वह तो इस बात की पुष्टि ही करता है, क्योंकि तुलसीदासजी तो राजापुर के निवासी होने के कारण (इसमें चाहे सन्देह भी हो किन्तु चित्रकूट मे तो वे अवश्य रहे ही थे।) बुन्देलखण्डी थे ही। हाँ, सूरदासजी की बात जरूर मानने योग्य है किन्तु 'गनिवी' और 'देखिवी' के अतिरिक्ति लाने आदि और भी ठेठ बुन्देलखण्डी शब्द हैं जो विहारी में मिलते हैं, सूर मे नहीं। सूर ने एक-आध स्थान मे पंजाबी शब्दों का भी व्यवहार किया है जो व्रजभाषा के नही हो सकते। ग्वालियर से बुन्देलखण्ड जाना कुछ कठिन नही हैं। अस्तु, ससुराल से अनादृत होकर वे जयपुर दरवार गये। ससुराल मे आदर न पाने की बात निम्नलिखित दोहे से पुष्ट होती है—

आवत जात न जानिये, तेजहिं तजि सियरानु।
घरहिं जमाई लौं घट्यो, खरो पूस दिन-मानु।

जयपुर दरवार में उन्होंने निम्नलिखित एक दोहे से अपना प्रभाव जमा लिया था। महाराज जयसिंह अपनी नवेली रानी के प्रेम मे ऐसे फँस गये थे कि उन्हें राजकाज की भी चिन्ता न थी। मन्त्री हैरान थे, तव विहारी ने यह दोहा लिख भेजा—

'नहिं परागु नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहिकाल।
अली कली ही सौं विध्यो, आगे कौन हवाल॥'

इस दोहे ने अभीष्ट कार्य कर दिया। पढ़ते ही महाराज की आँखें खुल गई। इस एक दोहे ने महाराज जयसिंह को अन्तःपुर के हास-विलास से वाहर निकाल कर राजकाज मे प्रवृत्त कर दिया। इसको कहते हैं कान्ता का-सा मधुर उपदेश। 'हित मनोहारि च दुर्लभ वचः' कवि ही कह सकते हैं।

राजा के आश्रित होते हुए भी ये महाकवि बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति के थे। देखिए शाहजहाँ का पक्ष लेकर हिन्दुओं के खिलाफ लड़ने वाले अपने आश्रयदाता को बाज की अन्योक्ति द्वारा कैसी शिक्षा दी है—

'स्वारथ सुकृत न श्रम वृथा, देखि विहग विचारि।
बाज पराये पानि परि, तू पछीहि न मारि॥'

कहा जाता है कि वायदा की हुई सात सौ अशर्फियाँ महाराज जयसिंह से इनको नहीं मिली। सम्भव है ऐसा हुआ हो। इन्होंने 'तुमहूँ कान्ह मनो भये आजकालि के दानि' के मृदु उपालम्भ के सिवाय कुछ भी नहीं कहा। इतना ही नहीं बल्कि जयसिंह की तारीफ ही की है—'भेट होत जयसाह सों भाग्य चाहियत भाल।' यह बड़े सन्तोषी, भगवद्भक्त और सौम्य स्वभाव के थे।

'कोऊ कोटिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो सपति जदुपति सदा, विपति-विदारनहार॥'

आचार्यत्व और कवित्व—यद्यपि बिहारी ने कोई लक्षण-ग्रन्थ नहीं लिखा तथापि शृङ्गार-सम्बन्धी जितने विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव, हाव आदि हैं सतसई में उन सभी के उदाहरण मिलते हैं। साथ ही उसमें लक्षणा, व्यञ्जनादि शब्द शक्तियो के भी उदाहरण पाये जाते हैं। दोहे केवल दोहे ही नहीं हैं वरन् उनमें हमको कवि की सूक्ष्मनिरीक्षण शक्ति और आलौकिक प्रतिभा का पता चलता है। एक-एक दोहे में सिनेमा के-से चित्र खिंच जाते हैं और भावों का तारतम्य-सा बँध जाता है, देखिए—

"बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनु हँसै, देन कहै नटि जाय॥"

'अज्यौं तरयौना ही रह्यौ' आदि दोहों मे अलङ्कार सम्बन्धी वाग्-जाल अवश्य है किन्तु ऐसे अनेकों ही दोहे मिलेंगे जिनमें सजीव प्रेम

छलकता हुआ दिखाई पड़ता है। इस दोहे में भी कोरा शब्दाडम्बर ही नहीं है वरन् इस श्लेष के सहारे केवल शास्त्रीय ज्ञान की निरर्थकता भी दिखाई गई है वेदान्त शास्त्र में सत्संग से प्राप्त और अनुभवी ज्ञान को अधिक महत्व दिया जाता है। इस प्रकार विहारी में कवित्व और आचार्यत्व का अपूर्व मिश्रण है। विहारी में कलापक्ष के साथ हृदयपक्ष भी था। यद्यपि उनका क्षेत्र सकुचित था तथापि उन्होंने उस क्षेत्र का पूर्ण पर्यवेक्षण किया था। केवल लक्षण लिखना ही आचार्यत्व का लक्षण हो तो विहारी आचार्य न थे किन्तु यदि आचार्यत्व से शास्त्रज्ञान अभिप्रेत है तो उनमें उसकी कमी नहीं थी।

विहारी का 'काइयाँपन'—मिश्रवन्धुओं ने विहारी में 'काइयाँपन बहुत बताया है। यदि काइयाँपन से चालाकी और निरीक्षण की सूक्ष्मता अभिप्रेत है तो उनकी-सी 'पैनी दीठ' बहुत कम कवियों में है और यदि काइयाँपन से बदमाशी का मतलब है तो हम कहेंगे कि उनके कुछ दोहों में जैसे—'लरिका लेवे के मिसन' में 'लंगरपन' की झलक है। इन्होंने परकीया के जितने रूप और उससे मिलने के साधन उस समय के समाज में वर्तमान थे, सबके उदाहरण दिये हैं। एक दृष्टि से तो ऐसे दोहे तत्कालीन समाज के सूक्ष्म-निरीक्षण का परिचय देते हैं और दूसरी दृष्टि से उनकी रुचि पर प्रकाश डालते हैं। कवि के लिए हम यह नहीं कह सकते कि वह जो कुछ लिखता है निजी अनुभव से ही लिखता है। वह आपवीती न लिख कर जगवीती भी लिख सकता है। यदि राजदर्बार के वर्णन से कवि राजा नहीं हो जाता तो शृङ्गारिक वर्णन से वह विषयी नहीं हो जाता। यह अवश्य मानना होगा कि वे इतने विरागी न थे कि इन बातों के वर्णन से उन्हें अरुचि हो।

विहारी की भाषा—विहारी की भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी इस प्रकार लिखते हैं—'विहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों

का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। ब्रजभाषा के कवियों ने शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत किया है। यह बात बहुतों मे पाई जाती है। भूषण और देव ने शब्दों का बहुत अग-भंग किया है और कहीं-कहीं गढ़न्त शब्दों का भी व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है।'

इस सम्बन्ध में मिश्रबन्धुओं के विचार उपर्युक्त विचारों से कुछ भिन्न हैं, देखिए:—

"इन्होंने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा है और उन्हे कहीं-कहीं बहुत ही बिगड़े हुए रूप मे रक्खा है। यथा समर (स्मर), तूठ्यो (तुष्ठ्यो), मोख (मोक्ष)" (ये शब्द प्राकृत के रूप हैं, तोड़े हुए नहीं)

कुछ बातों पर ध्यान देने से विदित होता है कि बिहारी की भाषा बहुत मनोहर है। इन्होंने सभी स्थानों पर लहलहात, झलमलात, जगमगात आदि ऐसे-ऐसे बढ़िया और सजीव शब्द रक्खे हैं कि अधिक विशाद भाव न होने पर भी भाषा के सौन्दर्य से दोहा चमचमा गया है। जैसा वर्णन किया है उसी के अनुसार भाषा भी लिख कर उसका रूप खड़ा कर दिया है:—

"नहि अन्हाइ नहि जाय घर, चित चहुँट्यो तकि तीर।
परसि फुरहरी लै फिरति, बिहँसति धँसति न नीर॥"

बिहारी की बहुज्ञता—ये महाकवि प्रभावशाली कवि तो थे ही इसके अतिरिक्त हर विषय के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। इन्होंने अपनी सतसई मे प्रायः सभी विषयों की जानकारी का परिचय दिया है। निम्नलिखित दोहे में ज्योतिष और राजनीति के ज्ञान का शृङ्गार में क्या ही अच्छा उपयोग किया है:—

"दुसह दुराज प्रजानु कौं क्यों न बढ़ै दुख द्वन्द।
अधिक अन्धेरो जग करत, मिलि मावस रवि-चन्द॥"

वय-सन्धि में शैशव और यौवन की दुअमली होती है, इसी से देखने वाले को वह अधिक पीड़ा का कारण बनाती है। यह तो रही शृङ्गार की बात, किन्तु व्यवहार में दो अधिकारियों के हाथ की बात सदा दुःखदायिनी होती है। एक काम के लिए एक ही उत्तरदायी होना चाहिए। अमावस के दिन सूर्य और चन्द्र की एक राशि में हो जाने से अन्धकार वढ़ जाता है:—

विहारी ने शृङ्गार मे वैद्यक ज्ञान को भी लगाया है। ज्वर में सुदर्शन चूर्ण दिया जाता है। विरह के विषम ताप से जलती हुई नायिका को वड़ी ही सुन्दर श्लेष द्वारा नायक से सुदर्शन देने की प्रार्थना की गयी है:—

"यह विनसत नगु राखि कै, जगत वड़ौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर ज्याइयै, आय सुदरसनु देहु॥"

कवि को सांख्य और वेदान्त-शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान था:—

"जगतु जनायौ जिहिं सकलु, सो हरि जान्यौं नांहि।
ज्यौं आंखिनु सवु देखिए, आँखि न देखी जाहि॥"

सांख्य-शास्त्र (सांख्यतत्वकौमुदी) मे वताया गया है कि अत्यन्त सूक्ष्म चीज, अति निकटवाली चीज, जैसे आँख की स्याही और अति दूर की चीज, इत्यादि दिखाई नहीं पड़ती है। यहाँ पर उसी कारिका की झलक है। वेदान्त के कीट-भृङ्गी आदि दृष्टान्तों को भी कवि ने अपनाया है। वेदान्त के सिद्धान्तों का नीचे के सोरठे मे वहुत उत्तम वर्णन है।

"मैं समुझ्यौ निरधार, यह जग काँचौ काँच सौ।
एकै रूप अपार, प्रतिविम्वित लखियतु जहाँ॥"

"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" जो वेदान्त का सार है, उसका सार इस दोहे में आ गया है।

ये महाकवि अपने समय के विज्ञान से भी परिचित थे। नल के पानी से उपमा देते हुए दो स्थानों पर इन्होंने बताया है कि पानी जितने ऊँचे से डाला जाता है उतना ही ऊपर चढ़ता है और फिर वह नीचे ही गिरता है। पानी अपनी सतह तक पहुँचता है। इस सिद्धान्त को वे जानते थे और इसका काव्यमय वर्णन भी उन्होंने अच्छा किया है:—

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥

* * * *

कोटि जतन कोऊ करै, परै न प्रकृतिहिं बीच।
नल-बल जल ऊँचौ चढ़ै, अन्त नीच कौ नीच॥

इसके अतिरिक्त किबलनुमा, गेंद का उछलना, गिरना आदि के वर्णन कवि की वैज्ञानिक रुचि का परिचय देते हैं—

सब ही तनु समुहाति छिनु, चलत सबनु दै पीठ।
वाही तन ठहरात यह, किबलनुमा लौं दीठि॥
नीच हिये हुलसे रहैं, गहे गेंद के पोत।
ज्यों-ज्यों माथैं मारियत, त्यों-त्यों ऊँचे होत॥

दो शीशों के बीच मे जब कोई चीज रखदी जाती है तब उसके अनेक प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं। इस सिद्धान्त को बहु-प्रतिबिम्ब (Multiple images) सिद्धान्त कहते हैं। इस सिद्धान्त को ध्यान में रख कर द्युति वर्णन में कवि ने बड़ा चमत्कार उत्पन्न किया है—

अङ्ग-अङ्ग प्रतिबिम्ब परि, दरपन से सब गात।
दुहरे तिहरे चौहरे, भूषन जाने जात॥

सम्भव है इस दोहे के लिखते समय आमेर के शीश महल का मानसिक चित्र उनके सामने हो। उसमें शीशे के छोटे-छोटे टुकड़े लगे हुए हैं जिनमें एक-एक हाथ या पंजे के सौ-सौ प्रतिबिम्ब दिखाई देते हैं।

बिहारी का शृङ्गार वर्णन—बिहारी शृङ्गारी कवि हैं। उन्होंने शृङ्गार के दोनों ही पक्ष लिये हैं। संयोग और वियोग की सभी अवस्थाओं का अच्छा वर्णन किया है। वियोग में मरण का भी वर्णन बड़े चातुर्य के साथ किया है। हाँ, वियोग में कुछ अत्युक्तियाँ अवश्य हैं जो उपहास की मात्रा तक पहुँच जाती हैं। किसी नायिका को चन्द्र शीतल न लगे, यह बात समझ में आ जाती है किन्तु 'औंधाई सीसी' बीच मे ही सूख जाय यह बात अनुमान से बाहर हो जाती है। मानसिक अवस्था के कारण आन्तरिक अनुभूति में अन्तर पड़ना सम्भव है। किन्तु बाह्य वस्तु की स्थिति में अन्तर नहीं पड सकता। यह दोष कहीं-कहीं जायसी आदि में भी आगया है! हाँ, अतिशयोक्ति में कहने वाले के हृदय को उत्साह अवश्य प्रकट होता है। उसको साधारण बात कहने से सन्तोष नहीं होता। फिर भी 'अति सर्वत्र वर्जयेत' की बात है।

संयोग पक्ष बिहारी का अच्छा है। उसमे सजीवता और जीवन की उछल-कूद दिखाई पड़ती है। गायों के मिल जाने से हृदय मिल जाने की बात में सूर की झलक आजाती है। उनके शृङ्गार-वर्णन की यह और विशेषता है कि उन्होंने आभूषणों को 'दर्पण के मोरचे' अथवा, 'दृग-पग पौंछनकों किए भूषण पायन्दाज' कह कर सौंदर्य में बहुत ही गौण स्थान दिया है। वे नायिका के स्वाभाविक सौन्दर्य पर अधिक भरोसा करते थे। बिहारी ने आश्रय के नेत्रों की विवशता का वर्णन कर (लाज लगाम न मानहीं नैना मो बस नाय; ये मुँह जोर तुरंगलौं ऐंचत हू चलि जायँ) सौन्दर्य के आकर्षण की बड़ी सुन्दर व्यवस्था की है।

बिहारी की अन्य विशेषताएँ—यद्यपि बिहारी शृङ्गारी कवि थे, शृङ्गार सम्बन्धी कोई प्रसङ्ग जैसे—नख-शिख, नायिका भेद, मान, प्रवास, हाव-भाव इत्यादि उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा है और इस वर्णन में स्थान-स्थान पर वे औचित्य की सीमा का भी उल्लंघन कर

गये हैं, तथापि अन्य शृङ्गारी कवियों की भाँति उनका वर्णन उतने में संकुचित नहीं हो जाता। ये सौन्दर्य का व्यापक रूप भी जानते थे। वे उसे नखशिख में न भुलाकर उनसे भिन्न एक विलक्षण पदार्थ मानते थे। नीचे भेदकातिशयोक्ति पूर्ण उक्ति देखिए—

अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरुनि समान।
वह चितवन औरै कछू, जिहि वस होत सुजान॥

क्षण-क्षण मे नवीनता धारण करने के कारण यह अलौकिक सौंदर्य चित्र की सीमा मे वेष्ठित नहीं हो सकता, इसलिए इसके चित्रित करने मे चतुर चितेरे भी क्रूर हो जाते हैं।

भाव-सुकुमारता मे भी विहारी अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखते। देखिए कैसा कोमल भाव है? हृदयस्थल नायक की शान्ति-भग होने के भय से नायिका मान सम्बन्धी सिखावन सुनना नहीं चाहती। वह उसको शब्दों से नहीं मना करती वरन् नेत्रों के सकेत से काम लेती है:—

सखी सिखावत मान विधि, सैननि वरजति बाल।
हरुये कहि मो हिय वसत, सदा विहारीलाल॥

विहारी ने मानवीय प्रकृति का जैसा सूक्ष्म वर्णन किया है, जड़ का वैसा नही किया है किन्तु वसन्त आदि के वर्णन अच्छे किये हैं। वसन्त ऋतु मे मधुछके भौंरो का वडा ही सुन्दर वर्णन किया है:—

कवि रसाल-सौरभ सने, मधुर माधवी-गन्ध।
ठौर-ठौर झौरत झपत भौंर भीर मधु-अन्ध॥

भाषा पर विहारी को पूर्ण अधिकार है। मधुर रस के लिए उन्होंने माधुर्यमयी व्रजभाषा का प्रयोग कर मणि-काचन सयोग उपस्थित कर दिया है। शब्दों के चित्र खिच जाते हैं और हम शब्दों के वहाव में वहने लगते हैं। देखिए:—

सघन कुञ्ज छाया सुखद, सीतल सुरभि समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै, वा जमुना के तीर॥

मिश्रबन्धुओ के शब्दो मे विहारी की कुछ विशेषताएँ—।

(१) काव्याङ्गो के वड़े अच्छे उदाहरण दिये हैं।

(२) अतिशयोक्ति में कलम तोड़दी है।

(३) निरीक्षण व्यापक है। रङ्गों और उनके मिश्रण का अच्छा वर्णन किया है। रङ्गो के मिश्रण का चमत्कार हमको मङ्गलाचरण के दोहे में भी दिखाई पड़ता है—'जातन की झाँई परत स्याम हरित दुति होई'—पीला और नीला मिलकर हरा रङ्ग बन जाता है, इसमें श्लेष का भी चमत्कार है।)

(४) शृङ्गारी कवि होते हुए भी भक्ति-सम्बन्धी उत्तम दोहे लिखे हैं।

(५) कहीं-कहीं हास्य का अच्छा पुट दिया है। जैसे 'को घटि ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर।' वृषभानुजा के दो अर्थ हैं, वृषभानु की लड़की और वृषभ = बैल की अनुजा = बहन। इसी प्रकार हल-धर के वीर के भी दो अर्थ होते हैं। हलधर का एक अर्थ है बैल और दूसरा अर्थ—बलराम, युगल जोडी बैल से सम्बन्धित हो गई।

(६) कविता में कहीं-कहीं उर्दू ढंग भी है।

उपसंहार—

बिहारी ने दोहा-सा प्रचलित छोटा छन्द चुन कर लाघव का गुण खूब निभाया है, फिजूल भर्ती नहीं भरी। अन्य ब्रजभाषा कवियों की भाँति उन्होंने शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा नहीं है। जहाँ तक हुआ शुद्ध रूप रक्खे हैं। यद्यपि गाथा सतशती, आर्या सतशती, शृङ्गार सतसई आदि कई प्राकृत और हिन्दी की सतसई हैं तथापि पैनी दीठ, अनोखी सूझ पद-लालित्य और शब्दो की अर्थ-व्यञ्जना के कारण बिहारी सतसई अद्वितीय है। वह सतसई शृङ्गार-रस का भी शृङ्गार है। अन्य सतसइयों के होते हुए भी सतसई कहने से इसी सतसई का बाध होता है। इसी के कारण कहा गया है—

सतसैया के दोहरा, ज्यौं नावक के तीर।
देखत मे छोटे लगैं, घाव करैं गम्भीर॥

मतिराम

केशव, देव, पद्माकर आदि रीति-काल के प्रधान कवियों के साथ इनकी गणना की जाती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ये चिन्तामणि और भूषण के भाई थे। यद्यपि कुछ लोगों ने इसमें सन्देह प्रकट किया है तथापि बहुमत इस बात के पक्ष मे है। इनका जन्म तिकवाँपुर में संवत् १६७४ के लगभग हुआ था। ये बूंदी के महराज के बहुत काल तक आश्रित रहे और वहाँ 'ललितललाम' नामक अलङ्कार ग्रन्थ लिखा। इनका रस सम्बन्धी ग्रन्थ 'रसराज' बहुत प्रसिद्ध है। रस और अलङ्कार की शिक्षा के लिए इनके ये दोनो ग्रन्थ बड़े काम की चीज हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने साहित्य-सार, लक्षण-शृङ्गार और मतिराम-सतसई तीन ग्रन्थ और लिखे हैं।

कवित्व और आचार्यत्व—यद्यपि इनके लक्षण कहीं-कहीं दूषित हैं तथापि वे सरल और सुबोध हैं। बड़े छन्दों के अतिरिक्त दोहों में दिए हुए इनके लक्षण विशेष रूप से स्पष्ट और सुबोध हैं। इनके उदाहरण केवल उदाहरण ही नहीं हैं वरन् वे काव्य-रस से परिपूर्ण हैं। ये बिहारी की भाँति 'दूर की कौड़ी लाने' तथा वचनों की वक्रता मे इतने निपुण नहीं जितने अपने वचनों की सरलता और स्वाभाविकता में। बिहारी की भाँति न तो इनकी नायिका के विरह के कारण लूएँ ही चलने लगती हैं और न 'औंधाई सीसी' बीच मे ही सूख जाती है। वे पाठक को किसी अलौकिक ससार मे न ले जाकर इसी लौकिक ससार की भूमि में स्वर्गीय सौन्दर्य दिखाने का उद्योग करते हैं। जो बात उन्होंने अपनी नायिका के वर्णन में कही है:—

ज्यों ज्यों निहारिए नैरे ह्वै नैननि,
त्यों त्यों खरी निखरै-सी निकाई।

वह इनके काव्य के लिए भी अक्षरशः सत्य है। कहीं-कहीं मतिराम ने बड़े फड़कते हुए भाव लिखे हैं, और वे उनके सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय देते हैं। इनके काव्य में अलङ्कारों का वृथाडम्बर नहीं है।

वे रस के सहायक और परिपोषक मात्र हैं और उनकी कविता में अपने आप खिंचे हुए चले आते हैं।

भाषा—मतिराम की भाषा उनकी विशेषताओं में से है। रीतिकाल में ऐसी सुन्दर भाषा बहुत कम कवियों में पाई जाती है। इनकी भाषा में स्वाभाविकता की अपूर्व छटा मिलती है। मतिराम में प्रसाद और माधुर्य गुणों का प्राधान्य है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में इनकी भाषा शब्दों की भर्ती नहीं है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भाव व्यञ्जना के अर्थ ही प्रयुक्त हुए हैं। रीति-ग्रन्थ वाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छ चलती और स्वाभाविक भाषा पद्माकर की ही मिलती है। कहीं-कहीं वह अनुप्रास के जाल में जकड़ी हुई पाई जाती है। मिश्रबन्धुओं ने मतिराम की निम्नलिखित विशेषताएँ बताई हैं—

कुछ विशेषताएँ—

(१) मतिराम की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है जो बहुत ही उत्कृष्ट है। मधुर अक्षरों का प्रयोग मतिराम ने प्रायः सबसे अच्छा किया है।

(२) मतिराम ने मानुषी प्रकृति के अतिरिक्त सांसारिक प्रकृति पर विशेष ध्यान नहीं दिया परन्तु मानुषी प्रकृति का बड़ा विशद वर्णन किया है।

(३) मतिराम ने जैसे उत्कृष्ट कवित्त और सवैये कहे हैं वैसे वे दोहे बनाने में भी समर्थ हुए हैं।

(४) मतिराम की रचना में भाषा के माधुर्य के अतिरिक्त अर्थ-गाम्भीर्य का विशेष गुण है।

उदाहरण—

बेलनि कों लपटाइ रही है, तमालन की अवली अतिकारी।
कोकिल केकी, कपोतन के कुल, केलि करें अति आनँद भारी॥
सोच करै जनि होउ सुखी, 'मतिराम' प्रवीन सबै नरनारी।
मंजुल वंजुल कुञ्जन में घन पुंज सखी! ससुरारि तिहारी॥

कुंदन कौ रंगु फीकौ लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि, चितौनि में मंजु विलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं, 'मतिराम' लखे मुसिकानि मिठाई।
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निखरै-सी निकाई॥

* * * *

जानति सौति अनीत है, जानति सखी सुनीत।
गुरुजन जानत लाज है, प्रीतम जानत प्रीत॥
लाल तिहारे संग मैं, खेले खेल बलाय।
मूँदत मेरे नैन हौ, करन कपूर लगाय॥

उदाहरण में दिए हुए पहले सवैये में माधुर्य गुण की पूरी-पूरी झलक मिलती है।

भूषण

आविर्भाव काल—अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के राज्य-शासनों की उदार नीति ने पराजित हिन्दुओं की विरोध और वैमनस्य की ज्वाला को बहुत कुछ शान्त कर दिया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलकर साहित्य, संगीत और कला की अभिवृद्धि में योग देने लग गये थे। किन्तु औरङ्गजेब के कट्टरपन के कारण मन्दीभूत ज्वाला फिर उत्तेजित हो गयी। कला का भी अपेक्षाकृत ह्रास हो गया था और उसके कारण हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक सहयोग के अवसर कुछ कम हो चले थे। हिन्दू लोग अपनी थकावट को दूर कर चुके थे और विषम परिस्थितियों के घात-प्रतिघात के कारण पहले की अपेक्षा उनमें पारस्परिक ईर्ष्या और द्वेष की मात्रा कम रह गयी थी। जातीयता के भाव अंकुरित हो चले थे। मुसलमान शासन से परित्राण पाना ही वीरों का ध्येय हो गया था। जाग्रति के भाव चारों ओर फैले हुए थे। पंजाब में सिक्ख लोग अपने आत्म-बलिदान द्वारा, चिड़ियों द्वारा बाज के शिकार का दृश्य दिखला रहे थे। बुन्देलखण्ड केसरी महाराज छत्रसाल भी अपनी मातृभूमि के परित्राण में लगे हुए

थे। छत्रपति शिवाजी ने समर्थ रामदासजी की दीक्षा में हिन्दू राष्ट्र-निर्माण का बीडा उठाया था—देश में एक नई चेतना उत्पन्न होगई थी।

उस समय कुछ कवि शृङ्गारी परम्परा में पड़े हुए नायक नायिकाओं के हास-विलास के चित्रण में मग्न थे। किन्तु भूषण और लाल ऐसे कवियों का सहानुभूति पूर्ण हृदय देश की करुण पुकार से गुंजरित हो उठा और उनके हृदय से वीररस की धारा वह चली। इन कवियों की वाणी में जातीयता के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने हिन्दू गौरव को बढ़ाया और वीरों के हृदय में स्फूर्ति उत्पन्न की।

कुछ लोग भूषण को भी चाटुकार भाटों की श्रेणी में रखते हैं किन्तु शृङ्गार-प्रधान काल मे वीर रस की कविता करना हृदय की स्वतन्त्रता का परिचायक है। भूषण यद्यपि राज्याश्रय में थे, तथापि उन्होंने विलासी राजाओं का आश्रय नहीं लिया। उन्होंने नर काव्य किया किन्तु उसके लिए सरस्वती देवी को पछताना न पड़ा होगा। भूषण ने स्वयं भी लिखा है—

राम युधिष्ठिर के वरने वलमीकिहु व्यास के अंग सुहानी॥
भूषन यों कलि के कविराजन राजन के गुन गाय नसानी।
पुन्य चरित्र सिवा सरजा सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी॥

भूषण की स्तुति के विषय वास्तविक प्रशंसा के पात्र और अधिकारी थे और इसीलिए उनके काव्य में शक्ति थी। अयोग्य की प्रशंसा में शक्ति नहीं आ पाती। ऐसे लोगों की हँसी फीकी हँसी होती है और उनकी स्तुति में खोखलापन रहता है। यद्यपि वर्तमान राष्ट्रीय दृष्टि से भूषण के कुछ छन्दो को हम अनुदार कहेंगे तथापि उस संघर्ष के समय में उदारता से काम लेना मनुष्य का काम न था, देवताओं का काम था और भूषण देवता न थे। भूषण नितांत अनुदार भी न थे। उन्होंने अकवर, शाहजहाँ की तारीफ भी की है। उन्होंने प्रतिनायक को भी अधिकांश स्थलो में पूरा-पूरा मान दिया है—

सिंह को सिंह चपेट सहै गजराज सहै गजराज को धंका'

कवि-परिचय—जैसा पहले कहा जा चुका है ये वीर कवि मतिराम और चिंतामणि के भाई थे। ये कानपुर तिकवाँपुर के रहने वाले थे और जाति के कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे।

इनके जन्म संवत् के सम्बन्ध में मत भेद है। शिवसिंह सेंगर ने इनका जन्म संवत् १७३८ माना है और मिश्रबन्धुओं ने संवत् १६९२ बतलाया है।

दुज कन्नौज कुल कस्यपी, रत्नाकर सुत धीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा, तरनि-तनूजा तीर॥

चिटनीस और मीर गुलाम अली ने भी इन्हें मतिराम का भाई लिखा है। इनको चित्रकूट के सोलकी राजा रुद्र के यहाँ से कवि भूषण की उपाधि मिली थी और वह उसी नाम से प्रख्यात होगये—

कुल सुलकि चित्रकूटपति, साहस-सील-समुद्र।
कविभूषण पदवी दई, हृदयराम सुत रुद्र॥

यद्यपि ये राज दरबारों में गये तथापि इनकी अपनी चित्त-वृत्ति के अनुकूल शिवाजी और छत्रसाल ही मिले। ये साहूजी के दरबार में भी गये थे। छत्रसाल के दरबार में इनका बड़ा मान था। कहते हैं कि इनके विदा होते समय महाराज छत्रसाल ने इनकी पालकी के नीचे कन्धा लगाया था, तभी उन्होंने लिखा है कि 'साहू को सराहों कै सराहौं छत्रसाल को'। कहीं-कहीं ऐसा भी पाठ है कि 'सिवा को बखानों कै बखानों छत्रसाल को'। भूषण गये तो कई दरबारों में किन्तु उनका चित्त जैसा शिवाजी के यहाँ रमा वैसा और कहीं नहीं। एक सौ दो वर्ष की पूर्णायु में इनका स्वर्गवास हुआ।

पं० भागीरथप्रसादजी दीक्षित ने भूषण को मतिराम और चिन्तामणि के भाई होने में सन्देह प्रकट किया है। उन्होने भूषण को शिवाजी का समकालीन भी नहीं माना है। उनका कथन है कि शिवाजी की मृत्यु, भूषण को रुद्रशाह के यहाँ से भूषण की पदवी प्राप्त होने से पूर्व सं० १६३७ में हो चुकी थी। भूषण की रुद्रशाह से भेंट

१७५७ में हुई। शिवसिंह सेंगर की दी हुई जन्म-तिथि को प्रामाणिक मानते हुए दीक्षित जी कहते हैं कि शिवाजी की मृत्यु भूषण के जन्म से एक साल पहले होगई थी, इसलिए समकालीन नहीं हो सकते। मिश्रबन्धुओं की दी हुई जन्म-तिथि मानने में यह कठिनाई नहीं आती। इस युक्ति में कुछ सार हो सकता है। भूषण का शिवाजी के समकालीन न होने की बात गवेषणा का विषय है और जब तक रुद्रशाह का समय निश्चित न हो, कुछ नहीं कहा जा सकता। दीक्षितजी, भूषण की रुद्रशाह से भेंट १७५० के लगभग मानते हैं और मिश्रबन्धुओं का कहना है कि रुद्रशाह से भेंट १७२८ से पूर्व हुई होगी क्योंकि १७२८ में छत्रसाल ने उनका सब कुछ ले लिया था।

काव्य—इनकी तीन पुस्तकें प्रख्यात हैं—शिवराज भूषण, शिवा-बावनी और छत्रशाल-दशक। शिवराज-भूषण अलङ्कार-ग्रन्थ है। इसमें रीतिकाल का प्रभाव है। 'भूषण-उल्लास', 'दूषण-उल्लास' और 'भूषण हजारा' नाम के तीन ग्रन्थ और बताये जाते हैं। भूषण रीतिकाल के कवि अवश्य थे और उसके प्रमाण में अलङ्कार ग्रन्थ भी लिखे किन्तु अलंकार उनके साध्य न थे वरन वे उनके भावों के प्रकाशन के लिए साधन-मात्र थे। उनके काव्य में उनके हृदय की उमङ्ग का परिचय मिलता है। जैसे देव और मतिराम के हृदय की उमङ्ग शृङ्गार-रस के रूप में प्रवाहित हुई थी, उसी प्रकार भूषण के हृदय की हिलोर वीर-रस मे उमड़ पड़ी थी।

आचार्यत्व—भूषण ने अलङ्कारों का लक्षण ग्रन्थ अवश्य लिखा किन्तु उनका उद्देश्य मुख्य रूप से शिवाजी की प्रशंसा करना था। लक्षण उन्होंने किसी एक ग्रन्थ से नहीं दिये हैं और उसमें कुछ अपनी बुद्धि से भी काम लिया है। लखि चारि ग्रन्थन निज मतो युत 'सुकवि मानहुँ साँच' इसलिए इनके लक्षण प्रामाणिक ग्रन्थों से नहीं मिलते हैं। भूषण ने केवल प्रसिद्ध ही अलङ्कार लिए हैं। उनकी लक्षण भी कहीं-कहीं गड़बड़ है, जैसे पंचम प्रतीप, छेकानुप्रास लाटा-

नुप्रास, सामान्य आदि में है । लक्षणों की गड़बड़ी को आचार्य की स्वतन्त्र सूझ कह भी ले किन्तु कहीं-कहीं जैसे परिणाम, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास विभावना आदि मे उदाहरण लक्षणों के अनुकूल नहीं है। भूषण की महत्ता आचार्यत्व मे नहो है वरन् इस बात में है कि उन्होंने शृङ्गार की पीटी हुई लकीर को छोड़कर वीर रस के उत्कृष्ट उदाहरण उपस्थित किये ।

भाषा—भूषण की भाषा तो ब्रजभाषा ही है, किन्तु उस महाकवि को अपनी वाणी का प्रचार सुदूर दक्षिण में करना था, इसलिए उसकी भाषा खिचड़ी हो गयी है। भूषण ने अपनी भाषा को सुलभ बनाने के लिए शुद्ध संस्कृत शब्दों के साथ शुद्ध विदेशी शब्दों के मिलाने मे भी सकोच नहीं किया है। 'जिनकी गरज सुने दिग्गज बेआब होत मद ही के आबगरकाब होत गिरि हैं', जङ्ग, उमराव, राह, खलक, पील (फील अर्थात् हाथी) आदि शब्द प्रचुर मात्रा मे मिलते हैं। किन्तु वे शब्द ब्रज-भाषा के साथ घुल-मिल गये हैं। सारी शब्द-योजना ओजमयी है। वीर-रस के अनुकूल शब्दों मे भेरी-रव की विकट ध्वनि लक्षित होती है। भूषण ने लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग बहुतायत से किया है। मुहावरो के साथ कवि-समयों और पौराणिक आख्यानों का भी यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। भूषण की भाषा में कहीं-कहीं खड़ी बोली के आकारान्त की ओर झुकाव मालूम होता है। जैसे 'कैद किया, साथ का न कोई बीर बरजा, अफजल का काल आय सरजा'।

कुछ विशेषताएँ—

संक्षेप में भूषण की विशेषताएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं—

१—इन्होंने वीर रस की कविता की है और शिवाजी मे चारों प्रकार का वीरत्व दिखाया है।

२—इनकी वाणी में ओज गुण की प्रधानता है किन्तु वह कुछ अव्यवस्थित-सा है। इसमें टवर्ग और मीलित अक्षर भी माधुर्य के

साथ पाये जाते हैं।

३—इनको हिंदुत्व का पूर्ण अभिमान था।

४—इन्होंने काव्य के साथ-साथ इतिहास का अच्छा निर्वाह किया है।

५—इनके अलङ्कारों के लक्षण कुछ अस्पष्ट और दूषित से हैं। (आचार्यों के परिभाषा से भेद इनका स्वतन्त्र मत 'अपनो मतो' कहा जा सकता है।)

कविता के उदाहरण—

छूटत कमान और गोली तीर बानन के,
मुसकिल होति मुरचान हू की ओट में।
ताही समै सिवराज हाँकि मारि हल्ला कियौ,
दावा बाँधि पर हला वीरभट जोट में॥
भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहैं,
किम्मत यहाँ लगि है जाकी भट झोट में।
ताव दै दै मूँछन कगूँरन पै पाँव दै दै
अरिमुख घाव दै दै, कूदि परे कोट में॥

× × × ×

साज चतुरंग वीर रंग में तरंग चढ़ि,
सरजा सिवाजी जङ्ग जीतन चलत है।
भूषन भनत नाद विहद नगारन के,
नदी-नद मद गब्बरन के रलत है॥
ऐल-फैल खैल भैल खलक में गैल-गैल,
गजन की ठेल-पेल सैल उसलत है।
तारा सो तरनि धूरि धारा में लगत जिमि
थारा पर पारा पारावार

कुलपति मिश्र

ये महाकवि बिहारी के भाग्नेय थे और इन्होंने अपने जन्म से

आगरे को गौरवान्वित किया था। ये जाति के चौबे थे और इनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था। ये अपने मामा के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनका रस-सम्बन्धी ग्रन्थ रस-रहस्य (रचना-काल १७२७ वि०) बहुत प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ मम्मट के काव्य-प्रकाश के आधार पर लिखा गया है। इसमें शब्द-शक्ति का भी निरूपण किया है। इस ग्रन्थ के अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का और पता चला है—१—द्रोण पर्व, २—मुक्ति तरङ्गिणि, ३—नख-शिख, ४—संग्रह-सार, ५—गुण-रस रहस्य। इन ग्रन्थों मे दी हुई तिथियों के आधार पर इनका कविता-काल संवत् १६२४ और १७४३ के बीच में ठहरता है।

देव

जीवनवृत्त—ये इटावे के रहने वाले थे। 'द्योसरिया कवि देव को नगर इटायो वास' मिश्रबन्धुओं ने इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण माना है और आचार्य शुक्लजी ने इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण कहा है। भावविलास के हिसाब से (जिसको उन्होंने सोलह वर्ष की अवस्था में लिखा था) देव का जन्म संवत् १७३० में बैठता है। इनकी पुस्तकों से यह प्रतीत होता है कि वे कई राजा-रईसों के दरबार में रहे किन्तु इनकी चित्तवृत्ति कहीं एक जगह नहीं रमी। शायद इनको अपने मन के अनुकूल आश्रयदाता न मिला। अपने आश्रयदाताओं में ये भोगीलाल से जिनके लिए रसराज-विलास बनाया था अधिक प्रसन्न रहे दीखते हैं। यदि एक ही राजा के आश्रित होते तो शायद इनकी प्रतिभा इतनी सर्वतोमुखी न होती। पर्यटन से इनका ज्ञान व्यापक और विस्तृत हो गया। ये औरङ्गजेब के पुत्र आजमशाह के दरबार में भी रहे थे। वह हिन्दी का बड़ा प्रेमी था। उसको इन्होंने अपने अष्टयाम और भावविलास सुनाये। इन्होंने अपना सुखसागरतरङ्ग नामक ग्रन्थ पिहानी के अकबर अलीखाँ को समर्पित किया था। इस आधार पर उनका सं० १८२४ तक जीवित रहना सिद्ध होता है। इससे प्रतीत होता है कि वे ९४ वर्ष से अधिक जिये।

ग्रन्थ—इनके ग्रन्थों की संख्या कुछ लोग ७२ कहते हैं और कुछ लोग ५२ बताते हैं। इनमें से भावविलास (सं० १७४६), अष्टयाम, भवानीविलास, कुशलविलास, प्रेमचन्द्रिका, जाति-विलास, रसविलास, (संवत् १७८३ में समाप्त हुआ) शब्द-रसायन, सुखसागर-तरङ्ग (१८२४), नीतिशतक, सुजान-विनोद, राग-रत्नाकर, देव-चरित्र, सुन्दरी-सिन्दूर (भारतेन्दु द्वारा किया हुआ देव काव्य का संग्रह ग्रन्थ), शिवाष्टक, प्रेमतरङ्ग, देव-माया प्रपञ्च, देवशतक, वृक्ष-विलास, पावस-विलास, रमानन्दलहरी, प्रेम-दीपिका, सुनलि-विनोद, राधिका-विलास, नखशिख-प्रेम-दर्शन ज्ञात हो चुके हैं। रसविलास और प्रेम-चन्द्रिका में परमोच्च साहित्यिक गौरव है। शब्दरसायन में आचार्यत्व, भाव-विलास में रीति-कथन, वृक्ष-विलास में अन्योक्ति, देवमाया-प्रपञ्च नाटक* में (प्रबोध चन्द्रोदय के ढङ्ग का) धर्म-विवेचन, देव-चरित्र में कृष्णकथा तथा अन्य ग्रन्थों में अन्य अनेकानेक विषय हैं।

इन ग्रन्थों से इनके मानसिक क्रम-विकास का भी थोड़ा पता चलता है। यौवन की तरङ्ग में इन्होंने खूब शृङ्गारिक कविता लिखी है। अन्त में (सत्तर वर्ष की अवस्था के लगभग) इनका झुकाव ज्ञान और वेदान्त की ओर गया है। रीतिकाल के ग्रन्थकारों में शायद ही किसी कवि ने इतनी विस्तृत रचनाएँ की हों। रचना बाहुल्य का यह कारण ज्ञात होता है कि इनके ग्रन्थों में एक दूसरे ग्रन्थ से बहुत-कुछ सामिग्री लेकर दुहराई गई है।

कवित्व और आचार्यत्व—देव आचार्य और कवि दोनों ही रूप में हमारे सामने आते हैं। इन्होंने रीति सम्बन्धी कई ग्रन्थ लिखे हैं और उनमें काव्याङ्गों का अच्छा निरूपण किया है। काव्य रसायन इनका प्रधान ग्रन्थ है किन्तु इनके काव्य शास्त्र सम्बन्धी विचार जानने के लिए भाव-विलास और भवानी विलास का भी पढ़ना आवश्यक है। काव्य रसायन में काव्य-शास्त्र के प्रायः सभी अङ्गों का वर्णन है।

---

* इसके रचयिता दूसरे देव माने जाते हैं।

नव रसों मे शृङ्गार को प्रधानता देते हैं। वृत्तियों (शक्तियों) में वे अभिधा को मुख्यता देते हैं। देव में कुछ नवीनता लाने की प्रवृत्ति अधिक है। वे शान्ति के स्थायी भाव को समबुद्धि मानते हैं। सात्विक भावों को उन्होंने सञ्चारियों के दो भेद कर तन सञ्चारी अथवा कायिक सञ्चारियों मे रक्खा है। अन्य आचार्य उनको अनुभावों के अन्तर्गत मानते हैं। देव ने साधारण सञ्चारियो को मन सञ्चारियों में रक्खा है। देव ने चिन्ता स्मरण गुण कथन आदि विरह की दश-दशाओं के भी, अवान्तर भेद माने हैं। इस प्रकार देव में भेद-प्रभेद करने और कुछ लक्षणों के हेर-फेर करने की नवीनता अवश्य है किन्तु वे सैद्धान्तिक विवेचन में विशेष मौलिकता न ला सके। यह बात और किसी रीति-कालीन आचार्य में भी न थी—

मिश्रबन्धुओं के मत में इन्होंने 'तात्पर्य-वृत्ति' और 'छल' सञ्चारी को मान कर मौलिकता का परिचय दिया है। किन्तु वास्तविक बात ऐसी नही जान पड़ती। 'तात्पर्य वृत्ति' संस्कृत के आचार्यों ने भी मानी है। रीतिकाल के अन्य कवियों की अपेक्षा आचार्यत्व में ये बहुत बढ़े-चढ़े हैं और यदि उनके मुकाबिले के लिए कोई खड़ा हो सकता तो वे केशवदास हैं। यह कहना कठिन है कि देव और केशवदास में आचार्यत्व की दृष्टि से कौन बड़े हैं। किन्तु रीतिकाल के प्रवर्तक होने के कारण केशव का कार्य अधिक स्तुत्य है। केशव में पाण्डित्य अवश्य है पर उनमे देव की-सी स्पष्टता नहीं है। देव के उदाहरण निश्चय ही अधिक सरस हैं, प्रेम का विवेचन बहुत सुन्दर है। कवित्व की दृष्टि से चाहे वे विहारी के बराबर कलाकार न ठहरे तथापि अनुभव का विस्तार और सूक्ष्म दृष्टि में वे विहारी से बड़े हैं। उनकी उद्भावनाएँ कहीं-कहीं बड़ी मौलिक हैं। 'मधु की मखियाँ अखियाँ भई मेरी' 'गोरो-गोरो मुख आज ओरो-सो बिलानो जात' की उक्तियाँ बहुत सुन्दर हैं।

देव की कविता में पद-मैत्री तथा यमक और अनुप्रास मिलने का चमत्कार अच्छा दिखाया गया है। पदों के बीच में अनुप्रास मिलाने

के लिए एक से शब्दों का लाना उनकी भाषा की एक विशेषता-सी है। इस कारण उन्होंने शब्दों को कहीं तोड़ा-मरोड़ा भी है। भाषा का सौन्दर्य जो मतिराम में है वह देव में नहीं। देव की नायिकाओं की भाँति उनकी भाषा भी सालङ्कार है। उनकी भाषा में अलङ्कारों की झनझनाहट खूब सुनाई देती है। देव के कवित्व और भाषा के सम्बन्ध में आचार्य शुक्लजी का मत इस प्रकार है—

"कवित्व-शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी पर उसके सम्यक-स्फुरण में उनकी रुचि-विशेष प्रायः बाधक हुई है। कभी-कभी वे कुछ बड़े और पेचीदे मजमून का हौसला बाँधते थे पर अनुप्रास के आडम्बर की रुचि बीच में उसका अङ्ग-भङ्ग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में रसाद्रता और चलतापन कम पाया जाता है। कहीं-कहीं शब्द-व्यय अधिक है और अर्थ बहुत अल्प।"

"अक्षर-मैत्री के हिसाब से इन्हें कहीं-कहीं अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो एक ओर तो भद्दी तड़क-भड़क दिखाते थे और दूसरी ओर अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुक और अनुप्रास से लिए ये कहीं-कहीं शब्दों को तोड़ते-मरोड़ते ही न थे, वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह से पाया है या जहाँ उसमें कम बाधा पड़ी है वहाँ की रचना बहुत ही सरल हुई है। रीतिकाल के कवियों में ये बड़े ही प्रगल्भ और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे, इसमें सन्देह नहीं। इस काल के कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है। कहीं-कहीं इनकी कल्पना बहुत सूक्ष्म और दुरारूढ़ है।"

मिश्रबन्धुओं के अनुकूल देवजी के काव्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

१—देव ने घनाक्षरियाँ सवैयों से अधिक रची हैं।

२—इनकी कविता में चोरी बहुत कम है। अधिक निर्लज्जता भी नहीं पायी जाती।

३—देव की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। भाषा-साहित्य में देव और मतिराम इन दो कवियों की भाषा सर्वोत्कृष्ट है। मिश्रबन्धुओं की राय में देवजी की भाषा मतिराम की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है क्योंकि इसमें अनुप्रास और यमक का अच्छा चमत्कार है। इन्होंने प्रचलित लोकोक्तियों का अपनी कविता में बड़े मनोरम रूप से प्रयोग किया है। प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थ व्यक्ति, समाधि और उदारता नामक गुण देव की रचना में पाये जाते हैं।

४—देव ने प्राकृतिक वर्णन भी बहुत अच्छे किये हैं। किन्तु बाह्य प्रकृति की ओर इनकी निगाह कम गई है।

५—इनकी कविता में अलङ्कार, गुण, लक्षणा, व्यंजना का चमत्कार अच्छा दिखाई पड़ता है।

६—देव ने ऊँचे ख्यालात बहुत अच्छे बाँधे हैं।

७—देवजी ने बहुत से चोज भी कहे हैं जैसे—

जोगहू से कठिन सजोग परनारी को।

८—देवजी की बहुज्ञता बहुत बढ़ी-चढ़ी है।

देव और बिहारी—मिश्रबन्धुओं ने देव को सूर और तुलसी के पश्चात् स्थान दिया है। इसी कारण साहित्य में देव और बिहारी सम्बन्धी वाद उठ खड़ा हुआ था। पं० पद्मसिंह शर्मा ने और लाला भगवानदीनजी ने बिहारी का पक्ष लिया। इस सम्बन्ध में पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नाम की बहुत ही सुन्दर तुलनात्मक आलोचना लिखी है।

वास्तव में देव और बिहारी दोनों में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। विषय एक होते हुए भी देव ने शृङ्गार के आनन्द का बड़ा सुन्दर और विशद वर्णन किया है। उनकी अनुप्रासमयी भाषा पाठकों को आनन्दलहरी में मग्न कर देती है। बिहारी के वियोग-शृङ्गार की पावकज्वाला पाठकों के कोमल हृदय को पिघला देती है। यद्यपि

विहारी की विरह सम्बन्धिनी अत्युक्तियाँ कहीं-कहीं अस्वाभाविक हो गई हैं तथापि उनमें कल्पना की ऊँची उड़ान दिखाई देती है। 'आली वाढ़त विरह ज्यों पाँचाली को चीर' 'कर ते मीजे कुसुम लौं' आदि बड़े मार्मिक वर्णन हैं। देव के वियोग सम्बन्धी पद भी अच्छे हैं। परन्तु संयोग शृङ्गार का वर्णन उनकी विशेषताओं में से है। वियोग में देव का मान वर्णन बहुत अच्छा है। 'वड़े-वड़े नयनन से आँसू भरि-भरि डारि, गोरो-गोरो मुख आज ओरो सौ विलानो जात' मे थोड़ी अत्युक्ति होते हुए भी वह बहुत ही मनोहर है। विहारी ने नख-शिख के अतिरिक्त व्यापक सौन्दर्य का भी अच्छा वर्णन किया है। सौन्दर्य के वर्णन में विहारी अलङ्कारों के पक्षपाती नहीं। विहारी की कविता मे आभूषण का स्थान बहुत नीचा है। वे किसी कृत्रिम अलङ्करण को नहीं चाहते। अङ्गराग को भी वे आरसी पर के उसास की भाँति शरीर की द्युति को फीका करने वाला समझते हैं। जहाँ कहीं आभूषणों का वर्णन किया है वहाँ शरीर की शोभा के आगे उनको द्युति-हीन वताने के लिए, कहीं तो उनको 'दरपन के से मोरचा' कहा है और कहीं कह दिया है कि 'दृग मग पोंछन को किए भूषण पायंदाज।' देव ने सालङ्कार-नायिकाओं का वर्णन अधिक किया है। सौन्दर्य के आकर्षण को दोनों ही मानते हैं किन्तु विहारी द्रष्टा की रुचि को भी स्थान देकर अधिक मनोवैज्ञानिक हो गये हैं। देव ने सौन्दर्य-सागर मे डूवने वाला आँखों का जो वर्णन किया है, वह बहुत ही सुन्दर है—

धार मैं धाइ धँसी निरधार ह्वै, जाय फँसी, उकसी न अवेरी।
री! अँगराइ गिरी गहरी, गहि फ़ेरि फिरी औ घिरी नहिं वेरी॥
'देव' कछू अपनो वसु ना, रस लालच लाल चितै भईं चेरी।
वेगि ही वूढि गई पंखियाँ, अँखियाँ मधु की मँखियाँ भई मेरी॥

देव ने शुद्ध प्रेम का भी वहुत उत्तम वर्णन किया है। उनका प्रेम का लक्षण बहुत बढ़िया है:—

सुख दुख में है एक सम, तन मन वचन प्रतीत ।
सहज बढ़ै हित चित रहै- जहाँ सप्रेम सप्रीत ॥

किन्तु इसी के साथ विषय जन्य प्रेम के वर्णन में भी वे बहुत बढ़े-चढ़े हैं। बिहारी ने भी प्रेम की तल्लीनता का अच्छा वर्णन किया है—

कीन्हे हूँ कोटिक जतन, अब कहि काढ़े कौन ।
मो मन मोहन रूप मिलि, पानी मे कौ लौन ॥

प्रकृति-पर्यवेक्षण की गहराई तथा विचार की बारीकी में लोग बिहारी को बढ़ा हुआ मानते हैं। स्वयं मिश्रबन्धुओं ने भी इस बात को मानकर अपनी निष्पक्षता का परिचय दिया है। 'मानुषी प्रकृति' के सम्बन्ध की जितनी बातें इस महाकवि ने लिखी हैं और जितने चोज निकालकर रक्खे हैं उनके आधे भी शायद हिन्दी भाषा का कोई अन्य कवि नहीं रख सका होगा। यद्यपि मानवीय प्रकृति के वर्णन के सम्बन्ध में यह कठिन है कि देव और बिहारी में कौन चढ़ा हुआ है, तथापि वाह्य प्रकृति के ज्ञान में बिहारी अवश्य बढ़े हुए दिखाई देते हैं। कपूर-मणि, नल से पानी उठना, किबलनुमा, रङ्गों के मिश्रण, ग्रहों के प्रभाव, फसलों के कटने का क्रम, आरसी पर के उसास का उल्लेख कर बिहारी ने अपनी बहुज्ञता का परिचय दिया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यद्यपि देव ने बिहारी से अधिक-पर्यटन किया था तथापि बिहारी के आश्रयदाता देव के आश्रयदाता से कहीं बड़े थे और उनको संसार सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए अच्छा अवसर मिला था। बिहारी ने उस अवसर से पूर्ण लाभ उठाया था। वास्तव में इस महाकवि के सम्बन्ध में कहे हुए मिश्रबन्धुओं के यह वचन कि 'जाकी पैनी दीठि की मिलत न कहूँ मिसाल' बिलकुल ठीक है। देव ने इस कमी को अपने आचार्यत्व और काव्याङ्गों के वर्णन में पूरा किया है। देव का काव्यांग-वर्णन इतना अच्छा है कि रीति-काल का कोई भी कवि उसकी बराबरी मुश्किल से ही कर सकेगा।

केशव और मतिराम उनके मुकावले में अवश्य खड़े हो सकते हैं। केशव का आचार्यत्व सर्वमान्य है किन्तु उनके उदाहरण इतने सुन्दर नहीं हैं। मतिराम की भाषा और उदाहरण अच्छे हैं किन्तु वे आचार्यत्व में देव को नहीं पाते। विहारी ने यद्यपि लक्षण नहीं लिखे तथापि उन्होंने भावों के भेद और उदाहरण इतने सुन्दर लिखे हैं कि यदि वे क्रम लगाकर लक्षण भी लिख देते तो उनका वहुत सुन्दर रीति-ग्रन्थ वन जाता। तव भी वे आचार्यत्व मे देव की वरावरी नहीं कर सकते। अलङ्कार-विधान में दोनों ही आचर्य वढ़े-चढ़े हैं, किन्तु इसमें इन दोनों कवियों की विशेषताएँ हैं। देव उपमा और स्वभावोक्ति में वढ़े हुए हैं, विहारी ने अत्युक्तियों का अच्छा चमत्कार दिखाया है। विहारी ने नाक, कान, तरयौना, मुक्तन आदि शब्दों के श्लेप से वहुत लाभ उठाया है, किन्तु आजकल इस शब्द जाल मे लोग वहुत कम फँसते हैं।

देव ने भक्ति-ज्ञान तथा वैराग्य आदि आध्यात्मिक विषयों का अच्छा वर्णन किया है। विहारी ने जो आध्यात्मिक विषयों की वानगी दी है, वह भी वहुत सुन्दर है। भापा के सम्वन्ध में दोनों ही कवियों ने वड़ी सुन्दर पदावली की योजना की है।

वास्तव में इन दोनों महाकवियों के गुण इनके छन्द के चुनाव पर भी निर्भर हैं। देव ने अपने विचारों की व्यञ्जना के लिए घनाक्षरी और सवैये चुने हैं और विहारी ने दोहा चुना है। दोनों ही छन्दों की पृथक-पृथक विशेषताएँ हैं। वड़े छन्दों में भावों के पूर्ण विकास की गुञ्जायश रहती है और मन पर जो प्रभाव पड़ता है वह भी कुछ देर तक ठहरता है। छोटे छन्द में गागर में सागर भरने वाले समास गुण का चमत्कार रहता है।

वास्तव में दोनों महाकवि हिन्दी भाषा साहित्य के शृङ्गार हैं। देवताओं में से किसको छोटा कहा जाय और किसको वड़ा। पं॰

कृष्णबिहारी मिश्र के शब्दों में यही कहते बनता है कि बिहारीलाल की कविता यदि जुही या चमेली का फूल है तो देव की कविता गुलाब या कमल का फूल। दोनों में सुवास है। भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न सुगन्ध के प्रेमी हैं।

कविता के कुछ नमूने—

ऐसी जु हौ जानतौ कि जैहै तू विषै के संग,
ऐरे मन मेरे हाथ पाँव तेरे तोरतो।
आज लौ हौं कत नरनाहन की नाहीं सुन,
प्रेम सौं निहारि हेरि बदन निहोरतो॥
चलन न देतो चित्त चञ्चल अचल करि,
चाबुक चितवनीनि मारि मुँह मोरतो।
भारो प्रेम पाथर नगारो दै गरे सौ बाँधि,
राधावर विरद के वारिधि में बोरतो॥

२

धाई खोरि-खोरि ते बधाई पिय आवनि की,
सुनि-सुनि कोरि-कोरि भावनि भरति हैं।
मोरि-मोरि वदन निहारति बिहार-भूमि,
घोरि-घोरि आनँद घरी-सी उघरति है॥
'देव' कर जोरि-जोरि बँदत सुरन, गुरु—
लोगनि के लोरि-लोरि पाँयन परति है।
तोरि-तोरि माल पूरैं मोतिन की चौक,
निवछावरि को छोरि-छोरि भूषन धरति है॥

द्वितीय विभावना का उदाहरण—

राखत है जग को परदा कहुँ आप सजे दिग् अम्बर राखै।
माँग विभूति भंडार भरो पै भरे गृह दास के जो अभिलाखै॥
छाँह करै सिगरे जग को निज छाँह को चाहत है बर साखै।
बाहन है बरदाइक पै बरदायक बाजी औ बारन लाखै॥

यहाँ अपूर्ण कारण से कार्य की सिद्धि दिखाई गई है।

भिखारीदास

ये जाति के श्रीवास्तव कायस्थ थे और इनका निवास स्थान प्रतापगढ़ के पास ट्योंगा ग्राम था। इनका 'काव्य-निर्णय नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसमें काव्य प्रकाश की छाया है। इसके अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रन्थों का और पता चलता है—

रस-साराश, छन्दार्णव-पिंगल, शृङ्गार-निर्णय, नाम प्रकाश, विष्णु पुराण-भाषा, छन्द प्रकाश, शतरंज-शतिका और अमर प्रकाश।

इनका कविता-काल संवत् १७८५ से संवत् १८०७ तक माना जा सकता है। इन्होंने अपने काव्य-निर्णय में प्रायः सभी काव्याङ्गों पर विवेचन किया है। इसमें काव्य के गुण और शब्द की शक्ति आदि अङ्गों पर भी विचार किया गया है। इनकी भाषा साहित्यिक और परिमार्जित है। दासजी ने शब्दाडम्बर और भाषा-चमत्कार की ओर कम ध्यान दिया है। काव्याङ्गों के निरूपण में इन्होंने बड़े संयम से काम लिया है। अपने विषय का प्रतिपादन और भावों का प्रकाशन ही इनका मुख्य ध्येय है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि इनकी कविता नीरस है। दासजी की गणना उच्च कोटि के कवियों में है।

तोषनिधि

इनका निवास-स्थान शृङ्गवेरपुर था और इनके पिता का नाम चतुर्भुज शुक्ल था। इनका 'सुधानिधि' नामक रस-भेद और भाव-भेद सम्बन्धी ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसकी रचना संवत् १७६१ में हुई। विनयशतक और नख-शिख नाम के दो और ग्रन्थों का पता चलता है। इनके लक्षण सुलभ एवं शास्त्र-सम्मत हैं और उदाहरण बड़े सरस और हृदयग्राही हैं।

रसलीन

ये मुसल्मान कवि हैं जिनका पूरा नाम सैयद गुलाम नबी था।

इनका अङ्गदर्पण नाम का ग्रन्थ संवत् १७९४ में लिखा गया था। वे सूक्तियों के चमत्कार के लिए बड़े प्रसिद्ध हैं। 'अमी हलाहल मद भरे सेत स्याम रतनार' वाला प्रसिद्ध दोहा इन्हीं का है। लोग इसको भूल से बिहारी का समझते हैं।

दूलह

ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे। इनका रचना-काल सवत् १८०० से १८२५ के लगभग माना जाता है। कवि-कुल-कण्ठाभरण इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ कवित्त और सवैयों में है। इन्होंने एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण दिये हैं। इनका अलङ्कारों का विवेचन बड़ा स्पष्ट और सुबोध है। इसीलिए किसी कवि ने कहा है—और बराती सकल कवि, दूलह दूलह राय'।

उदाहरण रूप दूलह का दिया हुआ व्यतिरेक का लक्षण और उदाहरण देखिए—

व्यतिरेक (त्रिविध)—

उपमेय उपमान तें विशेष व्यतिरेक सो,
अधिक न्यून सम, त्रिविध बखानौ है।
कहैं कवि दूलह निहारे चकचौंधी लगे,
कुन्दन सो रूप पै सुगन्ध सरसानौ है॥
सुन्दर सरस सुकुमार मुख कमल-सो,
रवि को उदोत होत ही में कुम्हलानो है।
घनश्याम ही में बसै जगर-मगर होति,
दामिनी औ कामिनी कहेई भेद जानो है।

बेनी बन्दीजन

ये बेंती जिला रायबरेली के रहने वाले थे और अवध के प्रसिद्ध वजीर टिकैतराय के आश्रय में रहते थे। ये हिन्दी के हास्य और व्यंग्य लेखकों में बहुत प्रसिद्ध हैं। इन्होंने सूमों की बड़ी खबर ली है।

पाठकों के विनोदार्थ का उदाहरण दिया जाता है।

आध पाव तेल में तैयारी भई रोशनी की,
आध पाव रुई में पोशाक भई वर की।
आध पाव छाले के गिनौरा दियो भाइन को,
माँगि-माँगि लायौ है पराई चीज घर की॥
आधी-आधी जोरि बेनी कवि की बिदाई कीनी,
ब्याहि आयौ जब तैं न बोले बात थिर की।
देखि-देखि कागद तबियत हुमादी भई,
सादी काह भई बरबादी भई घर की॥

बेनी प्रवीन

ये लखनऊ के रहने वाले बाजपेई ब्राह्मण थे। इनका 'नवरस-तरङ्ग' नाम का ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है और अब वह प्रकाशित भी हो गया है। यद्यपि पुस्तक का नाम 'नवरस तरङ्ग' है तथापि इसमें विशेषकर शृङ्गार और नायिका-भेद का ही वर्णन है। अन्य रसों का वर्णन बहुत ही संक्षेप में है। यह हाल प्रायः सभी रीति ग्रन्थों का है। ऋतुओं का वर्णन परम्परा के अनुसार उद्दीपन विभाव के रूप में हैं और उसमें तत्कालीन ऐश्वर्यवान लोगों की भोग-विलास की सामग्री का चित्रण अच्छा है। भाषा पर इनको बहुत अच्छा अधिकार था। इनकी ब्रजभाषा मतिराम और पद्माकर के टक्कर की है। इनके सवैये बड़े चुभते हुए हैं।

पद्माकर

ये बाँदे के रहने वाले तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मोहनलाल भट्ट था। ये पन्ना के महाराज हिन्दुपति के गुरु थे। इन का जन्म संवत् १८१० में हुआ। और ८० वर्ष की आयु में इनका स्वर्गीवास हुआ। कई राजदरबारों में इनका बड़ा मान था। रस के विद्यार्थियों में इनका 'जगद्विनोद' बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि इन को मिश्रबन्धुओं के नवरत्न मे स्थान नहीं मिला तथापि आचार्य

शुक्लजी के मत से रीति परम्परा के ये परमोत्कृष्ट कवि हैं। पद्माकर जी के सम्बन्ध में शुकलजी का मत इस प्रकार है—"लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं-कहीं ये मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्तिमान कर देते है कि सुनने वाले का हृदय आप से आप हामी भरता है। यह लाक्षणिकता भी इनकी बड़ी विशेषता है।"

जगद्विनोद के अतिरिक्त इनके आठ और ग्रन्थ हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—हिम्मत वहादुर विरुदावली, पद्माभरण, जयसिंह विरुदावली, अलीजाह प्रकाश, हितोपदेश, रामरसायन, प्रवोध पचासा और गङ्गालहरी।

पद्माकर ने वीर-रस की भी कविता की है किन्तु वे उसमें उतने सफल नहीं हुए हैं जितने कि शृङ्गार रस की कविता में। इनकी रचनात्मक कविताओं में अनुप्रासों का प्राचुर्य पाया जाता है जो कहीं-कहीं अरुचिकर हो जाता है। इनकी कविता के दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

कूलन में केलि में कछारन में कुञ्जन में,
क्यारिन में कलित कलान किलंकत है।
कहै पद्माकर परागन में पौन हूँ में,
पानन में पीक में पलासन पतंग है॥
द्वार में दिसान में दुनी में देस-देसन में,
देखो दीप दीपन में दीपति दिगंत है।
वीथिन में ब्रज में नवेलिन में वेलिन में,
वनन में बागन में वगरयो बसंत है॥

* * * *

तालन पै ताल पै तमालन पै मालन पै,
वृन्दावन वीथिन बहार बंसीवट पै।
कहै पद्माकर अखण्ड रासमण्डल पै,
मंडित उमड़ि महा कालिंदी के तट पै॥

छिति पर छान पर छातन छतान पर,
ललित लतान पर लाडिली के लट पै।
आई भले छाई यह सरद जुन्हाई जिहि,
पाई छवि आज ही कन्हाई के मुकट पै॥

ग्वाल

ये मथुरा के रहने वाले ब्रह्मभट्ट थे। इनके पिता का नाम सेवाराम था। इनके ऊपर रीतिकाल का प्रभाव पूरी तौर से था। इन्होंने सब ऋतुओं का वर्णन किया है, उन्हीं के साथ तत्कालीन-वैभव का भी अच्छा चित्रण है। देखिये:—

जेठ को त्रास जाके पास ये विलास होय,
खस के मवास पै गुलाव उछल्यौ करै।
बिही के मुरब्बे डब्बे चाँदी के वरक भरे,
पेठे पाठ केवरे में वरफ परयौ करै॥
ग्वाल कवि चन्दन चहल में कपूर चूर,
चन्दन अतर तर वसन खरयौ करै।
कज मुखी कंज नैनी कंज के बिछौनन पै,
कंजन की पंखी कर कंज ते करयौ करै॥

इन्होंने रसिकानन्द, रसरङ्ग, कृष्णजू का नख-सिख और दूषण-दर्पण नाम के चार ग्रन्थ लिखे हैं। और भी कई छोटे-छोटे ग्रन्थ जैसे गोपीपचासी, रामाष्टक, कृष्णाष्टक इन्होंने लिखे हैं। साधारण जनता में इनकी कविता का प्रचार अच्छा है। आगरा नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में इनके कुछ और भी ग्रन्थ मिले हैं।

रीतिकाल के अन्य कवि

रीतिकाल संवत् १७०० से १६०० तक है। इस बीच में होने वाले सभी कवियों ने रीति-ग्रन्थ लिखे। कुछ लोगों ने रीति-ग्रन्थो की पर-

म्परा में न पड़ कर शृङ्गार, वीर, भक्ति आदि रसों की कविता की है। इनमें कुछ लोग तो ऐसे हैं ('घनानन्द', 'नागरीदास', श्री वृन्दावन चाचा) जिनका नाम भक्तिकाल के कवियों के साथ ही उल्लेख होना चाहिए। इस काल के कुछ कवियों ने प्रबन्ध-काव्य तथा स्फुट लीलाओं से सम्बन्ध रखने वाले 'दान-लीला', 'मानलीला', 'जल-विहार' आदि वर्णनात्मक प्रबन्ध भी लिखे हैं।

इस काल में नीति, ज्ञान भक्ति, वीरगाथा आदि सभी विषयों के सम्बन्ध में काव्य लिखा गया है।

सबलसिंह चौहान

इन्होंने सारे महाभारत की कथा दोहा चौपाइयों में लिखी है। इनका महाभारत संवत् १७१८ और संवत् १७८१ के बीच में पूरा हुआ था। इनकी भाषा बहुत सरल और सुबोध है। साधारण श्रेणी के लोग इनकी कविता से लाभ उठा सकते हैं।

वृन्द

ये मेड़ते के रहने वाले थे और कृष्णगढ़ नरेश महाराज राजसिंह के गुरू थे। इनकी 'वृन्द सतसई' जो संवत् १७६१ में लिखी गई थी, लोक-नीति संबन्धी दोहों के कारण बहुत प्रसिद्ध है।

बैताल

ये जाति के वन्दीजन थे। शिवसिंह सरोज मे इनका जन्म संवत् १७३४ में बतलाया गया है। इन्होंने गिरधर के समान कुण्डलियाँ लिखी हैं और ये विक्रम को (बैताल कहै विक्रम सुनो) सम्बोधित हैं।

आलम

ये जाति के ब्राह्मण थे पर शेख नाम की रँगरेजिन के प्रेम-पाश में फँस कर मुसलमान हो गये थे। इनका कविता काल सं १७४० से संवत् १७६० तक माना जाता है। इनकी कविताओं का संग्रह 'आलम केलि' के नाम से निकला है। 'माधवानल काम-कन्दला' नाम की

इन्होंने एक प्रेम-कहानी भी लिखी है। इनकी स्त्री शेख बड़ी चतुर और वाकपटु थी। इन्होंने उर्दू भाषा में भी कवित्त लिखे हैं। इनकी कविता किसी परम्परा के अनुकरण में न होने के कारण सच्चे हृदय की अनुभूति का परिचय देती है।

गुरु गोविन्दसिंह

ये सिखों के दशम और अन्तिम गुरु थे। पूर्ण सिपाही होते हुए भी ये साहित्य के बड़े प्रेमी थे। यद्यपि सिख सम्प्रदाय में निर्गुण-भक्ति का प्राधान्य है तथापि इन्होंने अपने 'चण्डी चरित' आदि ग्रन्थों में सगुणोपासना की भावना प्रकट की है। 'चण्डी चरित' की रचना बड़ी ओजपूर्ण है। ये पंजाबी होते हुए भी बड़ी साहित्यिक ब्रज भाषा लिखते थे। 'सुमति प्रकाश', 'सर्वलोह-प्रकाश', 'प्रेमसुमार्ग' और 'बुद्धि-सागर' इनके अन्य ग्रन्थ हैं।

लाल कवि

जिस प्रकार भूषण ने शिवाजी के सम्बन्ध में वीर काव्य रचा, उसी प्रकार लाल कवि ने बुन्देलखण्ड केशरी महाराज छत्रसाल की गुणावली का गान किया है। इनका पूरा नाम गोरेलाल पुरोहित था। इनके पूर्वज आंध्र देश के रहने वाले थे और जाति के भट्ट उपाधिधारी तैलंग ब्राह्मण थे। महाराज छत्रसाल सम्बन्धी इनके दस ग्रन्थ कहे जाते हैं। उनमें 'छत्रसाल-प्रकाश' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इनका यह 'छत्रसाल-प्रकाश' काव्य ग्रन्थ होते हुए भी पूर्णतया ऐतिहासिक है। इसमें वर्णित घटनाएँ इतिहास के अनुकूल हैं। इनका काव्य बड़ा ओजपूर्ण है और प्रबन्धकाव्य की दृष्टि से भी बहुत अच्छा है। वाक् वैचित्र्य और काव्य की कलाबाजियों से ये बहुत दूर रहे हैं, किन्तु इनकी भाषा में स्वाभाविक ओज है और इस कारण वह बड़ी हृदय-ग्राहिणी है। इनके युद्ध के वर्णन बड़े सजीव हैं। इनके वर्णनों में जीवन के व्यापक सिद्धान्तों का भी अच्छा समावेश हुआ है। इन्होंने

अपनी कविता दोहा-चौपाइयों में लिखी है। इनकी कविता के उदाहरण में कुछ चौपाइयाँ नीचे दी जाती हैः—

तिहुँ लोक चंपति जस जाग्यौ। सुनि-सुनि को न हिए अनुराग्यौ॥
नृपति पहार करी जे घातें। ते अगनी कहिबे को बातें॥
जग में करो जे कृतु मानै। ताकी करी लटी उर आनै॥
तिनके थल जे बने बनाये। नृपति पहार सिंह ते पाये॥
सदा न जग में जीवै कोई। जस अपजस कहिवे को होई॥

गिरधर कविराय

इनका जन्म सवत् १७७० में माना गया है। ये बहुत लोकप्रिय कवि हैं और इनकी नीति सम्बन्धी कुण्डलियाँ बहुत प्रख्यात हैं। इनको संसार का अच्छा अनुभव था। इनकी कुण्डलियों मे काव्य की मात्रा कम है और तथ्य कथन की प्रवृति अधिक है।

चाचा हित वृन्दावनदास—इनका जन्म १७६५ में हुआ था। राधा वल्लभीय सम्प्रदाय में इनका बड़ा ऊँचा स्थान है। इनकी वाणी चाचाजी की वाणी के नाम से प्रख्यात है। इनके भी एक लाख पद बताये जाते हैं जिनमें से प्रायः २०००० पद यत्र-तत्र मिले हैं। छत्तरपुर राज्य के पुस्तकालय में इनकी वाणी का अच्छा सग्रह है। इनकी कविता का एक उदाहरण दिया जाता है—

खेमटा

प्रीतम, तुम मो दृगनि बसत हो।
कहा मेरों सैहै पूछत हौ, कै चतुराई करि जु हँसत हौ?
लीजै परखि स्वरूप आपनौ, पुतरिन में तुम्हीं जु लसत हौ।
वृन्दावन हित रूप, रसिक तुम, कुञ्ज लड़ावत हिय हुलसत हौ॥

सूदन

ये मथुरा के रहने वाले माथुर चौबे थे और भरतपुर के महाराज सुजानसिंह उपनाम सूरजमल के यहाँ रहते थे। इन्होंने अपने आश्रयदाता का चरित्र अपने 'सुजान-चरित्र' में बड़ी अच्छी तरह से वर्णन

किया है। यह वीर-रसात्मक ग्रन्थ है और इसमें महाराज सूरजमल की लड़ाइयों का बड़ा विशाद वर्णन है। भूषण की भाँति इनकी कविता में ओजवर्धक टवर्ग और द्वित्तवर्णों का अधिक प्रयोग हुआ है। इन्होंने ध्वन्यात्मक फड़कत, कड़कन आदि शब्दों का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। नाम गिनाने की भी प्रवृत्ति इनमें अधिक है। इन्होंने भिन्न-भिन्न प्रान्तों की भाषा का अच्छा प्रयोग किया है। इनकी कविता का एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

बजी चारिहू ओर तें टाप बाजी। मनो मेह आषाढ़ की बूँद गाजी ॥
पुकारें दुहू ओर के वीर हाँ हाँ। करी भौंह बाँकी चढाई सु बाहाँ ॥
छुटी बान कम्मान दम्मान मारी। किहूँ माल भाले बरच्छी सँभारी ॥
इतै जट्ट छुट्टे उतै साहि सेना। मिले जुद्ध कौ उद्ध में कुद्ध नैना ॥
कहूँ चाप टंकार हुक्कार पारी। कहूँ धूक बन्दूक की जाल झारी ॥
टुटं सार सन्नाह झन्नाहटे सौं। परें छूटि के भूमि खन्नाहटे सों ॥
भुसंडीनु फुट्टे महाँ पिट्टि लुट्टे। छुरी खाद हुट्टे सरों फेरि जुट्टे ॥

बोधा

ये राजापुर के रहने वाले सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनका जन्म सं० १८०४ में बताया जाता है। 'विरह बारीश' और 'इश्कनामा' इनके दो ग्रन्थ हैं। पन्ना दरबार की सुभान नामक वेश्या के विरह में इनका 'विरह बारीश' लिखा गया है।

सम्मन

इनका जन्म संवत् १८३४ में हुआ था। ये मल्लावाँ जिला हरदोई के रहने वाले और जाति के ब्राह्मण थे। इनके नीति के दोहे गिरधर की कुण्डलियों की भांति बहुत लोकप्रिय हैं।

दीनदयाल गिरि

ये जाति के गुसाईं थे! इनका जन्म सं० १८५९ वि० में काशी नगर में हुआ था। बाबू हरिश्चन्द्रजी के पिता गोपालचन्द्रजी से इनका

बड़ा मेल था। ये संस्कृत भी जानते थे। इन की 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' हिन्दी-साहित्य मे अनूठी चीज है। 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' के अतिरिक्त इनकी निम्नलिखित पुस्तकें और भी मिलती है—अनुराग बाग (सं० १८८८), वैराग्य दिनेश (स० १९०६), विश्वनाथ-नवरत्न और दृष्टान्त तरङ्गिणी (सं० १८७९) ये अपनी अन्योक्तियों के लिए प्रसिद्ध हैं। इनकी कुछ अन्योक्तियाँ रहस्यात्मक भी हैं।

ठाकुर

ठाकुर नाम के तीन कवि हुए हैं—दो असनी के और तीसरे बुन्देलखण्डी। तीसरे ठाकुर कवि ने बड़ी ख्याति पायी। इन ठाकुर का जन्म सं० १८२३ में ओड़छा में हुआ था और ये जाति के कायस्थ थे। ठाकुर कवि का पूरा नाम ठाकुरदास था। शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् ये जैतपुर नरेश के दरबार में जा रहे, जहाँ इनका बड़ा नाम हुआ। कभी-कभी इनकी पद्माकर से अच्छी नोंक-झोंक हो जाया करती थी। इनका परलोवास सं० १८८० वि० के लगभग हुआ। ये बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति के और देशप्रेमी थे। इनकी कविता बड़ी सरल और स्वाभाविक होती थी। इन्होंने अपनी कवितामे लोकोक्तियों का बड़ा अच्छा प्रयोग किया है। इनके सवैये बड़े लोक प्रिय हैं। इन्होंने जनता की रुचि के अनुकूल वसन्त, फाग आदि विषय लिखे है।

पजनेस

ये पन्ना के रहने वाले थे और इनका कविता-काल १९०० के निकट माना जाता है। इनकी स्फुट कविताओं का संग्रह 'पजनेस प्रकाश' के नाम से मिलता है।

नवीन युग

गद्य का विकास

परिस्थिति मे परिवर्तन—यद्यपि रीतिकाल के अन्तिम भाग मे मौलिक कविता वहुत कम हुई तथापि कविता के विस्तार और विचार की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है। कविता चुने हुए लोगों की वस्तु न रह कर लोकव्यापी हो गयी थी। शृङ्गार-रस के कवित्त, सवैये प्रायः बहुत से लोगों को कंठस्थ हो गये थे। समस्या-पूर्ति की प्रथा चल पड़ी थी। कविता तो वहुत होती थी किन्तु उसमें विषय-वैविध्य कम था। कवियों की सारी शक्ति या तो अलङ्कार और नायिका-भेद के उदाहरण उपस्थित करने में केन्द्रित रहती थी या वे शृङ्गार के स्फुट छन्द लिख लेते थे। अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में पद्य रचना करना स्वाभाविक ही था, वहुत वढ़े तो नीति के दोहे और कुण्डलियाँ रच डालीं। कहीं-कहीं सच्चे वीर-रस के छींटे भी मिल जाते थे। कविता का अर्थ एक वँधी हुई रीति पर चलना रह गया था। इसी कारण उस समय कविता का वाहुल्य था। सिंह और सपूतों की भाँति लीक छोड़ कर चलना लोग वहुत कम जानते थे। साहित्य का वातावरण सौरभमय होते हुए भी उन्मुक्त न था। उसमें नव-विकसित सुमनों के सद्य-सौन्दर्य से समन्वित प्रातः समीरण के सौरभ की स्फूर्तिदायिनी शक्ति न थी वरन् शीशी में वन्द इत्र की विलासमयी मादकता थी। व्रजभाषा ही कविता का माध्यम थी। अलङ्कारों से लद कर इसमें कुछ शैथिल्य-सा आ गया था। सूर, मतिराम, घनानन्द, रसखान आदि कवियों की भाषा में जो स्वाभाविक-सौन्दर्य और सजीवता थी वह न रही थी।

काव्य में राजदरबारों की गुलगुली गिलमें और गलीचों के विलासमय जीवन की छाप थी। कविता में सुलाने की सामग्री अधिक थी, जगाने और जिलाने की कम। निद्रा के पश्चात् उद्बोधन का समय आता है। अँग्रेजी राज्य के आने से लोगों का ध्यान जीवन की कठोर वास्तविकताओं की ओर गया। जीवन संग्राम बढ़ा और साथ ही जातीय जीवन की भी जागृति हुई।

यद्यपि भूषण और लाल ने हिन्दुत्व के रूप में जातीय जीवन का बीजारोपण कर दिया था तथापि जाति की मोह-निद्रा भंग नहीं हुई थी। वीर गाथा काल मे तो एक-एक राज्य ही अपने को देश समझता था और अपने भाइयों को नीचा दिखलाने मे ही वीरता केन्द्रस्थ थी। कवि लोग भी 'जिसका खाना उसका गाना' वाले सिद्धान्त को मानने वाले थे। उनके आश्रयदाता का पक्ष बुरा हो चाहे भला इसकी उनको परवाह न थी। भूषण के समय में कुछ सङ्गठन के भाव दिखलाई पड़े थे और हिन्दुओं की लाज रखने की दुहाई दी जाने लगी थी। अँग्रेज और अन्य विदेशी सभ्यताओं के संघर्ष और घात-प्रतिघात से घोर जागृति हुई। लोग अपनी सभ्यता को महत्व देने लगे। जनता ने अपने राजनैतिक अधिकारों को समझा और अपने राष्ट्रीय भाव को प्रकट करना चाहा।

मुसलमानों ने अपने धर्म का प्रचार बुद्धिवाद के आधार पर न करके तलवार के जोर से करना पसन्द किया था। अँग्रेजों ने अपने धर्म का प्रचार बुद्धिवाद से करना चाहा। हिन्दू लोगों ने विदेशी धर्मों की तुलना में श्रेष्ठ ठहराने के लिए अपने धर्म को बुद्धिवाद के आलोक में परिष्कृत करना आरम्भ किया। राजा राममोहनराय ने ब्रह्म-समाज की और महर्षि दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना की।

ऐसे बुद्धिवाद और प्रतिद्वन्द्विता के समय में जनता के भावों के प्रकाशन के लिए पद्य उपयुक्त माध्यम नहीं हो सकता था। पद्य में

कहीं-कहीं भाव और भाषा को छन्द और लय के अनुकूल करना पड़ता है। कवियों के मनोराज्य में तो थोड़ी बहुत उलटफेर की गुञ्जाइश रहती है, किन्तु जहाँ भौतिक स्वार्थों के हेतु और अपना घोड़ा एक कदम आगे बढ़ा ले जाने के लिए एक एक शब्द की नाप-तोल हो या बाल की खाल निकालने का प्रयत्न किया जाय वहाँ पर शब्दों का ही मूल्य होता है, छन्द का नहीं। उस समय के लोगों की मनोवृत्ति उस जाट की-सी हो गई थी जिसने कहा था कि 'तुक न मिली तो क्या हुआ बोझों तो मरेगा।' तुक मिलाने की अपेक्षा शब्दों का अर्थ-गौरव तोलने की ओर झुकाव हो चला था। संस्कृत में भी जो सूक्ष्म विवेचन होता था वह गद्य की वृत्तियों और टीकाओं द्वारा ही होता था।

प्राचीन समय में वैज्ञानिक ग्रन्थ भी पद्य में लिखे जाते थे। इसका कारण यह था कि मुद्रण कला के अभाव में पुस्तकों का कंठस्थ करना ही अधिक श्रेयस्कर समझा जाता था। इसलिए "विद्याकंठ और द्रव्य गंठ" की लोकोक्ति चल पड़ी थी पद्य की तुक और लय उसे कंठस्थ करने में सहायक होती थी। मुद्रण-यन्त्रों के अभाव में पद्य कम से कम पुस्तकों की रक्षा के लिए आवश्यक हो गया था।

उपर्युक्त कारणों से अंग्रेजी राज्य के साथ-साथ गद्य का युग आया। इसका यह अभिप्राय नहीं कि पद्य का सर्वथा ह्रास हो गया था अथवा इसके पूर्व गद्य का अत्यन्त अभाव था, क्योंकि गद्य तो गोरखनाथ ने भी लिखा था। भावों और मनोवेगों के प्रकाशन के लिए पद्य स्वाभाविक माध्यम है किन्तु जीवन की साधारण आवश्यकताओं के लिए पद्य लिखना हास्यप्रद हो जाता है। नवीन युग में भावों और मनोवेगों को स्थान अवश्य है क्योंकि उसके बिना जीवन शुष्क और नीरस हो जाता है, किन्तु जीवन की साधारण आवश्यकताएँ हमारे सामने कुछ अधिक उग्र रूप में आती हैं, उनके लिए हमें गद्य का ही सहारा लेना पड़ता है।

गद्य की भाषा—गद्य के लिए यह प्रश्न था कि वह किस भाषा में लिखा जाय। ब्रज-भाषा में थोड़ा-बहुत गद्य जैसे जीवनियाँ—चौरासी वैष्णवों और दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता और कुछ टीकाएँ भी अवश्य लिखी गई थीं। राजस्थानी में भी पत्र-परवाने आदि मिलते हैं, किन्तु इनसे गद्य-साहित्य का यथेष्ट विकास न हुआ क्योंकि जनता की रुचि पद्य की ओर अधिक थी। पद्य में ब्रजभाषा का साम्राज्य था किन्तु नवीन युग के आजाने पर उसकी कोमल-कान्त पदावली जीवन की संघर्षमय कठोर भूमि के लिए अनुकूल सिद्ध न हो सकी। ब्रज-भाषा गद्य के उपयुक्त न ठहरी। अरबी-फ़ारसी भी व्यवहार योग्य भाषाएँ न थीं। राज-दरबार से फ़ारसी का चलन उठ गया था। उर्दू ने उसका स्थान ले लिया था। मेकॉले ने अँग्रेजी-शिक्षा पर अधिक जोर दिया। लेकिन न उर्दू जनता की भाषा थी और न अँग्रेजी। अँग्रेज लोग भी इस बात को स्वीकार करते थे, यहाँ तक कि पादरी लोगों ने अपनी बाइबिल का अनुवाद पहले-पहल हिन्दी में किया था। इस सम्बन्ध में पादरी विलियम केरे (William Carey) का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। अफ़सर शासन के सुभीते के लिए जनता की भाषा से परिचय प्राप्त करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने फोर्ट विलियम के मदरसे में उर्दू के अतिरिक्त हिन्दी भाषा (खड़ी बोली) के अध्ययन-अध्यापन का प्रबन्ध किया। इस समय जान गिलिक्रिस्ट आदि अफ़-सरों की प्रेरणा से कुछ ग्रन्थ भी लिखे गये।

यद्यपि खड़ी बोली का अस्तित्व खुसरो और कबीर से भी पूर्व था और गङ्ग आदि ने इसका प्रयोग पद्य में भी किया तथापि वह जनता की भाषा रही, साहित्यिक भाषा न हो सकी क्योंकि साहित्यकार पद्य की ओर अधिक झुके हुए थे जिसमें कि ब्रजभाषा और अवधी का चलन था। जनता की भाषा होने के कारण यह गद्य के लिए विशेष उपयुक्त थी।

खड़ी बोली के प्रारम्भिक चार लेखक

खड़ी बोली में गद्य लिखने का सूत्रपात करने का श्रेय चार महानु-

भावों को है। मुंशी सदासुखलाल और इन्शाअल्लाखाँ ने स्वान्तः सुखाय और लल्लूलाल और सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम की छात्र-छाया में अँग्रेजी अफ़सरों की प्रेरणा से लिखा है। इनका कार्य प्रायः १८६० के निकट आरम्भ हुआ। इससे पूर्व उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से पहले संवत् १७६८ में रामप्रसाद निरञ्जनी ने भाषा योग-वाशिष्ठ लिखी और संवत् ११९८ में प० दौलतराम ने हिन्दी में जैन पद्मपुराण का अनुवाद किया। इनमें हमको खड़ी बोली का अच्छा नमूना मिलता है। श्री रामप्रसाद निरञ्जनी की योग-वशिष्ठ से उदाहरण स्वरूप एक उद्धरण नीचे दिया जाता है।

"रामजी ने पूछा, हे भगवन्! तुम कहते हो कि जगत् अविद्यमान है पर अज्ञान से स्वप्ने की नाईं सत्य भासता है इससे विद्यमान भी है और जैसे स्वप्न का नगर शून्य रूप है तैसे ही यह जगत् अज्ञान रूप है। सो अज्ञान क्या है और कितने काल की अविद्या हुई है, किसको है और इसका प्रमाण कहिये? वशिष्ठजी बोले, हे रामजी! जो कुछ तुमको जगत् दृष्टि आता है सो सब अविद्या है।"

सदासुखलाल

(सं० १८०३-८१) ये दिल्ली के रहने वाले थे और इनका उपनाम 'नियाज' था। इन्होंने उर्दू और फारसी में कई पुस्तकें लिखी हैं और शायरी भी पर्याप्त मात्रा में की है। ये पहले ईस्ट इण्डिया कम्पनी में नौकर थे और ६५ वर्ष की अवस्था में नौकरी छोड़ कर तीर्थ वास करने प्रयाग चले गये थे। मुन्शीजी बड़े भगवद्भक्त थे और उन्होंने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से जन सुलभ भाषा में श्रीमद्भागवत का उल्था किया जो 'सुखसागर' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने पूर्वी प्रान्त में रहने वाले हिन्दुओं की बोलचाल की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का पुट देकर उसे साहित्यिक रूप दिया। इनकी भाषा में कहीं-कहीं फारसी व्याकरण का प्रभाव दिखलाई पड़ता था,—जैसे 'बीच पढ़ने

स्तोत्र व करने ध्यान नारायणजी के लीन हुए ।' 'सुखसागर' एक धार्मिक ग्रन्थ होने के कारण कथावाचक पण्डितों के प्रभाव से खाली नहीं है ।

लल्लूलालजी

(स० १८०२—८२) ये आगरे के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे । सवत् १८६० में इन्होंने प्रेमसागर नाम का ग्रन्थ लिखा । इसमें श्रीमद्भागवत् की दशमस्कन्ध की कथा का वर्णन है । इनकी भाषा की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१—कृष्णोपासक कथावाचकों की सी ब्रज मिश्रित खड़ी बोली है ।

२—अकबरी दरबार के गङ्ग और इनकी भाषा में इतना ही अन्तर है कि गङ्ग ने फारसी, अरबी के भी कुछ प्रचलित शब्द रक्खे हैं और लल्लूलाल जी ने ऐसे शब्दों का बहुत कम प्रयोग किया है । 'बेरख' आदि तुरकी भाषा के जो शब्द अनजान में आगये हैं उनकी दूसरी बात है ।

३—तुक और अनुप्रास का बाहुल्य-सा है ।

४—वाक्य-कहीं-कहीं बड़े हो गये हैं और मुहावरों का प्रयोग कम है । उनकी भाषा का नमूना नीचे दिया जाता है :—

'महाराज इसी नीति से अनेक-अनेक प्रकार की बात कहते कहते और सुनते-सुनते जब सब रात बितीत भई और चार घड़ी पिछली रही तब नन्दराम जी से ऊधो जी ने कहा कि महाराज अब दधि मथने की बिरियाँ हुई, जो आपकी आज्ञा पाऊँ तो यमुना स्नान कर आऊँ । नन्द महर बोले—बहुत अच्छा । इतना कह वह तो वहाँ बैठे सोच-विचार करते रहे और ऊधो जी उठ झट रथ मे बैठ यमुना तीर पर गये । पहले वस्त्र उतार देह शुद्ध करी, पीछे नीर के निकट जाय, रज सिर चढाय, हाथ जोड़, कालिन्दी के प्रति स्तुति गाय, आचमन कर, जल मे बैठे ।'

सदल मिश्र

इनका नासिकेतोपाख्यान फोर्ट विलियम कालेज में लिखा गया

था। इनकी भाषा में लल्लूलालजी की भाँति व्रजभाषा के प्रयोगों का वाहुल्य तो नहीं है तथापि पाय, जाय, विन आदि शब्दों के कारण वह उसके प्रयोग से सर्वथा मुक्त नहीं कही जा सकती है। वे बहुवचन भी व्रजभाषा की रीति से 'न' लगाकर वनाते थे। कहीं-कहीं पूर्वी बोली के भी शब्द—जौन, इहाँ, जुड़ाई—मिलते हैं। इन्होंने भाषा को व्यवहारोपयोगी वनाने का उद्योग किया है।

इन्शाअल्ला खाँ

इनका जन्म मुर्शिदावाद में हुआ था और इनके पिता का नाम मीर माशा अल्लाखाँ था। मुन्शी इन्शा अल्ला खाँ ने उर्दू की भी वहुत अच्छी शायरी की थी। आपने संवत् १८५५ और संवत् १८६० के वीच में उदयमान चरित या 'रानी केतकी की कहानी' लिखी। रानी केतकी नाम की कहानी इस उद्देश्य से लिखी गई थी कि उसमें "हिन्दवी छुट और किसी वोली का पुट न मिले।" "हिन्दवीपन भी न निकले और भाषापन भी न हो।" भाषापन से मुसलमानों का अभिप्राय संस्कृत मिश्रित हिन्दी था। इन्शा की भाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

१—इन्शा की भाषा में वाहर की वोली (अरवी, फारसी आदि) गंवारी अर्थात् व्रजभाषा अवधी इत्यादि और भाषा (संस्कृत) के वहिष्कार करने का उद्योग किया गया है। कहीं-कहीं फारसी के ढङ्ग वाक्य-शैली दिखाई देती है, जैसे 'सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ अपने वनाने वाले के सामने जिसने हम सव को वनाया।'

२—गद्य में तुकवन्दी भी वहुत दिखाई देती है, जैसे 'तरसने लगा' 'वरसने लगा' इत्यादि—इस वात का प्रमाण है कि भाषा उस समय पद्य के प्रभाव से मुक्त नहीं हुई थी।

३—वर्तमान कृदन्त, विशेषण और विशेष्य के लिङ्ग, वचन एक-से ही होते थे। जैसे—आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं।

४—इनकी भाषा चलती और चटपटी है। इसमें घरेलू व्यवहार

के शब्द अधिक हैं। इनके वर्णन सर्वथा भारतीय हैं।

इनकी भाषा का एक उदाहरण लीजिए:—

"कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनों राज की नदियों में थे पक्के चाँदी के थक्के से होकर लोगों को हक्का-बक्का कर रहे थे। नवाड़े, मौलिये, बजरे, लचके, मोरपंखी, श्यामसुन्दर, रामसुन्दर और जितनी ढब की नावें थीं, सुनहरी, रुपहरी, सजी-सजाई, कसी-कसाई, सौ-सौ लचके खातियाँ फिरतियाँ थीं।'

यह कहना अनुचित न होगा कि खड़ी बोली के साहित्य को जन्म देने का श्रेय इन्हीं चारों महानुभावों को है। पर इन चारो के एक समय के होने पर भी इनकी भाषा में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। सदासुख लाल जी की भाषा कुछ पण्डिताऊपन लिए हुए है। इन्शा-अल्ला की भाषा में शुद्ध हिन्दी रूप दिखाई पडता है किन्तु उनमें फारसी का प्रभाव लक्षित होता है। लल्लूलाल जी की भाषा में ब्रज-भाषा का अधिक पुट है। मुन्शीजी की भाषा में खडी बोली का रूप अधिक दिखाई देता है, पर वह कुछ बिहारीपन लिए हुए है।

उपर्युक्त चारों महानुभावों के अतिरिक्त खड़ी बोली के गद्य-निर्माण में ईसाई पादरियों ने बड़ा योग दिया है। प्रत्येक धर्म-प्रचारक जनता की भाषा द्वारा अपने धर्म का शुभ सन्देश जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है। यद्यपि उर्दू ने कचहरियों में स्थान पा लिया था तथापि वह जनता की भाषा न थी, सर्वसाधारण की भाषा खड़ी बोली ही थी। इसी बात को स्वीकार कर ईसाई पादरियों ने अपने धर्मग्रन्थ (बाइबिल) का अनुवाद हिन्दी की खडी बोली में कराया। इन्होंने अपने धर्म-ग्रन्थों के प्रचार के लिए कई मुद्रणालय स्थापित किये। इनके द्वारा भी हिन्दी के प्रसार और प्रचार मे सहायता मिली।

स्वामी दयानन्द

वह समय जागरण का था। हिन्दुओं ने भी अपने धर्म को बुद्धि-वाद की भित्ति पर खड़ा करना चाहा। स्वामी दयानन्द ने (सं०१८८१)

गुजराती होते हुए भी हिन्दी में अपने ग्रन्थ (सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका) लिखे, क्योंकि वही देश-व्यापी भाषा थी। स्वामीजी ने हिन्दी एवं संस्कृत का बहुत प्रचार किया। इनका प्रभाव पञ्जाब पर अच्छा पड़ा। आर्यसमाजी स्कूलों में हिन्दी को प्रधानता दी जाने लगी। प० श्रद्धारामजी ने जो पञ्जाब के रहने वाले थे हिन्दी के कई ग्रन्थ लिखे। पण्डितजी ने हिन्दी में जीवनी और उपन्यास लिखने की एक प्रकार से नींव डाली।

राज-दरबारों की भाषा हो जाने के कारण उर्दू को सुगमता से स्कूलों में स्थान मिल गया। मुसलमान इसी को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहते थे। उनका दावा था कि युक्तप्रान्त में उर्दू के अतिरिक्त और कोई भाषा शिक्षा का माध्यम होने की क्षमता नहीं रखती।

राजा शिवप्रसाद

हिन्दी के सौभाग्य से राजा शिवप्रसाद (सं०१८८०-१९२०) को शिक्षा-विभाग में स्थान मिला। इनके प्रयत्न से हिन्दी का भी स्कूलों में प्रवेश हुआ। उन दिनों हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकों का अभाव था। राजा शिवप्रसाद ने इस अभाव की पूर्ति स्वयं भी करने का उद्योग किया और उसको कराया भी। उन्होंने बनारस से 'बनारस अखबार' नाम का एक पत्र निकाला और उसके द्वारा हिन्दी प्रचार का प्रयत्न किया। इनकी भाषा में फारसी, अरबी के शब्दों का अधिक प्रयोग होता था और इसी कारण वह उर्दू के अधिक निकट थी। यदि इसको हिन्दी लिपि में लिखी हुई उर्दू कहा जाय तो असत्य न होगा। ये एक प्रकार से उर्दू से समझौता करके हिन्दी को स्कूलों में स्थान दिलाना चाहते थे। राजा साहब शुद्ध हिन्दी लिख सकते थे। (उनका 'राजा भोज का सपना' शुद्ध हिन्दी में ही है) पर उन्होंने उर्दूमय हिन्दी लिखना ही अधिक श्रेयस्कर समझा। उनकी भाषा में तत्कालीन अनुप्रास-प्रियता का परिचय मिलता है। बहुत से स्थानों पर तुकबन्दी पूर्णरूप से मिलती है। यह बात इसका प्रमाण है कि यद्यपि लोग भाषा में सरलता लाने

का उपयोग करते थे तथापि उस समय की भाषा सर्वथा पद्य के प्रभाव से मुक्त न थी।

राजा शिवप्रसादजी के प्रयत्न से हिन्दी को स्कूलों में स्थान तो अवश्य मिला किन्तु उनकी पद्धति का अनुसरण करने में उसके स्वतन्त्र अस्तित्व के खो जाने की आशका थी। समझौता करने में लोग प्रायः आवश्यकता से अधिक खो बैठते हैं। हिन्दी भाषा के क्षेत्र मे यह समझौते की नीति कुछ अधिक वर्ती गई। किन्तु बंगाली आदि प्रान्तीय भाषाओं ने अपना सम्बन्ध मूल जननी संस्कृत से अलग नहीं किया था।

राजासाहब के कुछ लेखों में तो उर्दू शब्दों का उचित मात्रा में प्रयोग हुआ है किन्तु कहीं-कहीं उनकी भाषा बिल्कुल उर्दू हो जाती है। दोनों शैलियों के यहाँ उदाहरण दिये जाते हैं:—

'यह सुनकर सारा दरबार पुकार उठा कि धन्य महाराज! क्यों न हो? जब ऐसे हो तब तो ऐसे हो। आपने इस कलिकाल को सतयुग बना दिया मानों धर्म का उद्धार करने को इस जगत मे अवतार लिया। आज आपसे बढ़कर और दूसरा कौन ईश्वर का प्यारा है, हमने तो पहले से आपको साक्षात धर्मराज विचारा है?'

राजा भोज का सपना।

दूसरी प्रकार की उर्दू मिश्रित शैली का उदाहरण—

'दरख्त सायादार और मेवों के इस इफरात से हैं कि सारे इलाके का क्या पहाड़ और क्या मैदान, कोई ऐसी जगह नहीं जो सब्जी और फूलो से खाली हो-सब्जी कैसी मानों अभी इस पर मेह बरस गया है। पर जमीन ऐसी सूखी कि उस पर बेशक बैठिए सोइए, मजाल क्या जो कपड़े मे कहीं दाग लग जावे। न काँटा है न कीड़ा-मकोड़ा, न साँप बिच्छू का वहाँ डर है न शेर हाथी जैसे मूजी जानवरों का डर'।

राजा लक्ष्मणसिंह

राजा लक्ष्मणसिंह—(सं० १८८७–१९५६) ने हिन्दी का स्वत्व स्थापित करने तथा उसको हिन्दू संस्कृति के अनुकूल संस्कृत-

गर्भित बनाने का प्रयत्न किया। वे अधिकतर संस्कृत के तत्सम शब्दों का व्यवहार करते थे किन्तु उनकी भाषा में कहीं-कहीं आगरा के प्रान्तीय प्रयोग आ जाते थे। अपनी शैली के प्रचार के लिए उन्होंने 'प्रजाहितैषी' अखबार भी निकाला था।

इस प्रकार हिन्दी के पक्षपाती राजा की पदवी विभूषित दोनो महानुभावों ने दो प्रतिकूल शैलियों का अनुसरण किया। एक हिन्दी को उर्दूमय बनाना श्रेयस्कर मानते थे तो दूसरे हिन्दी का कल्याण उसको संस्कृत गर्भित बनाकर उसका स्वत्व स्थापित करने में समझते थे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (सं० १९०७—४१) ने दोनो छोरों के बीच का मार्ग निश्चित कर हिन्दी की प्राण-प्रतिष्ठा की। हिन्दी को न तो वे उर्दू बनाना चाहते थे और न संस्कृत। वे हिन्दी को उसका निजी रूप देना चाहते थे। उन्होंने आवश्यकता के अनुकूल सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग किया। इनकी भाषा में प्रधानता बोलचाल के शब्दों की ही रहती थी। भारतेन्दुजी अपनी भाषा में संस्कृत के उन शब्दों को स्थान देते थे जिनका व्यवहार रोजाना की बोलचाल मे होता था और उर्दू के उन्हीं शब्दों का व्यवहार करना उचित समझते थे जिनको जनता ने अपना लिया था। भारतेन्दु ने भिन्न-भिन्न अवसरों के लिए भिन्न-भिन्न शैलियों का प्रयोग किया है। उनकी शैली भावानुसारिणी होती थी। उनके शब्द-चित्र बड़े सुन्दर और प्रभावोत्पादक होते थे। मुख्यतया उनकी शैली दो प्रकार की कही जा सकती है—पहली भावावेशपूर्ण—जिसमें तद्भव शब्दों के साथ छोटे-छोटे वाक्यों का बाहुल्य रहता था। दूसरी विचारपूर्ण या तथ्य निरूपण की शैली जिसमें कि विचारों की आवश्यकताओं के अनुकूल संस्कृत तत्सम शब्दों का भी प्रयोग होता था। उनकी भाषा में चलते हुए उर्दू के शब्द विशेष सजीवता उत्पन्न कर देते हैं।

हिन्दी साहित्य में भारतेन्दुजी के हमको दो रूपों में दर्शन मिलते हैं। एक गद्य लेखक के रूप में दूसरे कवि के रूप मे। उन्होंने दोनों ही रूपों मे अपने व्यक्तित्व की छाप डाली। 'राधारानी के गुलाम' होते हुए भी वे विचार मे पूर्ण स्वतन्त्र थे और कई लेखों मे उन्होंने अपनी गवेषणाबुद्धि का भी परिचय दिया है। वे समाज-सुधार के पक्षपाती थे। धार्मिक होते हुए भी वे तर्क और गवेषणा से काम लेने में नहीं हिचकते थे।'

भारतेन्दु बाबू ने तत्कालीन जनता के मानसिक क्षितिज को विस्तृत करने का उद्योग किया था। आपने कई पत्र और पत्रिकाओं की स्थापना की। आपकी 'कवि-वचन सुधा' नाम की पत्रिका में पुराने कवियों की कविताओं का संग्रह रहता था। 'हरिश्चन्द्र मेगजीन' नाम की एक मासिक पत्रिका भी आपने निकाली जो पीछे से 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' नाम से विख्यात हुई। स्त्री-शिक्षा के लिए भारतेन्दुजी ने 'बाला-बोधिनी' नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली।

उपर्युक्त पत्रिकाओं द्वारा विविधि विषयों की विवेचना होने के कारण गद्य का प्रयोग बाहुल्य के साथ होने लगा। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रभाव से बहुत से लेखकों ने हिन्दी साहित्य में योग देना आरम्भ किया और उनके चारों ओर उज्ज्वल नक्षत्रों का एक मण्डल बन गया। उस समय के लेखकों का प्रधान गुण जिन्दा दिली था। उनमें एक विशेष प्रकार की स्फूर्ति और चमत्कार लक्षित होता है। उस समय के लेखकों ने अपनी हास्य-व्यंग्यपूर्ण शैली का समाज-सुधार और राजनीतिक चेतना जाग्रत करने में बड़ी सफलता के साथ प्रयोग किया है।

भारतेन्दु-काल के लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ला० श्रीनिवासदास, पं० अम्बिकादत्त व्यास तथा राधाचरण गोस्वामी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

पं० बालकृष्ण भट्ट (सं० १६०१—१६७१)

इनकी शैली भी कुछ-कुछ मिश्रजी की सी ही थी। मिश्रजी की भाँति भट्टजी भी स्थान-स्थान पर बोलचाल के चलते शब्दों का प्रयोग करते थे और उनकी भाषा में मुहावरों का व्यवहार कुछ बाहुल्य के साथ होता था। उसमें संस्कृत के उद्धरणों का भी यत्र तत्र समावेश रहता था। इनके वाक्य भी कुछ बड़े-बड़े होते थे। इनकी भाषा में पूर्वी प्रयोग भी प्रायः मिलते हैं। सं० १६३१ में इन्होंने अपना 'हिन्दीप्रदीप अखबार निकाला, जिसमें बहुत से मनोरञ्जक निबन्ध निकलते थे। इनका हास्य मिश्रजी की अपेक्षा अधिक शिष्ट और साहित्यिक होता था। इनके निबन्धों में गम्भीर अध्ययन और पाण्डित्य का परिचय मिलता है, परन्तु इनका यह पाण्डित्य भाषा की सुबोधता में 'बाधक नहीं हुआ। इनके लेखों में शब्दों का अर्थ-गाम्भीर्य अधिक है, इसलिए उनमें विचार की स्वतन्त्रता के साथ भाषा का भी अच्छा चमत्कार दिखलाई पड़ता है। ये उर्दू तथा अंग्रेजी मिश्रित भाषा भी लिखते थे।

उदाहरण—नौजवानी की उठती उमर ऐसी अल्हड़पन की होती है कि इस उमर में दूरन्देशी (Precaution) या पूर्वावधान बिलकुल नहीं रहता बल्कि बुरी आदते एक-एक करके पड़ती जाती हैं। जिस समय उन खराब आदतों का आना प्रारम्भ होता है कुछ नहीं मालूम होता है; जैसे पहाड़ों पर जब बर्फ गिरने लगती है, तब किसी को ध्यान भी नहीं आता, पीछे थोड़ा थोड़ा करके जमा होते-होते वहाँ सघति (Avalanche) हो जाती है। तब सूरज की तेज गरमी भी उसे पिघला नहीं सकती।

पं० प्रतापनारायण मिश्र

प्रतापनारायण मिश्र (स० १६१३—१६५१) की शैली में संस्कृत शब्दों का प्राचुर्य सा प्रतीत होता है, परन्तु हरिश्चन्द्र की भाँति इन्होंने भी उर्दू के उन्हीं शब्दों को लिया है, जिनका चलन हिन्दी में बहुत

काल से था। इनकी भाषा मे विशेष सजीवता और बोलचाल का चलतापन है। इसमे विनोद-प्रियता अधिक है। इसी विनोद प्रियता के कारण ये पूर्वीपन की परवा न करके बैसवारे की ग्रामीण कहावतें और शब्दो का भी प्रयोग निस्संकोच करते थे। साधारण से साधारण विषय मे भी वे मनोरञ्जन की सामिग्री उपस्थित कर देते थे। इनके 'ब्राह्मण अखवार' मे बहुत ही चलते हुए और चटपटे मजमून निकलते थे। ये अपने विचारो म बड़े स्वतन्त्र थे।

उदाहरण—'अब तो आप समझ गए होगे कि आप कहाँ के हैं कौन हैं, कैसे हैं। यदि इतने बड़े बात के बतङ्गड़ से भी न समझे हो तो इस छोटे से कथन मे हम क्या समझा सकेंगे कि आप शब्द संस्कृत के आप्त शब्द का हिन्दी रूपान्तर..... अब तो समझ गए न, आप क्या हैं? अब भी न समझो तो हम नहीं कह सकते कि आप समझदारी के कौन हैं, हाँ आप ही को उचित होगा कि दमड़ी छदाम की समझ किसी पसारी के यहाँ से मोल ले आइए फिर आप ही समझने लगियेगा कि आप वो हैं? कहाँ के, कौन हैं?

उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'

(स० १६१६—१६७६)

प्रेमघनजी की शैली इन दोनों से भिन्न थी। वे बोलचाल के शब्दों का बहुत कम प्रयोग करते थे। इनकी भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्द बहुतायत से आते थे किन्तु कहीं-कहीं वे अपनी भाषा को कलात्मक बनाने के प्रयत्न में बोलचाल की भाषा से कुछ चुभते हुए शब्द ले आते थे। ये शिल्पी की भाँति अपनी रचना को गढ़ा करते थे और उतावलेपन के विरोधी थे। इनकी भाषा मे अनुप्रास-प्रियता की गन्ध भी परियाप्त मात्रा मे मिलती है और प्रायः तुकबन्दी भी रहती है। इन्होंने 'आनन्द-कादम्बिनी' नाम की एक साहित्यिक पत्रिका निकाली। इसके पूर्व 'नागरी नीरद' नामक एक साहित्यिक पत्र भी इन्हे

निकाला था। अपनी 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्रिका में इन्होंने समालोचना का भी सूत्र-पात किया है। इन्होने बाबू गदाधरसिंह द्वारा-अनुवादित वङ्गविजेता और लाला श्रीनिवासदास कृत संयोगिता-स्वयंवर की बड़ी विचार-पूर्ण आलोचना लिखी।

पंडित अम्बिकादत्त व्यास—(सं० १६१५—१६५७) ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् और सनातन धर्म के उपदेशक थे। इन्होंने अवतार मीमासा के अतिरिक्त गद्य-काव्य मीमांसा आदि कई गद्य-ग्रन्थ लिखे, और गो संकट नाम का एक नाटक भी लिखा।

प० राधाचरण गोस्वामी (सं० १६१२-१६६४)

गोस्वामीजी पुराने ढङ्ग के होते हुए भी बड़े स्वतन्त्र विचार के थे। आपने बहुत से लेख लिखे और बहुत से उपन्यासों द्वारा हिन्दी की कलेवर वृद्धि की। 'विदेश-यात्रा-विचार' और 'विधवा-विरह विवरण' आपके दो ग्रन्थ समाज-सुधार के सम्बन्ध मे लिखे गये थे। आपने अपनी एक जीवनी भी लिखी थी।

उपर्युक्त महानुभावो के अतिरिक्त बाबू तोताराम जिन्होंने 'केटो-कृतान्त' नाम का नाटक लिखा है, पण्डित मोहनलाल पांड्या जिन्होंने हिन्दी मे अनेक प्राचीन खोज सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे, पण्डित केशवराम भट्ट जिन्होंने 'शमशाद-सौसन' और 'सज्जाद सम्बुल' नाम के दो नाटक लिखे, पण्डित भीमसेन शर्मा जिन्होंने बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी मे अनुवाद किया, ठाकुर जगमोहनसिंह आदि के नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय हैं। ये प्राय: सभी लोग भारतेन्दु बाबू से प्रभावित थे।

बाबू बालमुकुन्द गुप्त (सं० १६२२—१६६४)

आपने 'वङ्गवासी' और 'भारतमित्र' द्वारा हिन्दी की विशेष सेवा की है। इन्होंने हिन्दी भाषा को प्रवाहमय बनाने में बहुत योग दिया है। इनके 'शिव-शम्भू के चिट्ठे' हास्य और व्यंग्य साहित्य म सदा स्मरणीय रहेंगे। ये बडी शिष्टता के साथ गहरी चुटकी लेते थे।

इनके हास्य में ग्रामीणता थी और न धौल धप्पा तथा मार-कूट की खोखली खिलखलाहट। इनके व्यंग्य-पूर्ण लेखों मे राजनीति की मात्रा अधिक रहती थी।

भारतेन्दु युग में श्रीनिवास दास (१६०८-१६४४) बाबू तोताराम (जन्म सवत् १६०४) केशवराम भट्ट (१६११-१६६१) काशीनाथ खत्री (स० १६०६-१६४८) राधाकृष्णदास (१६२२-१६६४) प्रमुख कई नाटककार और उपन्यासकार हुए। इनका नाटक और उपन्यासों के सम्बन्ध में उल्लेख किया जायगा।

आधुनिक गद्य का विकास

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय मे जो साहित्य-निर्माण हुआ, उसके कारण हिन्दी गद्य ने अपना एक निजी स्थान बना लिया है! नाटकों, उपन्यासों और तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के चटपटे लेखों ने जनता का चित्त आकर्षित कर लिया था किन्तु तो भी हिन्दी का यथेष्ट आदर न था। राज-दरबार मे उसका कोई स्थान न था। लोग अंग्रेजी के पाण्डित्य पर ही गर्व करते थे। भारतेन्दु के समय से हिन्दी प्रचार के सम्बन्ध मे जो आन्दोलन उठा उसका मूल्य उस काल में निर्माण किये हुए साहित्य से कम न था। राष्ट्रीय आन्दोलन को साहित्यिक रूप देने वालों में भारतेन्दुजी अग्रगण्य थे। उनके समय के साहित्य मे राष्ट्रीयता की छाप थी और राष्ट्रीय जाग्रति के साथ लोग अपनी चीजों की ओर झुके। हिन्दू, हिन्दी, हिन्दुस्तान की पुकार उठी और निज भाषा की उन्नति को ही सब उन्नतियों का मूल समझा जाने लगा। चारों ओर हिन्दी की धूम मच गई। हिन्दी का झण्डा लेकर जत्थे के जत्थे प्रचार में सम्मिलित होने लगे। नगर-नगर में सभा सुसाइटियाँ खुलने लगीं। इनमें 'नागरी-प्रचारणी-सभा' काशी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राय बहादुर डाक्टर श्यामसुन्दरदास के उद्योग से सभा ने खूब उन्नति की।

प्राचीन ग्रन्थों की खोज जारी हुई और कई पुस्तकमालाएँ निकलीं जिनमें विविध विषयों पर ग्रन्थ प्रकाशित किये गये। इनमें सभा की 'मनोरञ्जन पुस्तकमाला' और श्री नाथूराम प्रेमी की 'हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर सीरीज' प्रमुख हैं। कवियों की जीवनियाँ भी लिखी जाने लगीं। हिन्दी साहित्य का इतिहास प्रस्तुत करने के प्रारम्भिक प्रयत्न स्वरूप शिवसिंह सेंगर (सं० १६४०) ने अपना शिवसिंह सरोज तथा भाषा-तत्व वेत्ता डा० (और पीछे से सर) जार्ज ग्रियर्सन के 'मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ नदर्न इण्डिया' नामक ग्रन्थ प्रकाशित कराये।

वैसे तो कुछ संग्रह ग्रन्थ अवश्य निकल चुके थे किन्तु हिन्दी के इतिहास लिखने का सबसे पहला प्रयत्न एक फ्रांसीसी लेखक ग्रेसें दतासी ने किया था। उसके ग्रन्थ का नाम था इस्त्वारदला लितएत्यूर ऐंदूई ऐं इन्दुस्तानी है। उसका पहला भाग सं० १८६६ में प्रकाशित हुआ था। ये सब प्रारम्भिक प्रयत्न थे। ग्रियर्सन के पश्चात् मिश्रबन्धु-विनोद तीन खण्डों में निकला। उसमें नागरी प्रचारिणी की खोज रिपोर्टों की भी सामग्री सम्मिलित है। उसके पश्चात् शुक्लजी का इतिहास निकला और पीछे से श्यामसुन्दर दास जी का हिन्दी भाषा और साहित्य नाम से निकला। इस प्रकार इतिहासों का क्रम जारी हो गया। संक्षेप में यही हिन्दी के इतिहासों का इतिहास है।

नागरी लिपि के प्रचार का आन्दोलन जारी रहा। देश के प्रमुख विद्वानों और महामना पं० मदनमोहन मालवीय जैसे देश के नेताओं ने इस आन्दोलन को सफल बनाने के लिए रात-दिन परिश्रम किया। उनके अविरल परिश्रम के फल स्वरूप संयुक्तप्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर एण्टनी मेक्डोनल के कान में हिन्दी की भनक पड़ी और नागरी लिपि ने गौण रूप से अदालतों में भी स्थान पाया। इन आन्दोलनों से राज-दरबार में चाहे विशेष सफलता न हुई किन्तु जनता में हिन्दी का प्रचार खूब हुआ। जहाँ बिस्मिल्ला इर्रहमानुर्रहीम से विद्यारम्भ संस्कार कराया जाता था वहाँ 'श्रीगणेशायनमः' से पट्टी पुजने लगी।

हिन्दी स्कूलों की संख्या बढ़ी और लोग चाहे अदालती काम के लिए उर्दू पढ़ते हों किन्तु घरेलू काम-काज और पत्र व्यवहार के लिए हिन्दी भी सीखने लगे। स्त्री-शिक्षा का प्रचार बढ़ने से भी हिन्दी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बढ़ी। गृहलक्ष्मियों का उर्दू पढ़ना असांस्कृतिक-सा लगता था और उर्दू द्वारा उनकी धार्मिक भावना की तृप्ति होने की सम्भावना भी न थी। इस प्रकार हरिश्चन्द्र युग के अन्त और द्विवेदी युग के आरम्भ मे हिन्दी की पर्याप्त श्रीवृद्धि हुई।

जब कोई पौदा अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे होता है तो उसमें पानी देकर उसका विकसित करना ही उसके हितचिन्तक मालियो का परमोद्देश्य होता है। हरिश्चन्द्र युग के साहित्योद्यान की भी यही दशा थी। उसमें नाना प्रकार के छोटे-बड़े पोदे उगे थे। उनकी काट-छाँट नहीं हुई थी। आलङ्कारिक भाषा को छोड कर यह कहना होगा कि भारतेन्दुजो के समय में लोग हिन्दी इतना विचारों के प्रसार के उद्देश्य से नहो लिखते थे जितना कि अपने हृदय की उमङ्ग की पूर्ति के लिए। व्याकरण और वाक्य-विन्यास की ओर कम ध्यान था। अँग्रेजी पढ़े बाबू लोग जो कि श्रद्धा और भक्ति के साथ हिन्दी के क्षेत्र मे प्रविष्ट हुए थे, व्याकरण के नियमो से अनभिज्ञ थे। वे लोग उसमें नवीन विचारो को अवतरित कर उसके भण्डार की पूर्ति करना चाहते थे, किन्तु उनको भाषा का यथोचित ज्ञान न था। उस समय भाषा को शुद्ध और व्याकरणानुकूल बनाने की आवश्यकता थी। आचार्य श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती सम्पादक की स्थिति से लेखको की भाषा को शुद्ध और परिमार्जित बनाने के लिए समयोचित सेवा की। वे अशुद्ध लेखों को काट-छाँट कर लेखको के दोष बतलाने मे नहीं चूकते थे। अध्यापक की भाँति वे संशोधन करते थे। उनकी प्रेरणा से नये-नये विषयों पर खोज-पूर्ण निबन्ध लिखे जाने लगे। कुछ लोग हिन्दी को स्वतन्त्र रूप देने के कारण अपनी इच्छा से व्याकरण के नियमों और शुद्धता की विशेष परवाह न करते थे।

ऐसे लोगों के होते हुए भी भाषा पर द्विवेदीजी का प्रभाव स्थायी रूप से पड़ा।

द्विवेदी-युग में हिन्दी साहित्य अपनी शैशवावस्था को छोड़ कर यौवनावस्था की ओर अग्रसर हो रहा था। विचारशील लोग भी नवीन विचारों के लिए हिन्दी पुस्तकों का पटन-पाठन लज्जा का विषय न समझते थे। हरिश्चन्द्र के समय से जो बङ्गाली साहित्य का अनुकरण हो रहा था वह तो किसी अंश में रहा और उसने हिन्दी को सस्कृत गर्भित बनाने में बहुत कुछ योग भी दिया किन्तु तव ऐसा मौलिक साहित्य भी निर्माण होने लगा था जो अन्य प्रान्तीय साहित्यों से टक्कर ले सके।

इस प्रकार हरिश्चन्द्र से लेकर द्विवेदीजी तक हिन्दी साहित्य का तो विकास हुआ ही उसके साथ-साथ शैली भी बहुत कुछ परिवर्तित होकर एक निखरा हुआ रूप धारण करने लग गई। उसमें से तुकबन्दी का प्रभाव बिलकुल उठ गया था। संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर लेखकों का अधिक झुकाव हो गया था और भाषा भी कुछ अधिक सस्कृत गर्भित होने लगी थी। शब्द भी ठेठ सस्कृत कायदे स लिखे जाने लगे थे। विराम चिह्नों का अधिक व्यवहार होने लगा था। पीछे से वाक्यों मे अङ्गरेजी मुहावरों और शैली का समावेश होने लगा।

हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी

हिन्दी के विकास में साहित्यिकों के अतिरिक्त कुछ राजनैतिक लोग भी योग देने लगे। अँग्रेजी भाषा सम्पन्न होते हुए भी विदेशी थी। राष्ट्रीय चेतना मे अँग्रेजी का स्थान लेने वाली भाषा की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। क्रमशः हिन्दी राष्ट्र भाषा का रूप धारण करने लगी। उसकी व्यापकता बढ़ी और अन्य प्रान्तों में विशेषकर मद्रास मे भी जहाँ हिन्दी बिलकुल नहीं समझी जाती थी, हिन्दी का प्रचार होने लगा। इसका सबसे अधिक श्रेय महात्मा गाधी और हिन्दी साहित्य सम्मेलन

को है। मुसलमानों से सम्पर्क में आने के लिए भी हिन्दी के संस्कृतपन मिटाने की कोशिश की जाने लगी। यू० पी० सरकार से हिन्दू मुसलमानों की एक सम्मिलित भाषा (Common Language) के निर्माण का उद्योग होने लगा। इलाहाबाद में हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी की स्थापना हुई। इसने सम्मिलित भाषा 'हिन्दुस्तानी' के प्रचार का ध्येय रहते हुए भी हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के साहित्य के बढ़ने में योग दिया। इस प्रकार आज कल तीन प्रमुख संस्थाएँ हिन्दी के लिए काम कर रही हैं—नागरी प्रचारिणी सभा काशी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन और हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी। पहली दो संस्थाएँ केवल हिन्दी के लिए ही अपनी सारी शक्तियों को केन्द्रस्थ कर रही हैं। हिन्दुस्तानी एकेडेमी को भी अब उर्दू का मोह छोड़ना पड़ा है।

हिन्दुस्तानी चाहे जनता में राजनीतिक प्रचार की भाषा बन जाय किन्तु न उसमें उच्च भावात्मक साहित्य की ही सृष्टि हो सकती है और न वैज्ञानिक साहित्य की ही। वैज्ञानिक शब्दावली के लिए या तो संस्कृत की ही शरण लेनी पड़ेगी या फारसी अरबी की। अब देश का बटवारा हो जाने के कारण कम से कम वैज्ञानिक साहित्य में संस्कृत गर्भित हिन्दी का बोलबाला हो जायगा। विधान में हिन्दी के राष्ट्र भाषा रूप में स्वीकृत हो जाने के कारण अब यह विवाद समाप्त हो गया है।

पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण के कई प्रयत्न हुए हैं, उनमें डाक्टर रघुवीर का प्रयत्न बड़ा विशद है। यद्यपि उनके शब्द लोक-भाषा से कुछ हटे हुए और कहीं-कहीं बड़े दुरूह और उच्चारण में कठिन हैं तथापि व व्यापक सिद्धान्तों पर आधारित हैं और काम शुरू करने के लिए बहुत अच्छे हैं। उनके एकीकरण और प्रामाणीकरण की विशेष आवश्यकता है।

हिन्दी उर्दू दोनों ही खड़ी बोली के रूप हैं। उर्दू ने विदेशी संस्कृति को (अरबी और फारसी को) अपनाया है। हिन्दी ने देश

की प्राचीन भाषा से सम्बन्ध किया। असली हिन्दुस्तानी तो दोनों की आधारभूत बोलचाल की भाषा है, जिसको हिन्दू मुसलमान दोनों समझते हैं उनमें कृत्रिम रूप से उर्दू शब्द मिलाने की आवश्यकता नहीं, किन्तु वह बोलचाल की भाषा रहेगी, साहित्यिक नहीं हो सकती।

प्रचार का कार्य

नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने प्राचीन ग्रन्थों की खोज और विविध विषयों के नवीन उपयोगी ग्रन्थों के प्रकाशन के अतिरिक्त 'हिन्दी शब्द सागर' नाम का एक वृहत् कोष भी तैयार कराया। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन ने अपनी परीक्षाओं द्वारा हिन्दी साहित्य के यथाविधि अध्ययन में बहुत कुछ प्रोत्साहन दिया है। बिहार आदि मे भी परीक्षाओं का कार्य चल रहा है। राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति अहिन्दी प्रान्तों में बहुत उपयोगी कार्य कर रही है। अब विश्वविद्यालयों में भी हिन्दी भाषा और साहित्य का वैज्ञानिक ढङ्ग से अध्ययन होने लगा है और हिन्दी के उच्च शिक्षा के माध्यम बनने के प्रयत्न हो रहे हैं। साहित्य-सम्मेलन के मंगलाप्रसाद पारितोषिक ने भी मौलिक पुस्तकों के लिखे जाने में बहुत कुछ प्रोत्साहन दिया है। गद्य के सभी क्षेत्रों में हिन्दी की उन्नति हो रही है। देवपुरस्कार और बिड़लाजी के बङ्गाल हिन्दी मण्डल पुरस्कार द्वारा भी लेखकों को अच्छा प्रोत्साहन मिल रहा है। इनके अतिरिक्त और भी पुरस्कारो ने जैसे सेकसरिया पारितोषिक (५०० रु० का) जो केवल स्त्रियों के लिए है, मुरारिका पारितोषिक (४०० रु० का), रत्नकुमारी पारितोषिक (२५० रु० का) जो नाटकों पर दिया जाता है, राधामोहन गोकुलजी पुरस्कार जो समाजशास्त्र और राजनीति की पुस्तकों पर है, आदि ने साहित्य की श्रीवृद्धि में सहायता दी है। उत्तर प्रदेश की सरकार भी लेखकों के प्रोत्साहन के लिए प्रत्येक वर्ष उत्तमोत्तम पुस्तकों पर पुरस्कार देती है।

गद्य साहित्य के मुख्यतया नाटक उपन्यास और आख्यायिका, निबन्ध, गद्य-काव्य, जीवनी तथा समालोचना आदि अङ्ग हैं। अब हम इन पर पृथक रूप से प्रकाश डालेंगे।

नाटक

यद्यपि सस्कृत साहित्य मे नाटको की अतुल सम्पत्ति थी, तथापि उसकी उत्तराधिकारिणी हिन्दी मे नाटकीय ग्रन्थों की रचना बहुत पीछे से हुई। इसका मुख्य कारण तो यह है कि जिस काल मे हिन्दी का उदय हुआ उस काल में बहुत कुछ मार-काट रही और लड़ाई की भगदड़ मे रङ्गमच की स्थापना और उन्नति की सम्भावना बहुत कम थी। मुसलमानी राज्य में कुछ शान्ति का समय आया अवश्य किन्तु मूर्तिपूजा तथा नकल के विरोधी होने के कारण उनकी सभ्यता में नाटक के लिए कोई स्थान न था। इसके अतिरिक्त हिन्दी गद्य का रुप भी निश्चित न था। इन सब बातों के अतिरिक्त जीवन में उत्साह की भी कमी थी। इसलिए भी नाटकीय रचना में बहुत कुछ देरी हुई। अँग्रेजी राज्य मे जो रङ्गमञ्च की स्थापना हुई वह उर्दू वालो के हाथ मे था। राष्ट्रीय-जाग्रति के साथ लोगों का ध्यान हिन्दी की ओर आकर्षित हुआ और हिन्दी में भी नाटक लिखे जाने लगे।

हिन्दी नाटकों के वास्तविक जन्मदाता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। इनसे पहले नाटक लिखे अवश्य गये किन्तु वे नाटक कहलाने के योग्य न थे। देवजी का भी 'देव-माया-प्रपञ्च' नाम का नाटक है, किन्तु वह एक प्रकार की आध्यात्मिक कविता मात्र है। (कुछ विद्वानों का मत है कि यह देव, नवरत्नों में के प्रसिद्ध देव नही हैं) यही हालब्रजवासीदास कृत प्रबोध चन्द्रोदय नाटक का है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद महाराज जसवन्तसिंह ने भी किया था। बनारसीदास जैन लिखित 'समय सार' नाम का एक आध्यात्मिक विषय का बड़ा सुन्दर नाटक है।

मध्यकाल में इङ्गलैण्ड आदि देशों में भी नाटकों का आरम्भ धार्मिक नाटकों से हुआ ! इनको 'मिस्ट्री-प्लेज' अर्थात् रहस्य सम्बन्धी नाटक कहते हैं। इसमें धैर्य, दया, ईर्ष्या, पाप, पाखण्ड आदि ही मूर्तिमान हो नाटको के पात्र के रूप में आते हैं। पूर्व हरिश्चन्द्र काल के नाटकों में 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक, नेवाज कृत 'शकुन्तला नाटक' और हृदयराम कृत 'हनुमन्नाटक' का अनुवाद उल्लेखनीय हैं। महाराज काशीराज की आज्ञा से 'आनन्द रघुनन्दन' की रचना हुई किन्तु इनमें भी नाटकीय नियमों का पालन नहीं हुआ था। इन नाटकों मे छन्द का प्राधान्य था। छन्द मे साधारण जीवन के सब अङ्गों का वर्णन नहीं हो सकता और उसी अंश मे छन्द प्रधान नाटक के परिमाण मे गिरे रहते हैं। पात्रों के प्रवेश आदि नियमो का पालन करते हुए सबसे पहला नाटक भारतेन्दुजी के पिता बाबू गिरधरदासजी ने 'नहुप' लिखा था। इसमे इन्द्र और नहुष की कथा है। पहले इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी उसका स्थान नहुष को मिला। वह राजमद को सयत न रख सका। उसने सप्तर्षियों को पालकी में जोता, दुर्वासा के शाप से वह पदच्युत हुआ। इन्द्र अपने पूर्व पद को प्राप्त हुए।

समय के क्रम से यथाविधि रीति के अनुकूल नाटक रचना में दूसरा नाम राजा लक्ष्मणसिंह का आता है। उनका 'शकुन्तला' नाटक यद्यपि अनुवाद है तथापि उसमें मूल का सा सौन्दर्य है। उस अनुवाद ने शकुन्तला की कीर्ति को कायम रक्खा। फ्रैडरिक पिनकाट साहब के सम्पादकत्व में शकुन्तला का एक अनुवाद इङ्गलैण्ड से निकला था वह इसी का (राजा लक्ष्मणसिंह के अनुवाद का) एक सस्करण है। इसके बाद बाबू हरिश्चन्द्र का नम्बर आता है। एक प्रकार से उन्होंने नाट्यशाला को पुनर्जीवन प्रदान किया। उन्होंने कई संस्कृत और बॅगला नाटकों के अनुवाद किये और कई स्वतन्त्र नाटक लिखे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के लिखे हुए १४ नाटक हैं, जिन मे कई प्रहसन भी हैं। इनमे 'सत्य हरिश्चन्द्र', 'मुद्रा-राक्षस', 'नील

देवी', 'भारत दुर्दशा', 'अन्धेर-नगरी', 'चन्द्रावली' आदि प्रमुख हैं। भारतेन्दुजी के नाटक उनके समय में खेले भी गये। हरिश्चन्द्र के समय में लेखकों ने नाटकों को अपनाना शुरू कर दिया। उस काल के नाटकों में बाबू तोताराम का 'केटो कृतान्त', (एडीसन के अङ्गरेजी नाटक का अनुवाद), लाला श्री निवासदास का 'तप्ता सवरण' और 'रणधीर प्रेम-मोहनी', बाबू गोकलचन्द का 'बूढ़े मुँह मुँहासे, लोग चले तमाशे,' बाबू केशवराम कृत 'सज्जाद-सम्बुल' और 'शमशाद-सौसन', गदाधर भट्ट का 'मृच्छकटिक', बाबू बदरीनारायण चौधरी का 'वीराङ्गना रहस्य', अम्बिकादत्त व्यास की 'लतिका' नाटिका 'वेणी संहार' और 'गो संकट' नाटक और बाबू राधाकृष्ण-दास के 'दुःखिनी बाला', 'पद्मावती' और 'महाराणा प्रताप' मुख्य हैं

इन नाटकों के विकास में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो जैसे-जैसे समय आगे चलता गया वैसे-वैसे देवता, राक्षस, गन्धर्वादि देवी पात्रों की कमी होती गयी। दैवी चमत्कार और आदभुत्य के स्थान में मनुष्य की बुद्धि और उसके भावों का चमत्कार अधिक दिखाया जाने लगा। नाटक का मनुष्य जीवन से विशेष सम्बन्ध होगया। दूसरी बात यह है कि क्रमशः पद्य के स्थान मे गद्य का प्रवेश होने लगा। पद्य साधारण जीवन की भाषा नहीं समझी जाती। मन्त्री लोग गाकर मन्त्र नहीं देते और न राजा लोग नाच कर यह कहते हैं कि—"राजा हूँ मै कौम का, इन्दर मेरा नाम।" नाटक से पद्य का महत्व दूर करने में द्विजेन्द्रलालराय के अनुवादों ने हिन्दी नाटकों पर अच्छा प्रभाव डाला। ये अनुवाद प० रूपनारायण पाण्डेय ने सफलतापूर्वक किये हैं। प्रारम्भिक नाटक व्रजभाषा पद्य में लिखे गये। उसके पश्चात् गद्य की भाषा खड़ी बोली हुई और पद्य की भाषा व्रजभाषा रही। आजकल गद्य का प्राधान्य है, किन्तु पद्य के रूप में अब मुख्यतः खड़ी बोली के ही गीत सुनाई पड़ते हैं। लाघव (प्रयत्न की कमी) की दृष्टि से गद्य और पद्य की भाषा एक ही होना आवश्यक था।

वर्तमान युग में अथवा यों कहिए कि हरिश्चन्द्र युग और वर्तमान युग के बीच में लाला सीताराम बी० ए० उपनाम 'भूप' ने बहुत से संस्कृत नाटकों का अनुवाद कर हिन्दी भाषा का बड़ा उपकार किया है। स्वर्गीय पं० सत्यनारायण कविरत्न ने महाकवि भवभूति कृत 'उत्तर रामचरित' और 'मालती माधव' के बहुत ही सुन्दर और सरल अनुवाद किये हैं, (इनमें पद्यांश व्रजभाषा के हैं) जिनमें मौलिकता का आभास होता है। बाबू गङ्गाप्रसाद एम० ए० ने शेक्शपीयर के बहुत से नाटकों का हिन्दी मे अनुवाद किया है। मुन्शी प्रेमचन्द ने भी आधुनिक अङ्गरेजी नाटककार गाल्सवर्दी के नाटकों का अनुवाद किया किन्तु उनमें वह बात नहीं आ सकी जो उनके उपन्यासों में है। इन अनुवादों के अतिरिक्त बहुत से मौलिक नाटक भी लिखे गये हैं और वे रङ्गमञ्च पर खेले भी गये हैं।

धार्मिक नाटककारों में कथावाचक पं० राधेश्याम और नारायण प्रसाद बेताब के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 'श्रीकृष्ण अवतार', 'रुक्मिणी मङ्गल' वीर-अभिममन्यु' पं० राधेश्याम के नाटकों में अच्छे गिने जाते हैं। बाबू नारायणप्रसाद बेताब के नाटकों मे रामायण और महाभारत प्रधान हैं। ये नाटक रङ्गमञ्च के तो बहुत उपयुक्त हैं किन्तु इनमें साहित्यिकता कम है और उर्दू का पुट भी है। हॉ इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि इनके द्वारा हिन्दी को रङ्गमञ्च पर स्थान मिल गया और उर्दू का बोल-बाला न रहा। बाबू हरिकृष्ण जौहर के सामाजिक नाटक अच्छे हैं। कृष्णचन्द के नाटकों में राजनीति का पुट है, किन्तु उनमें उर्दूपन अधिक है। जयरामदास गुप्त ने कुछ सामाजिक नाटक लिखे हैं किन्तु उनमें भी वही बात है। उन पर पारसी थियेटरों का अधिक प्रभाव मालूम पड़ता है।

साहित्यिक-दृष्टि से बाबू जयशङ्कर 'प्रसाद' का कार्य बहुत सराहनीय है। 'अजातशत्रु' 'जनमेजय का नागयज्ञ' 'स्कन्दगुप्त' 'चन्द्रगुप्त' 'विशाख' 'कामना' आदि इनके कई उच्च कोटि के नाटक हैं, जिनमें

इन्होंने अपनी गवेषणाशक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का अच्छा परिचय दिया है। इनके नाटक अधिकतर ऐतिहासिक हैं। जिस प्रकार द्विजेन्द्रलाल राय ने मुगलकालीन भारत का चित्र उपस्थित किया है, उसी प्रकार प्रसादजी भारतीय गौरव-गाथा गान मे विशेष समर्थ हुए हैं। अन्य नाटककारों ने हिन्दुओं के जात्यभिमान तथा मुसलमानों से लोहा लेने की बात का वर्णन किया है। प्रसादजी ने हिन्दुओं की सभ्यता एव नैतिक श्रेष्ठता दिखलाने का प्रयत्न किया है। उनके नाटकों को पढ़कर यह प्रतीत होने लगता है कि प्राचीनकाल में भी आज-कल की सी अवस्था थी। प्रसादजी के नाटको मे मनोवैज्ञानिकता पर्याप्त मात्रा में है और कही-कहीं बड़े सुन्दर अंतर्द्वन्द्व दिखलाये गये हैं। उनके नाटकों में प्रसगवश आये हुए गीत-साहित्य की निधि हैं। उनके नाटक कलामय होते हुए भी अत्यन्त क्लिष्ट हैं। वे साधारण रङ्गमञ्च के योग्य नहीं रहते, उनके लिए विशेष रङ्गमञ्च चाहिए। प्रसादजी के नाटकों मे प्रसाद गुण की कमी है। उनके साधारण पात्र भी संस्कृत-गर्भित भाषा बोलते हैं और दार्शनिक सिद्धान्तो का विवेचन करते हैं। प्रसादजी के अतिरिक्त पं० बदरीनाथ भट्ट, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, श्रीयुत जगन्नाथप्रसाद 'मिलिंद', प० गोविन्दवल्लभ पंत तथा श्रीयुत हरिकृष्ण प्रेमी आदि कई सज्जनो ने अच्छे नाटक लिखे हैं। प० बदरीनाथ भट्ट के नाटकों में हास्यरस का पुट अधिक है। पं० माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध', 'मिलिंद' जी का 'प्रताप-प्रतिज्ञा', पतजी की 'वरमाला' और 'अगूर की बेटी' और प्रेमीजी का 'रक्षाबन्धन' 'स्वप्न-भङ्ग' आदि नाटक साहित्यिक दृष्टि से अत्युत्तम होते हुए भी रङ्गमञ्च की आवश्यकताओं की भी पूर्ति करते हैं। 'प्रेमीजी' के इन दो नाटकों में राष्ट्रीय भावना से प्रेरित हिन्दू-मुसलमानों में पारस्परिक सहानुभूति उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। साहित्य समितियो द्वारा इनमे से कई नाटक समय समय पर खेले भी गये हैं। श्री जी० पी० श्रीवास्तव के नाटकों में हास्य की मात्रा अधिक है किन्तु उनमें साहित्यिक हास्य की

अपेक्षा धौल-धप्पे का हास्य अधिक है।

प० रामनरेश त्रिपाठी का 'जयन्त' और श्री सुमित्रानन्दन पंत का 'ज्योत्सना' नाटक साहित्यिक दृष्टि से अच्छे निकले हैं। ज्योत्स्ना नाट्य रूपक है। इसमें कल्पना का प्राधान्य है। प्राकृतिक वस्तुओं का मानवीकरण कर उनको पात्र बनाया गया है। लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'राजयोग' 'राक्षस का मन्दिर', 'सन्यासी', 'सिंदूर की होली', आदि नाटक समस्यात्मक नाटकों में गिने जा सकते हैं। सेठ गोविन्ददासजी ने 'उषा' 'हर्ष' 'कर्तव्य' 'प्रकाश' 'नवरस' 'कुलीनता' आदि कई नाटक लिखे हैं। प्रकाश के आरम्भ में थोड़ा प्रतीकवाद (Symbolism) से भी काम लिया गया है। हाल में सेठजी का लिखा हुआ 'चतुष्पथ' नाम का एक संवादात्मक नाटक (Monologues) का संग्रह निकला है। ऐसे नाटकों में केवल एक ही पात्र रहता है। सेठजी का अतुकान्त पद्य में भी स्नेह या स्वर्ग नाम का एक छोटा सा नाटक है। यह यूनानी कथा का भारतीय अनुकरण है। महाराज छत्रसाल के सम्बन्ध में श्री सत्येन्द्रजी ने 'मुक्ति-यज्ञ' नाम का वीर-रसात्मक एक अच्छा नाटक लिखा है। सत्येन्द्रजी के 'कुणाल', 'विक्रम का आत्ममेध' 'प्रायश्चित' आदि नाटक अभिनय योग्य होते हुए भी नाट्यकला की दृष्टि से अच्छे हैं।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का 'जय-पराजय' नाटक हमको राजपूत-काल के इतिहास की ओर ले जाता है। इसमें हम चण्ड की भीष्म-प्रतिज्ञा के दर्शन करते हैं और उसी के साथ वृद्ध विवाह की सामाजिक समस्या भी उपस्थित हो जाती है। किन्तु यह समस्या अब कुछ पुरानी हो चली है। अश्कजी का लिखा हुआ 'स्वर्ग की झलक' नामक नाटक बिल्कुल आधुनिक ढङ्ग का है। इसमें स्त्री-शिक्षा और पारिवारिक जीवन की समस्या है। अश्कजी ने कई एकाङ्की नाटक भी लिखे हैं, उनका एक संग्रह 'देवताओं की छाया में' नाम से निकला है। उसमें

एक दृश्यात्मक छोटी झांकी भी है। उनके हाल के नाटकों में 'नया-पुराना' 'चरवाहे', 'कैद और उड़ान' मुख्य है।

पं० उदयशङ्कर भट्ट ने कई नाटक लिखे हैं। उनका इतिवृत्त अधिकतर पौराणिक है। भट्टजी के 'सगर विजय' में सगर का अपने पिता के राजच्युत करने वाले दुर्जय पर विजय प्राप्त करने का हाल है। इसमें वशिष्ठ के उदारतापूर्ण सौजन्य और ब्रह्मतेज का वर्णन है। आजकल यद्यपि अपने ही पुरुषार्थ को अधिक महत्व दिया जाता है तथापि जिस समय की यह कथावस्तु है ब्रह्मतेज का सहारा ढूँढ़ना उस समय के अनुकूल है। 'अम्बा' महाभारत की कथा पर अवलम्बित है। इसमें प्रासङ्गिक रूप से विवाह की समस्या पर प्रकाश पड़ता है। भट्टजी का 'दाहर' खलीफा द्वारा 'सिंध की पराजय' से सम्बन्ध रखता है। इसमें वीर रस की प्रधानता है। भट्टजी का 'कमला' नाम का नाटक आधुनिक काल से सम्बन्ध रखता है। इसमें राजनीति के साथ रोमॉस भी है। इसमे किसानों का पक्ष लेकर जमीदारी प्रथा के खिलाफ आन्दोलन की छाप है। 'मत्स्यगन्धा' और 'विश्वामित्र' दोनों गीत नाट्यों में भाव का प्राधान्य है, और दोनों में ही पश्चात्ताप की भावना दृष्टिगोचर होती है। इन्होंने 'राधा' नाम का एक भाव-नाट्य भी लिखा है। हाल ही में 'एकला चलोरे' और 'कालिदास' नाम के रेडियो नाटक प्रकाशित हुए हैं। समस्या का अन्त और धूम-शिखा नाम के इनके दो एकाङ्की सग्रह भी निकल चुके हैं। इनके 'कुमार सम्भव' में आचार और कला की समस्या है। भट्टजी ने सरस्वती द्वारा कला का ही समर्थन कराया है।

श्री सुदर्शन जी ने भी कई अच्छे नाटक लिखे हैं उनमें 'अञ्जना' ने बहुत ख्याति पाई है। आपने 'आनरेरी-मजिस्ट्रेट' नाम का एक प्रहसन भी लिखा है। हाल मे आपका 'भाग्य-चक्र' निकला है। इसमें प्रेम और वैराग्य का संघर्ष है। इसमे भौतिक आघात द्वारा स्मृति-भ्रंश तथा उनकी पुनर्जागृति की मनोवैज्ञानिक समस्या है।

श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'छलना' नाम के नाटक में आधुनिक युग की छाप है, उसमें थोड़ा रूपक भी है।

हाल में भास के कुछ नाटकों का अनुवाद भी हुआ है। इसमें 'पञ्चरात्र' 'अभिषेक' 'प्रतिमा' पञ्जाब से निकले हैं। इनके 'स्वप्नवासवदत्ता' के एक से अधिक अनुवाद निकले हैं। इनका 'वध्यशिला' अनुवाद तो नहीं है किन्तु उसमे नागानन्द की छाया है।

डाक्टर रामकुमार वर्मा ने कुछ एकाँकी नाटक भी लिखे हैं। 'पृथ्वीराज की आँखें' के अतिरिक्त वर्माजी के लिखे हुए नाटकों में 'रेशमी टाई' 'चारुमित्रा' 'सत किरण' 'सही रास्ता' नाम के चार और संग्रह निकले हैं। श्री भुवनेश्वरप्रसाद के 'कारवाँ' मे उनके एकाङ्की नाटकों का संग्रह है। इनके अतिरिक्त उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास, गणेशप्रसाद द्विवेदी, उदयशङ्कर भट्ट, सत्येन्द्रजी, जगदीशचन्द्र माथुर, प्रभृति लेखकों ने अच्छे एकाङ्की लिखे हैं।

आजकल नाटकों पर इब्सन (Ibsen) शा (B. Shaw) आदि का अधिक प्रभाव है। सक्षेप में हम आधुनिक नाटकों की मूल प्रवृत्तियाँ इस प्रकार वतला सकते हैं। (१) वे आकार मे बहुत छोटे हो गये हैं, दो या तीन अङ्कों से ज्यादा नहीं होते (२) वे प्रायः वर्तमान समय से ही सम्बन्ध रखते हैं और उनमें वस्तुवाद (Realism) का प्राधान्य रहता है। (३) वर्तमान नाटक अधिकतर मनोवैज्ञानिक और समस्यात्मक होता जाता है। (४) उसमें रंगमंच के संकेतों का बाहुल्य रहता है, यहाँ तक कि कुर्सी, मेज, तसवीर आदि का स्थान निर्दिष्ट कर दिया जाता है। (५) सङ्कलन-त्रय (Three Unities) के पालन करने की ओर भी उनकी प्रवृत्ति हो चली है।

पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र के 'सिन्दूर की होली', पण्डित पृथ्वीनाथ शर्मा के 'दुविधा' और 'अपराधी' (शर्माजी के 'दुविधा' नामके नाटक में शिक्षित युवतियों के विवाह की समस्या है और

अपराधी में अपराधी की अर्थात् अपराध लिए व्यक्ति उत्तरदायी है वा समाज) नाटकों में तथा बहुत से नाटकों में विशेषकर एकाङ्कियों में यह प्रभाव बहुतायत से दिखाई देते हैं। पंडित लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समाज की व्यापक समस्याओं को लेकर व्यक्तियों की समस्याएं ली हैं। इनमें नारी की समस्या को प्राधान्य मिला है किन्तु व्यक्ति की समस्याएँ जाति की ही समस्याएँ बन जाती हैं। उनका 'सन्यासी' और 'राक्षस का मन्दिर' इसके उदाहरण हैं। उन्होंने 'गरुडध्वज' नाम का एक ऐतिहासिक नाटक भी लिखा है। वृन्दावनलाल वर्मा के 'हंस मयूर' और भट्टजी के 'शक विजय' में भी शकों के पश्चात आर्य संस्कृति की पुनःस्थापना का विषय है। वृन्दावनलाल वर्मा अब नाटक के क्षेत्र में भी उतर आये हैं।

रङ्गमञ्च के सम्बन्ध में जो कमी बाबू हरिश्चन्द्र के समय में थी वह प्रायः अब भी है। साहित्य-समितियों द्वारा कई नाटक अवश्य खेले गये थे। किंतु नाटक खेलने की प्रथा ने शिष्ट समाज में जड़ नहीं पकड़ी और अशिष्ट समाज से उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। अशिक्षितों के हाथ में साहित्यिकता जाती रहती है। फिर रङ्गमन्च में उन्नति किस प्रकार होती? हिंदी नाटकों का रंगमंच से विच्छेद रहा। इसका कारण यह है कि रङ्ग-मञ्च एक व्यवसाय का विषय हो गया है। जिस समय हिन्दी-भाषी प्रान्तों में नाटकों का पुनर्जीवन हुआ, उस समय उर्दू की तूती बोल रही थी। हास-विलास नाच-रङ्ग चमकते-दमकते पट-पाटम्बर में ही जनता की रुचि थी। अब देश में जाग्रति हुई है, भाषा की शुद्धता और शक्ति की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ है। अभिनय में मनोविज्ञान के ज्ञान की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। अतुकान्त पद्य के द्वारा नाटकीय भाषा के निर्माण का उद्योग किया जा रहा है। उसमें न गद्य की शुष्कता है न पद्य की नियमबद्धता, किन्तु उसमें पद्य का सुन्दर प्रभाव और ओज

है। यद्यपि सिनेमा ने रङ्गमञ्च के विकास को बहुत धक्का पहुँचाया है, तथापि स्कूल कालेजों और साहित्य समितियों द्वारा खेले हुए एकाङ्कियों के अभिनय में सफलता मिली है। अब रेडियो नाटकों का भी प्रचलन बढ़ता जाता है। पंडित उदयशङ्कर भट्ट और विष्णु प्रभाकर आदि ने सुन्दर रेडियो नाटक लिखे हैं।

हिन्दी भाषा को ऐसे नाटककारों की आवश्यकता है जो समाज के सूक्ष्म निरीक्षक हों, जो मनोविज्ञान के पण्डित हों, जो स्वयं अभिनय कुशल हों, सङ्गीतज्ञ हों, रंगमंच के सब नियमों से अभिज्ञ हों; भाषा पर जिनका प्रभुत्व हो और जो साधारण गद्य में कविता के प्रवाह के साथ शक्ति, सुबोधता और भाव गाम्भीर्य ला सकें। अब नाटक की उत्तमता कथावस्तु की पेचीदगी में नहीं रही, वरन् मानवीय प्रकृति की मनोवैज्ञानिक और सामाजिक-समस्याओं के उद्घाटन में है। हर्ष की बात है कि हमारे नाटककार इस ओर ध्यान भी दे रहे हैं।

कथा-साहित्य

साहित्य के और अङ्गों के साथ उपन्यासों का भी सूत्रपात बाबू हरिश्चन्द्र के समय में ही हो गया था। किन्तु उस समय के उपन्यास अधिकतर बंगला, अंग्रेजी आदि से अनुवादित हैं। इन अनुवादकों में गदाधरसिंह, रामकृष्ण वर्मा, कार्तिकप्रसाद खत्री विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें हरिश्चन्द्र कालीन युग की भाषा की छाप थी। उस समय के मौलिक उपन्यासों में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' बहुत काल तक शिक्षित समाज में आदर पाता रहा। इसमें हितोपदेश की-सी उपदेशात्मक प्रवृत्ति है। बीच-बीच में नीति के श्लोक भी हैं। इनके अतिरिक्त बाबू राधाकृष्णदास का 'निःसहाय हिन्दू' और प० बालकृष्ण भट्ट के 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' भी उल्लेखनीय हैं। बाबू गोपालराम (गहमरी) ने बंगभाषा

के गार्हस्थ्य जीवन सम्बन्धी कई उपन्यासों का अनुवाद किया है। इन्होंने अपनी भाषा को चटपटी बनाने के लिए पूर्वी शब्दों और मुहावरों का निस्संकोच प्रयोग किया है। कवि सम्राट पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'वेनिस का बाँका' में संस्कृतगर्भित हिन्दी का परिचय दिया है। 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' मे उन्होंने बोल-चाल की भाषा का कौशल दिखाया है।

हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यास लेखकों मे बाबू देवकीनन्दन खत्री ने विशेष ख्याति पाई। इनके उपन्यासों में घटना-बाहुल्य, तिलिस्म और ऐय्यारी की बातों की अधिकता थी। ये उपन्यास किसी दूसरी भाषा से अनुवादित नहीं थे। जनता की कौतूहल-वृद्धि की तृप्ति करने के कारण इनके उपन्यास बहुत लोकप्रिय बन गये। बहुत से उर्दू जानने वालों ने इनकी 'चन्द्रकांता संतति' पढ़ने के लिए हिन्दी का अभ्यास किया। चन्द्रकान्ता के अतिरिक्त 'काजर की कोठरी' 'कुसुमकुमारी' 'नरेन्द्रमोहिनी' 'वीरेन्द्र वीर' आदि कई उपन्यास आपने लिखे। इनके कारण हिन्दी की व्यापकता बढ़ी। ऐय्यारी के उपन्यासों की एक परम्परा के पालन करने वालों में बाबू हरिकृष्ण जौहर का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

साधारण जनता की रुचि के अनुकूल उपन्यास लिखने वालों में दूसरा नाम पं० किशोरीलाल गोस्वामी का आता है। 'अँगूठी का नगीना', 'लखनऊ की कब्र', 'चपला', 'तारा', 'प्राणदायनी' आदि इन्होने साठ से ऊपर उपन्यास लिखे हैं। इनके उपन्यास थोड़े साहित्यिक अवश्य हैं पर इनमें जनता की रुचि को ऊपर ले जाने का कोई विशेष उद्योग नहीं किया गया। इनमे वासना का विलास अधिक दिखाई देता है। इन्होंने अपने उपन्यासों मे कई शैलियों का प्रयोग किया है। पं० लज्जाराम मेहता ने भी 'धूर्तरसिकलाल' 'आदर्श हिन्दू आदि कई छोटे-छोटे उपन्यास लिखे। बाबू व्रजनन्दन सहाय आरा निवासी ने 'सौन्दर्योपासक' और 'आदर्श मित्र' आदि चार उपन्यास

लिखे। इनमें घटना-वैचित्र्य और चरित्र-चित्रण की अपेक्षा भावावेश की मात्रा अधिक है।

प्रेमचन्द

नये ढङ्ग के चरित्र प्रधान उपन्यास लिखने वालों में उपन्यास सम्राट प्रेमचन्दजी (जन्म स० १९३७) का नाम सबसे पहले आता है। इनका असली नाम मुन्शी धनपतराय था। पहले ये उर्दू में गल्पे लिखते थे। पीछे इन्होंने हिन्दी को अपनाया और बड़े सुन्दर उपन्यासों की सृष्टि की। इनके पूर्व चरित्र-चित्रण पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता था। इन्होंने अपने पात्रों को सजीव और व्यक्तित्वपूर्ण रचा जो कठपुतली की भाँति उपन्यासकार के हाथ के इशारे पर नहीं नाचते वरन् अपने व्यक्तित्व के बल पर स्वाभाविक विकास को प्राप्त होते हैं। इनके पात्र चलते-फिरते, परिचित से प्रतीत होते हैं। प्रेमचन्दजी यद्यपि आदर्शवाद की ओर झुके हुए हैं और कभी-कभी वे आदर्शवाद की झोंक मे अपने पात्रों को स्वाभाविकता की सीमा से बाहर उठा ले जाते हैं (जैसे 'सेवासदन' की सुमन) तथापि उनके पात्रों के चरित्र का उत्थान-पतन क्रम-क्रम से होता है।

प्रेमचन्दजी के परिस्थिति-चित्रण बहुत ही वास्तविकता लिए हुए हैं। ग्रामीण दृश्यों के चित्रण करने में उन्होंने श्लाघनीय कौशल दिखलाया है। पुलिस के अफसरों के अत्याचारों के उद्घाटन में प्रेमचन्दजी ने अच्छी सफलता प्राप्त की है। कर्मभूमि में राजनीतिक आन्दोलन का बड़ा सजीव चित्रण है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनकी कला में कृत्रिमता नहीं है। वे जीवन के तथ्यों को सुलझे हुए शब्दों में सूक्ति रूप से रखने मे सिद्धहस्त हैं।

मुन्शीजी ने प्लेटफार्म से राष्ट्र की सेवा नहीं की किन्तु उनकी करुणा कलित लेखनी ने दीन-दुखियों की मर्म भरी मूक वेदना को मुखरित कर लोगों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया। मुन्शीजी ने निम्न कोटि के लोगों में मानवता के दर्शन कराये हैं। वे बिगड़े

को सुधारने मे विश्वास रखते हैं। कुछ लोगों का ख्याल है कि प्रेमचन्दजी अपने उपन्यासों में उपन्यासकार का रूप छोड़ कर उपदेशक और प्रचारक का रूप धारण कर लेते हैं। यह बात किसी अंश तक ठीक है, किन्तु विशेष स्थलों को छोड़कर उन्होंने ऐसा प्रोपेगेंडा नहीं किया जो पाठकों को अरुचिकर हो जाय। यह बात अवश्य माननी पडेगी कि आजकल की भाँति वे 'कला-कला के अर्थ' मानने वालो में न थे। जिस समय उन्होने लिखना शुरू किया था उस समय एक धार्मिक उत्थान की प्रवृत्ति चल रही थी, उसका थोड़ा-बहुत प्रभाव उन पर था।

अध्ययनशील पाठकों के लिए उनकी रचनाओं को तीन श्रेणियों मे विभक्त किया जा सकता है। पहली श्रेणी मे (१) प्रतिज्ञा और (२) वरदान। दूसरी श्रेणी मे—(१) सेवा सदन (२) निर्मला और (३) गबन। तीसरी श्रेणी मे (१) प्रेमाश्रम (२) रङ्गभूमि (३) कायाकल्प (४) कर्म-भूमि और (५) गोदान। पहली श्रेणी की रचनाएँ प्रारम्भिक काल की हैं। उनका महत्व यही है कि उनसे मालूम होता है कि प्रेमचन्द्र शुरू में क्या थे? दूसरी श्रेणी की रचनाओं में सामाजिक समस्याओं को प्रधानता दी गई है। 'सेवा-सदन' में दहेज-प्रथा, 'निर्मला' वृद्धावस्था में दूसरे विवाह और शङ्का और अविश्वास के दुष्परिणाम और 'गबन' में गहने की चाह के बुरे फल को दिखाया गया है। इन रचनाओं मे लेखक की तीव्र पर्यवेक्षक-शक्ति का जगह-जगह बोध होता है। उदाहरणार्थ गबन मे भय की मनोवृत्ति का अच्छा चित्रण किया है। तीसरी श्रेणी की रचनाओं में प्रेमचन्द्र दूसरे रूप में दर्शन देते हैं। इनमें वे जीवन के एक अंश के नहीं, वरन् सम्पूर्ण जीवन के द्रष्टा हैं। उनका उपन्यास भी किसी वर्ग विशेष के लिए सीमित नहीं रहता, वरन् वे सम्पूर्ण जीवन समाज को अपनी प्रतिभा के प्रकाश में हमारे सामने अंकित कर देते हैं।

मुन्शी प्रेमचन्द कहानी लिखने में भी उतने ही सफल हुए हैं

जिनने उपन्यास लिखे हैं. केवल इतना ही नहीं वरन् कुछ लोगों का तो विचार यहाँ तक है कि वे कहानी लिखने में उपन्यासों की अपेक्षा कहीं अधिक सफल हुए हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में समाज के उपेक्षित लोगों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया। उनकी कहानियों में घरेलू जीवन के अतिरिक्त बहुत-सी सामाजिक समस्याओं के ऊपर प्रकाश डाला गया है, और समाज में अपने को बड़ा समझने वाले लोगों की कमजोरियों का बड़ा मनोरञ्जक रूप से वर्णन किया गया है। इनकी कहानियों में 'बड़े घर की बेटी', 'रानी सैन्धा', 'शतरञ्ज के खिलाड़ी', 'ईदगाह' आदि की बड़ी ख्याति है। उनके उपन्यास और बहुत-सी कहानियों में मुसलमानों का चरित्र भी सुन्दर रीति से चित्रित हुआ है। बहुत-सी कहानियों में सामाजिक चित्र भी अच्छे आये हैं। 'नवनिधि', 'प्रेमद्वादशी', 'प्रेम पचीसी', 'मान-सरोवर' (सात भाग) आदि उनकी कहानियों के कई अच्छे संग्रह निकल चुके हैं।

प्रेमचन्दजी की भाषा चलती हुई मुहावरेदार हिन्दी है जिसको हिन्दुस्तानी कहना अधिक उपयुक्त होगा। उनके लेखन काल के आरम्भ में उनकी भाषा प्रायः दोषपूर्ण हुआ करती थी, परन्तु पीछे से वह बहुत मँज गई थी। मुन्शीजी की भाषा में माधुर्य पूर्ण प्रवाह के साथ जोर भी है। उनकी उपमाएँ चुभती हुई और मनोरञ्जक होती हैं। मुन्शीजी के पात्रों की भाषा उनकी सामाजिक स्थिति के अनुकूल बदलती रहती है। इस पर कुछ लोगों का यह आक्षेप भी है कि यदि कोई पात्र चीनी हो तो क्या उससे चीनी भाषा में बात-चीत करायेंगे। चीनी दूसरी भाषा है, उसको हिन्दी में कैसे स्थान दिया जा सकता है? किन्तु कोई भाषा एक रस नहीं होती। एक भाषा को भिन्न-भिन्न श्रेणी के लोग भिन्न-भिन्न रूप से बोलते हैं। मुन्शीजी ने भी उसी बात को दिखाया है। उर्दू कोई विदेशी भाषा नहीं है जिसको हिन्दी बोलने वाले न समझते हों। हाँ, कहीं-कहीं उनके मुसलमान पात्रों की उर्दू

बहुत कठिन होगई है किन्तु यह भाषा उनकी स्थिति के लोगों के बिलकुल अनुकूल है।

जयशङ्करप्रसाद

यद्यपि प्रसादजी का मुख्य क्षेत्र नाटक है तथापि उपन्यास और आख्यायिकाओं में भी उनका विशेष स्थान है। 'कङ्काल' और 'तितली' लिखकर प्रसादजी ने उपन्यास क्षेत्र में भी अपना स्थान बना लिया है। 'कङ्काल' में प्रसादजी ने आदर्शवाद की अपेक्षा, यथार्थ का अधिक परिचय दिया है। समाज के सभी प्रकार के पतित लोगों को उन्होंने संयोगवश एक ही स्थान में एकत्र कर दिया है। यद्यपि समाज मे बुराई और दुःख की मात्रा कम नहीं है और लोगों की दुष्प्रवृत्तियों का चित्र खींचना अस्वाभाविक नहीं है तथापि मानव हृदय की कमजोरियों को ही देखते रहने से मनुष्य जाति के प्रति अश्रद्धा-सी उत्पन्न हो जाती है, उसका प्रभाव बुरा पड़ता है। फिर भी हम यह नहीं कहते कि प्रसादजी का मूलोद्देश्य लोगों का ध्यान बुराइयो की ओर आकर्षित करना था। कङ्काल मे गोस्वामीजी के उपदेश मे उन्होंने हिन्दू सङ्गठन और धार्मिक एवं सामाजिक आदर्शों सम्बन्धी अपने विचारो का दिग्दर्शन कराया है। इस प्रकार उसमें भी समाज की बुराइयों के उद्‌घाटन के साथ निर्माण और सुधार की ओर भी प्रवृत्ति है।

प्रसादजी के 'कङ्काल' की कमी 'तितली' मे अपेक्षाकृत पूर्ण हो हो गई है। 'तितली' में ग्रामीण दृश्यों का भी अच्छा चित्रण है और ग्रामीण समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु यह सुधार का प्रयत्न ऐसे लोगों की ओर से है जो ग्राम-सुधार के लिए ऊपर से उतर कर कुछ नीचे आते हों और फिर ऊपर को चले जाते हो। प्रसादजी आख्यायिका लिखने में विशेष सफल हुए हैं। हिन्दी में वे एक प्रकार से प्रथम मौलिक कहानी लेखक कहे जा सकते हैं।। प्रसादजी की कहानियों में कथानक की अपेक्षा भावों का प्राधान्य है। यही मुन्शीजी

और उनकी कहानियों में अन्तर पाया जाता है। प्रसादजी कवि-हृदय हैं। उनकी कहानियों में यह कविता स्थान-स्थान पर प्रस्फुटित होती रहती है। सुख-दुख, संयोग-वियोग, त्याग, सहानुभूति मानव-स्वभाव की इन्हीं सहज वृत्तियों की भित्ति पर प्रसादजी की कहानियों का प्रसाद निर्मित है। उनकी 'पुरस्कार' नाम की कहानी में राजभक्ति और वैयक्तिक प्रेम का अच्छा समन्वय किया गया है। प्रसादजी की व्यापक एवं गम्भीर वेदना हमें प्रत्येक के प्रति न्यायशील होने के लिए प्रेरित करती है। उन्होंने कुछ सामाजिक कहानियाँ भी लिखीं हैं, लेकिन उनकी ऐतिहासिक कहानियों का मूल्य अधिक है। उनमें वे हमें बौद्ध-कालीन तथा मुगल और पठान कालीन सभ्यता की सैर कराते हैं। 'आँधी' 'आकाशदीप' 'प्रतिध्वनि' और 'इन्द्रजाल' नाम के उनके कई सुन्दर कहानी सग्रह हैं। प्रसादजी की प्रायः सभी रचनाएँ प्राचीनता और ऐतिहासिकता को लिए हुए हैं। उनकी कहानियों में वातावरण का चित्रण बड़ा आकर्षक होता है।

प्रसादजी की भाषा संस्कृतगर्भित अधिक रहती है। उनमे मुहावरों को स्थान कम मिलता है। इस बात के होते हुए भी उनकी भाषा में शैथिल्य नहीं आने पाया है। उसमें चमत्काकर-प्रदर्शन अधिक दिखलाई देता है। कहीं-कहीं नाटकत्व भी प्रचुर मात्रा मे विद्यमान रहता है। उनके पात्रों की भाषा प्रायः उन्हीं की-सी होती है, अर्थात् उनकी भाषा पात्रों की स्थिति के अनुकूल बदली नहीं है।

पं० विशम्भरनाथ शर्मा कौशिक

आप उपन्यासकार और कहानी लेखक दोनों के ही रूप में हमारे सामने आते हैं। 'भिखारिणी' और 'माँ' इनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं और 'मणिमाला' और 'चित्रशाला' कहानियों के प्रख्यात संग्रह हैं। आप उपन्यासों में उतने सफल नहीं हुए जितने कहानियों में। उपन्यासों में आपने 'माँ' मे अपेक्षाकृत अधिक सफलता प्राप्त की है। आपकी कहानियाँ अधिकतर सामाजिक हैं। आपकी बहुत-सी कहा-

नियों में शहरी जीवन के अच्छे चित्र आये हैं। कौशिकजी की कहानियाँ वर्त्तालाप प्रधान हैं और उनमे मानसिक वृत्तियों का विश्लेषण बहुत अच्छा है।

सुदर्शन

कहानी के क्षेत्र मे आपने बड़ी प्रसिद्धि पायी है। आपकी कहानी के पात्र साधारण कोटि के लोग होते हैं। आपकी कुछ कहानियों के कथानक (जैसे अँधेरे में) राजनैतिक आन्दोलन से भी लिये गये हैं। 'जीत की हार' में हमें उच्च मानवता के दर्शन होते हैं। उसमें चरित्र परिवर्तन का अच्छा उदाहरण मिलता है। आपकी 'न्यायमन्त्री' नाम की कहानी ने बहुत लोकप्रियता प्राप्त की है। उसमे न्याय और स्वामि-भक्ति का अच्छा संघर्ष है। सुदर्शनजी शहरी मध्यवर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। उनकी कलम के स्पर्श से शहर के मध्यवर्गी पात्र भी किसान और मजदूरों से मूक तपस्वी दिखलाई पड़ते हैं। वास्तव में सुदर्शन और कौशिकजी प्रेमचन्दजी के साथ हिन्दी कहानी साहित्य के वृहत्त्रयी में रक्खे जा सकते हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा

आप झाँसी के रहने वाले हैं और आपका बुन्देलखण्ड से विशेष परिचय है। आपने अपने 'गढ़कुण्डार' नामक उपन्यास मे इतिहास और कल्पना का बड़ा सुन्दर सामञ्जस्य किया है। इस उपन्यास में बुन्देलखण्ड की चौदहवीं शताब्दी का राजनीतिक स्थिति का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। 'विराटा की पद्मिनी' भी उनका इसी कोटि का उपन्यास है। 'कुण्डली-चक्र, और 'सग्राम' इनके दो और उपन्यास हैं। इनके उपन्यासो मे प्रकृति-चित्रण अधिक रहता है और ये वातावरण को बड़े मनोयोग के साथ वास्तविक निरीक्षण के आधार पर चित्रित करते हैं और उसमें स्थानीय रङ्ग ले आते हैं। 'कभी न कभी' नाम के आपके उपन्यास में दो मजदूरों के पारस्परिक मैत्री भाव का वर्णन

है। प्रसङ्गवश मजदूर जीवन की कठिनाइयों का भी दिग्दर्शन है। वर्माजी की 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' नाम के नवीन उपन्यास में सन् सत्तावन के गदर का बड़ा प्रामाणिक वर्णन है। यह दिखलाया गया है कि वह अङ्गरेजों से स्वतन्त्रता प्राप्त करने का असफल प्रयत्न था। विद्रोह के मूल में उच्च भावनाएँ ही थीं। उसमें कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता और ऐतिहासिकता अधिक है।

मुन्शी प्रतापनारायण श्रीवास्तव

मुन्शी प्रेमचन्दजी ने जिस प्रकार ग्रामीण जीवन का चित्रण किया है उसी प्रकार मुन्शी प्रतापनारायणजी ने शहरी जीवन के उच्च वर्ग का चित्र उतारा है। उन्होंने केवल तीन ही उपन्यास लिखे हैं, उनके नाम हैं—'विदा', 'विकास' और 'विजय'। तीनों में एक खल नायक या नायिका है, जिसकी धूर्तता का ऐसे समय पर उद्घाटन किया जाता है जब वह अपनी सफलता की चरम सीमा पर होता या होती है। तीनों में एक विशेष सीमा के भीतर 'स्त्री-स्वातन्त्र्य' का पक्ष लिया गया है। इन उपन्यासों मे विदेशी रमणियाँ भी आई हैं। उनमे दो साध्वी हैं, शेष दुष्टा। 'विकास' नाम के उपन्यास में आघातों द्वारा पूर्व जन्म की स्मृतियों को जगा कर एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग सा किया गया है। उपन्यासों की मिली-जुली समाज के अनुरूप ही भाषा भी कुछ मिली-जुली हो गई है। मुन्शी प्रतापनारायण ने कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं।

चण्डीप्रसाद 'हृदयेश'

आपने उपन्यास भी लिखे हैं और कहानियाँ भी। 'मङ्गल-प्रभात' और 'मनोरमा' आपके उपन्यास हैं और 'नन्दन निकुञ्ज' और 'वन-माला' कहानियों के दो संग्रह हैं। आपकी रचनाओं में कवित्व-पूर्ण शैली का ही अधिक महत्व है। भाषा की सजावट में कहीं-कहीं पात्रों का व्यक्तित्व छिप जाता है। आपकी कहानियों को गद्य काव्य कहना सत्य से बहुत दूर न होगा। आपने बाण की सी अलङ्कार और समासों से भारी-भरकम एवं क्लिष्ट शैली का हिन्दी में अनुकरण किया है।

जैनेन्द्रजी की कहानियों में भावुकता और करुणा की मात्रा अधिक रहती है और वे कुछ आन्तरिक तथ्य की ओर झुकती हुई दिखलाई पड़ती है। आपकी भाषा चलती हुई हिन्दी है और उसमे कहीं-कहीं दिल्ली के स्थानीय मुहावरे भी आ गये हैं। कहीं-कहीं आपने अङ्गरेजी मुहावरों का अनुवाद कर दिया है। आवश्यकतानुकूल आपने उर्दू शब्दो का भी व्यवहार किया है। आपकी कहानियों मे मनोवैज्ञानिक अध्ययन अधिक रहता है। जोर डालने के लिए आपने शब्दों को आगे पीछे रखने में सकोच नहीं किया है।

शिव पूजन सहाय

आपने अपनी 'देहाती दुनिया' से कथा साहित्य में अच्छा नाम पाया है। आपकी भाषा बहुत शुद्ध और मुहावरेदार है। आपकी भाषा में माधुर्य और ओज़ का अपूर्व सम्मेलन दिखाई देता है। आपकी शैली परिष्कृत, तर्कपूर्ण तथा परिमार्जित है। आपकी भाषा भाव और नियमों के अनुकूल चलती है। आप प्रायः सामासिक पद लिखते हैं, और कहीं-कही पद्यात्मक तुकान्त भी।

उपसंहार—

वर्तमान युग के उपन्यास क्षेत्र मे मुन्शी प्रेमचन्द, बाबू वृन्दावन-लाल वर्मा, चतुरसेन शास्त्री आदि ने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। आजकल उपन्यास साहित्य वहुत बढ़ गया है। प्रसादजी, निरालाजी, सियारामशरणजी गुप्त आदि कवियों ने 'कङ्काल', 'अप्सरा', 'निरुपमा', 'गोद', 'नारी' आदि अच्छे उपन्यास लिखे हैं। श्री उपेन्द्रनाथ अश्क का 'सितारों का खेल', श्रीनाथसिंह के 'जागरण' और भगवतीचरण वर्मा के 'तीन वर्ष, तथा 'चित्रलेखा', उषादेवी मित्रा के 'पिया', 'जीवन की मुस्कान' और 'पथचारी' एव भगवतीप्रसाद वाजपेयी के 'पतिता की साधना', 'दो वहिनें, और 'निमन्त्रण' नाम के उपन्यास नये उपन्यासों में उल्लेखनीय हैं। 'खाली वोतल' और 'ज्वार-भाटा'

नाम के भगवतीप्रसाद वाजपेयी के कहानियों के संग्रह हाल ही में निकले है। कहानी-क्षेत्र में 'उग्र', 'कौशिक' और जैनेन्द्रकुमार के अतिरिक्त सत्यजीवन वर्मा, डा० धनीराम प्रेम, अज्ञेय, पहाड़ी तथा विष्णु ने भी काफी ख्याति पायी है। श्री अज्ञेयजी का एक उपन्यास भी निकला है।

हाल में बङ्गला-साहित्य के रत्न स्वरूप शरत् और रवीन्द्र के उपन्यासो का अनुवाद निकला है। श्री० के० एम० मुन्शी का 'पाटन का प्रभुत्व' 'जय सोमनाथ' और 'भगवान् परशुराम' आदि गुजराती से अनुवादित हुए हैं।

स्त्री लेखिकाओं में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान के 'बिखरे मोती' नाम के कहानी संग्रह ने बड़ी प्रसिद्धि पायी है। श्रीमती शिवरानी देवी, होमवती, उषा मित्रा, कमलादेवी चौधरानी, चन्द्रकिरण सोनरिक्सा, चन्द्रावती जैन आदि कई लेखिकाएँ इस क्षेत्र में अच्छा कार्य कर रही हैं।

कहानी साहित्य के विषयो का वैविध्य खूब बढ़ता जा रहा है। कहानी के क्षेत्र मे मनुष्य के साथ बैल और बकरे भी भारवाहक न होकर भाव क्षेत्र में मनुष्यो के बराबर स्थान लेते है। कहीं-कहीं पूर्व-जन्म तक की भी बात छेड दी जाती हैं। पहाड़ी जी ने डाक्टरी के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग किये हैं जो उनके 'मौल। पाये जाते हैं। किन्तु उसमे एक विकृत मनोवृत्ति का परिचय मिलता है। कथाओ मे युद्ध का भी प्रभाव परिलक्षित होने लगा है और किन्हीं-किन्हीं कहानियो में गत महायुद्ध की घटनाएँ वर्तमान युद्ध के साथ सम्बद्ध करदी गई हैं। आजकल के उपन्यास मे भावुकता की कमी तो नही है किन्तु विचार की सामग्री अधिक मिलती है।

जिस प्रकार मुन्शी प्रेमचन्दजी गान्धीवाद से प्रभावित थे उसी प्रकार नरोत्तमप्रसाद नागर और यशपाल प्रगतिवाद को अपने उपन्यासों में आश्रय दे रहे हैं। यशपाल के 'दादा कामरेड' मे समाजवादी

पाण्डेय वेचन शर्मा 'उग्र'

आपकी राजनैतिक तथा सामाजिक कहानियाँ बड़ी चुभती हुई होती हैं। आपने समाज का नग्न चित्र खींचना चाहा है और कभी-कभी मानव-कमजोरियों का ऐसा चित्र उतारा है कि लोगों को अपनी कौतूहल तृप्ति करने के लिए उनकी ओर आकर्षित होना पड़ता है। आप बड़ी जोरदार भाषा लिखते हैं जिसमें बड़ा चपपटापन रहता है। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने इनकी रचनाओं को घासलेटी साहित्य में रखकर बड़ा प्रोपेगेण्डा किया था। 'चन्द हसीनों के खतूत' 'दिल्ली का दलाल' 'बुधुआ की बेटी' आपके उपन्यास हैं, तथा 'दोजख की आग' और 'इन्द्र धनुष' कहानियों के संग्रह हैं। किन्तु उनकी सभी चीजे घासलेटी नहीं होती हैं। उनकी 'उसकी मा' शीर्षक कहानी बड़ी करुणा पूर्ण है। उन्होंने महात्मा ईसा नाम का जो नाटक लिखा है वह भी बड़ा शिक्षाप्रद है और उनकी उदारता का परिचायक है।

पं० विनोदशङ्कर व्यास

आपने बहुत छोटे आकार की भाव-पूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। कहानियों मे भाव-प्राधान्य के नाते आप प्रसादजी की कक्षा में आते हैं। आपने 'मधुकरी' नाम से कहानियों के दो संग्रह निकाले हैं, जिनमें सभी प्रधान-प्रधान लेखकों की चुनी हुई कहानियाँ हैं। आपने श्री ज्ञानचन्द्रजी के साझे में 'कहानी कला' पर एक अच्छी पुस्तक लिखी है।

चतुरसेन शास्त्री

'हृदय की प्यास' 'हृदय की परख', 'अमर अभिलाषा', 'आत्म-दाह' नाम के आपके चार उपन्यास हैं, और 'अक्षत' 'रजकण' 'सिंहगढ़ विजय' आदि आपके कई कहानी-संग्रह निकल चुके हैं। आपकी भाषा का मुख्य गुण धारावाहिकता है। आप भी मुन्शी प्रेमचन्द की सी चलती हुई भाषा लिखते हैं। आपकी कथाओं का विषय अधिकतर शृङ्गारिक है जो कहीं-कहीं अधिक कुरुचिपूर्ण हो गया है। आपकी

'अमर अभिलाषा' के विरुद्ध बहुत-कुछ आन्दोलन भी हुआ था। उस में विधवाओं की दशा का चित्रण है। वह चित्रण सामाजिक व्यवस्था के प्रति प्रतिक्रिया और विद्रोह प्रकट करने के लिए उतना नहीं है जितना कि उद्दीपक सामग्री उपस्थित करने के लिए। पर यह बात आपकी सभी रचनाओं के बारे में नहीं कही जा सकती। आपने ऐतिहासिक कहानियाँ बहुत अच्छी लिखी हैं। वैसे आपके वर्णन बड़े चित्ताकर्षक और भाषा बड़ी स्वाभाविक होती है। आप तद्भव शब्दों का भी प्राचुर्य के साथ व्यवहार करते हैं।

जैनेन्द्र कुमार

आपने 'तपोभूमि' (श्रीऋषभचरण के साथ) 'परख' 'सुनीता' 'त्याग-पत्र' और 'कल्याणी' नाम के पाच उपन्यास लिखे हैं। 'वातायन' 'एक रात' 'दो चिड़ियाँ' और 'नीलम देश की राजकन्या' आप की कहानियों के संग्रह ग्रन्थ हैं। केवल अनुकरण को आप कला नहीं मानते। आपके शब्दों में उपन्यास का आदर्श इस प्रकार है—

'उपन्यास में जैसी दुनिया है वैसी ही चित्रित नहीं होती, दुनिया का कुछ उठा हुआ, उन्नत, कल्पित-रूप चित्रित किया जाता है। वह उपन्यास किसी काम का नहीं जो इतिहास की तरह घटनाओं का बखान कर जाता है। काम से मतलब, वह दुनिया को आगे बढ़ाने मे जरा भी मदद नहीं देता।' आपके वर्णन बहुत वास्तविकता लिये हुए हैं। कहीं-कहीं आप जरूरत से ज्यादा व्यौरा देते हैं। आपके उपन्यासो में समाज के प्रति नव-युवकों की विद्रोह-भावना के दर्शन मिलते हैं। फिर भी आप कोरे बुद्धिवादी नहीं हैं। आपके उपन्यासों मे सामाजिक प्रयोग करने की-सी प्रवृत्ति रहती है। आपने सुनीता में पति की उदारता को पराकाष्ठा तक और प्रचलित नैतिकता के मानों के अनुकूल दोष की हद तक पहुँचा दिया है। आपने स्त्रियों के नैतिक आदर्श को रूढि-ग्रस्त कसौटी से नहीं जाँचा है।

विचार धारा का परिचय मिलता है किन्तु वह केवल बौद्धिक ही है, क्रियात्मक रूप से उसका नायक अपने आदर्शों की अपेक्षा अपनी वासनाओं को मूर्तिमान करता है। आजकल के कथा-साहित्य में आदर्श और नीति की अपेक्षा यथार्थवाद के सहारे मनोविज्ञान को अधिक सहारा मिलता जा रहा है। अज्ञेय, जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासो मे मनोवैज्ञानिक चित्रण को अधिक महत्व दिजा जा रहा है। उनमे कहीं-कहीं मनोविश्लेषण शास्त्र (Psycho Analysis) के सिद्धान्तों का भी प्रभाव परिलक्षित होता है। ऐसे उपन्यासों में मनुष्य की सारी क्रियाएँ उसके उपचेतन यानी भीतरी मन की तहों (Sub-consciosness) में दबी हुई वासनाओं के फलस्वरूप दिखाई जाती है। नरोत्तमप्रसाद नागर के 'दिन के तारे' नाम के उपन्यास मे मनोविश्लेषण की पर्याप्त हठ है किन्तु उसमें ऐसा मालूम होता है कि रीतिकालीन कविता की भाँति मनोविज्ञान के उदाहरण सप्रयत्न लाये गये हैं। मार्क्सवाद से प्रभावित ऐतिहासिक उपन्यासों में राहुलजी का 'सिंह सेनापति' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने प्राचीन वातावरण मे गणतन्त्र राज्यो के सहारे मार्क्सवादी सिद्धान्तों का उद्घाटन किया है।

यथार्थवाद और मनोवैज्ञानिकता के आधार पर प्राचीन नैतिक भाव अपनी नैतिकता खो बैठे हैं। आजकल का उपन्यासकार अन्तः और बाह्य परिस्थितियो का अध्ययन कर कर्म के अन्तः स्रोतों पर प्रकाश डालत है और इस प्रकार अपराधी को परिस्थितयों का शिकार बतला कर उसके साथ सहानुभूति प्रकट करता है। आजकल व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक दोषी ठहराया जाता है। यह प्रकृति कहीं-कहीं मर्यादा का उल्लङ्घन कर गयी है। पाप-पुण्य के बीच की रेखा सिद्धान्त रूप से मिटाई जाने का प्रयत्न किया जा रहा है। भगवती-चरण वर्मा के चित्रलेखा नाम के उपन्यास में इसका बडा विशद विवेचन है। उनके 'टेढ़ेमेढ़े रास्ते' मे एक ताल्लुकेदार के तीन लड़के

विभिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं। उसमें गान्धीवाद, समाजवाद, और आतङ्कवाद का तुलनात्मक अध्ययन मिल जाता है। यद्यपि तीनों ही लड़के अपने जीवन में विफल हुए हैं तथापि उन्होंने अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुकूल अपने-अपने ग्रन्थ का पूर्ण प्रतिनिधित्व किया है। सर्वदानन्द वर्मा के 'नरमेध' में लेखक का उद्देश्य तो समाज-सुधार है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उसके नायक की सृष्टि सामाजिक आधार के भङ्ग करने के लिए की हो। यह अवश्य मानना होगा कि समाज वहुत-सी अनीतियों को जन्म देता है किन्तु नीति को तोड़ना अनीति का इलाज नहीं है।

आजकल के कहानी लेखक उपदेश देने की अपेक्षा जीवन के दर्शन कराना अधिक वाञ्छनीय समझते हैं और जीवन से प्रेरित आत्माभिव्यञ्जन (Self-expression) को अपना ध्येय मानते हैं। हमारे साहित्य का यह अङ्ग खूब पुष्ट हो रहा है। आजकल के उपन्यासों में विशेष-विशेष विचार-परम्पराओं के अग्रसर करने की ओर भी प्रवृत्ति है।

निवन्ध

निवन्ध गद्य का मुख्य अङ्ग है तथापि उसके साहित्य का यथोचित विस्तार नहीं हुआ है। निवन्ध छोटे और वड़े सभी विषयों पर कई प्रकार के हो सकते हैं। निवन्ध लेखक एक विशेष निजीपन के साथ अपने विचार को स्वतन्त्र रूप से प्रकट करता है।

निवन्धों का इतिहास भी हरिश्चन्द्र युग से आरम्भ हुआ। इस समय खूब चटपटे लेख लिखे गये थे। उन लेखों में चटपटेपन के अतिरिक्त थोड़ा-वहुत तथ्य-निरूपण भी रहता था। उस समय के लेखकों में हिन्दू सभ्यता और त्यौहारों की अच्छी विवेचना रही। इन लेखों में देश की भावनाओं एवं उमङ्गों की झलक मिलती है और वे अधिकांश में भावात्मक और वर्णनात्मक होते थे। तत्कालीन लेखकों की प्रवृत्ति धार्मिक होते हुए भी समाज-सुधार की ओर थी। उन्होंने

सामाजिक और राजनीतिक निबन्धों में हास्य व्यंग्य का पुट देकर उन्हें काफी सजीव और रोचक बना दिया था। जिन्दादिली उस काल का व्यापक गुण था। उस समय के लेखकों में पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० प्रतापनारायण मिश्र, प० बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' और पं० अम्बिकादत्त व्यास मुख्य है। इनका संक्षिप्त विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (स० १६२७—१६६५)

आपके समय में 'सरस्वती' द्वारा स्फुट निबन्धों की संख्या की वृद्धि के साथ विषय-वैचित्र्य और विचार गाम्भीर्य भी बढ़ा। स्वयं द्विवेदी जी ने 'बेकन विचार रत्नावली' नाम से बेकन के अँग्रेजी निबन्धों का अनुवाद निकाला। गङ्गाप्रसाद अग्निहोत्री ने चिपलूण करके निबन्धों का अनुवाद 'निबन्ध-मालादर्श' नाम से निकाला।

आचार्य महावीरप्रसाद के मौलिक लेखो के संग्रह 'साहित्य सीकर' और 'रसज्ञ-रञ्जन' नाम से निकले हैं। अब तो उनके सरस्वती मे लिखे हुए लेखो के कई नाम से बहुत से सग्रह निकल चुके है। द्विवेदीजी के लेख विचारात्मक श्रेणी में आयेगे। आपकी भाषा में सस्कृत के तत्सम शब्द अधिक रहते हैं। उनकी भाषा में व्याकरण की शुद्धता और विराम-चिन्हों की सुव्यवस्था विशेष रूप से दर्शनीय है। द्विवेदीजी की शैली की छोटे छोटे वाक्यों द्वारा एक बात को थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ कहकर समझाने वाली व्यास-प्रधान शैली है। द्विवेदीजी ने जहां कुछ व्यग्य-विनोद किया है वहाँ उर्दू के शब्द आ गये हैं।

पं० माधवप्रसाद मिश्र (स० १६२८-१६६४) ये 'सुदर्शन' पत्र के सम्पादक थे। इनकी भाषा गम्भीर तथा शान्त थी। इनके निबन्ध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारावाहिक शैली पर चलते थे। इनमे देश भक्ति की भावना काफी रहती थी।

गोपालराम 'गहमरी'—आपने भी उपन्यास क्षेत्र के साथ-साथ निबन्ध-साहित्य की पूर्ति की है। आपकी भाषा बड़ी चञ्चल, चटपट और मनोरञ्जक होती है। आप शब्द-चित्र खींचने में बहुत सिद्धहस्त है।

पं० गोविन्द नारायण मिश्र—आपके निबन्ध बड़े पाण्डित्यपूर्ण होते थे। आप साधारण विषयों को भी उच्च कोटि की भाषा में व्यञ्जित करना चाहते थे। आपके लिए भाषा भाव-प्रकाशन का माध्यम मात्र न होकर स्वय एक साध्य वस्तु थी, हिन्दी में आपने वाण और दण्डी के गद्य का आदर्श उपस्थित करने का प्रयत्न किया था। आपकी भाषा मे सस्कृतपन तो होता ही था किन्तु जब तथ्य-निरूपण करते थे तब शब्दाडम्बर की मात्रा बहुत कम हो जाती थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (सं० १६४१—१६६८)

आपके लेख बड़े गम्भीर और विचारपूर्ण हैं। आपके कुछ लेखो का सग्रह 'विचार-वीथी' के नाम से प्रकाशित हुआ था। उसमें 'प्रेम' 'घृणा' 'कविता' आदि विषयों पर बहुत से विचारपूर्ण निबन्ध निकले हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न मानसिक वृत्तियों के सूक्ष्म भेद बतलाये हैं। विचार वीथी के निबन्धों के साथ साहित्य-शास्त्र से सम्बन्ध वाले साहित्यिक कुछ और निबन्ध जोड़कर नया संग्रह 'चिन्तामणि' के नाम से निकला है। यह मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार द्वारा सम्मानित हो चुका है। आपकी भाषा मे सस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक व्यवहार है। बहुत ही नपे-तुले शब्द रखे गये हैं। प्रत्येक शब्द अपनी विशेषता और महत्व रखता है। आपके लेखों मे कहीं-कहीं गम्भीर हास्य की एक क्षीण रेखा-सी दिखाई पड़ती है। निबन्ध एक केन्द्रीय भाव से आरम्भ होते हैं, जिसकी पीछे विस्तृत व्याख्या करदी जाती है। आपकी विचार धारा बड़ी शृङ्खलाबद्ध और तर्कपूर्ण रहती है। आपकी रचनाएँ समास-शैली के अन्तर्गत मानी जायँगी। आचार्य शुक्लजी ने जो विचारात्मक

निबन्धों का आदर्श बतलाया है वह उनकी शैली में पूर्णतया चरितार्थ होता है। वह आदर्श इस प्रकार है—

'शुद्ध विचारात्मक निबन्धों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है, जहाँ एक-एक पैराग्राफ में विचार-दबा-दबा कर ठूँसे गये हों और एक-एक वाक्य किसी सम्बद्ध विचार खण्ड को लिए हो'। शुक्लजी ने कहीं-कहीं जीवन से उदाहरण देकर और कहीं मीठी चुटकियाँ लेकर इस शैली को नितान्त शुष्क होने से बचाया है। प्रतिपादन की मौलिकता, अपने पक्ष का जोरदार समर्थन तथा हास्य-व्यङ्ग्य का पुट उनकी शैली को निजीपन प्रदान कर निबन्धों को नितान्त विषय प्रधान होने से बचाये रखते हैं। आपके बहुत से वाक्य सूक्ति रूप धारण कर लेते हैं।

'जैसे बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है।'

डाक्टर श्यामसुन्दरदास (१६३२—२००३)

आपने प्रायः गम्भीर विषयों पर ही लिखा है। आपने विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबन्ध लिखे हैं और बहुत से अछूते विषय हाथ में ले लिये हैं। आपकी भाषा में अधिकांश तत्सम और अपेक्षा-कृत कमी के साथ तद्भव दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं, किन्तु फारसी, अरबी के शब्द कम हैं। संधि या समास के सहारे बड़े-बड़े शब्द बनाने की प्रवृत्ति बाबू साहब की शैली में नहीं है। लोकोक्तियों और मुहावरों का व्यवहार भी आपने कम किया है। आपने विषय को समझाने के लिए उपमा और रूपकों से काम लिया है। विषयों के गाम्भीर्य के कारण आपकी शैली में कहीं-कहीं कुछ क्लिष्टता आ गई है। बाबू साहब ने हिन्दी भाषा को आधुनिक सभ्यता की आवश्यकताओं के अनुकूल बनाने में बहुत कुछ योग दिया है। आपने काशी नागरी प्रचारिणी सभा के द्वारा हिन्दी की जो सेवाएँ की हैं, वे चिरस्मरणीय रहेगी। प्राचीन ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य भी आपने पर्याप्त मात्रा में किया है और 'साहित्यालोचन' लिख कर हिन्दी भाषा की एक बड़ी कमी पूरी करदी है।

प० पद्मसिंह शर्मा—पण्डितजी की भाषा बड़ी सजीव और ओजपूर्ण है। आपके कुछ लेखों का संग्रह 'पद्म-पराग' में मिलता है। आपकी भाषा में उर्दू-फ़ारसी के प्रयोग प्रायः मिलते हैं। भाषा में हास्यव्यंग्य की मात्रा अधिक रहती है। किन्तु जहाँ सच्ची करुणा का विषय होता है वहाँ आप गम्भीर हो जाते हैं।

पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी—आपने कई हास्यरस पूर्ण भाषण दिये जो लेख के रूप में निकल चुके हैं। 'अनुप्रास का अन्वेषण' आदि आपके कई लेख बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। अपनी हास्यप्रियता के कारण आप हास्यरसावतार कहे जाते थे।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी—(सं० १६४०—१६७७) आपने जयपुर से 'समालोचक' नाम का एक पत्र निकाला था और उसमें आपने बड़े ही अनूठे लेख लिखे थे। आपकी शैली अत्यन्त मार्मिक और पाण्डित्य-पूर्ण रहती थी। प्रभावोत्पादक हास्य की अभिव्यञ्जना के सहारे आपने पाठकों के हृदय पर स्थायी अङ्क छोड़ा है। आपने व्याकरण जैसे रूक्ष विषयक लेखों मे भी विनोद पूर्ण आकर्षण भर दिया है। आपकी भाषा सुथरी और चमत्कारपूर्ण है। आपने प्राचीन हिन्दी के सम्बन्ध में बड़े गवेषणापूर्ण लेख लिखे हैं।

अध्यापक पूर्णसिंह—अध्यापकजी पर स्वामी रामतीर्थ का प्रभाव बहुत अधिक दिनों तक रहा है। आप स्वभाव से ही भावुक थे और स्वामीजी के सत्सङ्ग ने उनकी भावुकता को और भी गहरा कर दिया। आपके गद्य-लेखों में काव्य की-सी भावुकता रहती है। आप जो कुछ लिखते हैं बड़े जोर के साथ लिखते हैं और बड़े निर्भीक होकर। जिस बात को आप समाज के स्वीकृत विचारों के विरुद्ध समझते हैं उनके लिखने में जरा भी संकोच नहीं करते। आपकी भाषा में एक विशेष मस्तानापन है और उसमें सभी प्रकार के शब्दों का प्रयोग रहता है। उसमें कला का प्रयत्न नहीं दिखलाई पड़ता। स्वाभाविकता ही उसका विशेष गुण है। उसमें कहीं-कहीं बड़े सुन्दर लाक्षणिक प्रयोग पाये

जाते हैं। अध्यापकजी ने यद्यपि बहुत थोड़ा लिखा है तथापि जो कुछ लिखा है वह बहुत उच्चकोटि का है।

निबन्ध-साहित्य क्रमशः उन्नति करता जा रहा है। यद्यपि पुस्तक-रूप में निबन्धों के संग्रह कम निकले हैं तथापि पत्र-पत्रिकाओं में कभी-कभी बड़ी उच्चकोटि के निबन्ध निकल जाते हैं। मासिक पत्रिकाओं में सरस्वती, माधुरी, विशाल, भारत, विश्वमित्र, चाँद, वीणा, साहित्य-सन्देश आदि द्वारा हिन्दी-साहित्य की अच्छी सेवा हो रही है। उपर्युक्त लेखकों के अतिरिक्त श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री जैनेन्द्रकुमार, श्री प्रभाकर माचवे, श्री सियारामशरणजी गुप्त, श्री रायकृष्णदास, श्री वियोगी हरि, श्री नलिनीमोहन सान्याल, श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी, सुश्री महादेवी वर्मा, श्री निराला, श्री सत्येन्द्रजी, श्री नगेन्द्रजी, आदि कई लेखकों ने अच्छे-अच्छे निबन्ध लिख कर गद्य-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। महाराज-कुमार डाक्टर रघुवीरसिंह के भाव-प्रधान ऐतिहासिक निबन्ध इतिहास को भावुकता-पूर्ण शैली में प्रस्तुत करते हैं। इस सूची के अधिकाश लेखकों के निबन्ध आलोचनात्मक हैं। श्री सियारामशरणजी के 'झूठ-सच' नाम के संग्रह के निबन्धों में एक सुखद निजीपन और हल्कापन है। जैनेन्द्रजी के लेखो में भी विशेष व्यक्तित्व की झलक मिलती है, किन्तु उसमे कहीं-कहीं विश्लेषण बुद्धि की मात्रा कुछ अधिक हो जाती है। पण्डित हजारीप्रसादजी के निबन्धों में एक विशेष सास्कृतिकता और शास्त्रीयता के साथ उनके विनोदपूर्ण व्यक्तित्व की अच्छी झलक रहती है। निबन्ध गद्य का मूल अङ्ग है। बड़े खेद की बात है कि अपने उच्च पद के अनुकूल हिन्दी में निबन्ध साहित्य की उन्नति नहीं हुई है।

समालोचना

यद्यपि 'सूर-सूर तुलसी ससी, उडगन केशवदास' जैसी आलोचना-

त्मक सूक्तियाँ तो वहुत काल से वर्तमान हैं तथापि हिन्दी में वर्तमान ढङ्ग की समालोचना का सूत्रपात हरिश्चन्द्र-युग से हुआ है। प० वद्रीनारायणजी चौधरी ने अपनी 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्रिका मे कई समालोचनात्मक लेख निकाले। पत्र-पत्रिकाओं की उन्नति के साथ-साथ समालोचना शैली में भी उन्नति होती गयी। कुछ समा-लोचनाएँ पुस्तकरूप मे लिखी गई हैं। स्वनामधन्य आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी ने 'कालिदास की निरंकुशता' नामक पुस्तक मे कालि-दास के ग्रन्थों की निर्णयात्मक रीति से समालोचना लिखी और 'विक्रमाङ्क देव चरित चर्चा' और 'नैषधचरित चर्चा' नाम की पुस्तकों मे परिचयात्मक समालोचना के उदाहरण उपस्थित किये।

लिखित ग्रन्थों के रूप मे मिश्र-वन्धुओ का 'हिन्दी-नवरत्न' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि वहुत से लोग उनके निर्णयों से सहमत नहीं हैं तथापि मिश्र वन्धुओं ने उस समय के लिए वहुत अच्छा काम किया। उन्होंने कवियों की भाषा, विपय तथा कला-सम्बन्धी विशेष-ताओं को वतलाने के अतिरिक्त हिन्दी के नवरत्नों का मूल्य निर्धारित करने का उद्योग किया। आप लोगों ने विहारी को देव से नीचा स्थान देकर एक विवाद खड़ा कर दिया, उससे साहित्य में कुछ सजीवता आगयी।

स्वर्गीय पं० पद्मसिह शर्मा ने 'विहारी सतसई की भूमिका' नामक ग्रन्थ में विहारी की तुलनात्मक समालोचना निकाली। उसमें आपने विहारी की उत्कृष्टता दिखायी। यद्यपि उनकी समालोचना मे पक्षपात खींच-तान और महफिली दाद-सी दिखलायी पड़ती है, जैसे (विहारी की कविता शक्कर की रोटी है जिधर से तोड़ो मीठी है) और इस कारण कहीं-कहीं (Impressionist criticism) प्रभाववादी आलोचना का रूप धारण कर लेती है तथापि वह पाण्डित्य-पूर्ण है। उससे विहारी के सम्वन्ध मे लोगों की जानकारी वहुत-कुछ वढ़ गई है और उसी के साथ गाथा साहित्य से भी हिन्दी-भाषा भाषियों का परिचय

हुआ है। उनकी आलोचना केवल प्रभाववादी ही नहीं है अर्थात् उन्होंने केवल अपने मन को अच्छी लगने वाली बात ही नहीं कही है वरन् उसमें शास्त्रीय गुण भी दिखलाये हैं। इतना अवश्य है कि उन्होंने बिहारी को पूर्ववती कवियों से श्रेष्ठ बतलाने मे कहीं-कहीं थोड़ी बहुत खींचतान की है। आपकी आलोचनाओं में कुछ व्यंग्य की भी मात्रा रहती है, उसके कारण उसमें एक विशेष सजीवता आ जाती है किन्तु जब वे किसी एक ही आदमी के पीछे पड जाते हैं (जैसे पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र के) तब उनका व्यंग्य अनुदारता की कोटि मे पहुँच जाता है।

देव और बिहारी के विवाद के सम्बन्ध मे प० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नाम का बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है। आपने यद्यपि देव का पक्ष लिया है तथापि बिहारी के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार कर अपनी निष्पक्षता का पूर्ण परिचय दिया है। बिहारी को, उनके छोटे छन्दों के कारण जुही की कली कहा है तो देव को कमल का फूल ठहराया है। आपकी मतिराम ग्रन्थावली में तुलनात्मक तथा शास्त्रीय आलोचनाओं के अच्छे नमूने मिलते हैं। लाला भगवानदीन ने भी बिहारी का पल्ला भारी दिखाने के लिए 'बिहारी और देव' नाम की एक पुस्तक लिखी है।

हाल ही में श्री विश्वनाथ मिश्र की 'बिहारी की वाग्विभूति' नाम की एक आलोचनात्मक पुस्तक निकली है। उसमे बिहारी की भाषा, उनकी भक्ति-भावना, भाव-व्यञ्जना आदि बातों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उन्होंने बिहारी के कुछ शास्त्रीय दोष भी दिखाये हैं। शिलाकारीजी ने 'बिहारी दर्शन' नाम की अच्छी पुस्तक लिखी है जिसमे बिहारी पर किये जाने वाले आक्षेपों का उत्तर दिया गया है।

यहाँ पर संक्षेप मे यह बतला देना आवश्यक है कि समालोचना चार प्रकार की होती है। (१) प्रभाववादी (Impressionist) आलोचना केवल आलोचक के मन पर पडा हुआ प्रभाव अर्थात्

वह उसे अच्छी लगी या बुरी लगी, बतलाती है। उसमें आलोचक की प्रधानता रहती है। वह कोई कारण नहीं देता। (२) शास्त्रीय या निर्णयात्मक आलोचना (Judicial criticism) जो भरत मुनि, अभिनव गुप्त, 'काव्य प्रकाश' के कर्ता मम्मट, 'साहित्य-दर्पण' के कर्ता विश्वनाथ, 'दशरूपक' के कर्ता धनञ्जय आदि के बनाये हुए नियमों के आधार पर आलोच्य पुस्तक के गुण-दोष निरूपण कर उसे अच्छा या बुरा ठहराती हैं। आचार्य द्विवेदीजी की तथा मिश्र बन्धुओं की आलोचनाएँ अधिकांश में इसी तरह की हैं। (३) व्याख्यात्मक आलोचना (Inductive Criticism) इसमें आलोचक न तो प्रभाववादी आलोचकों की भाँति अपने को प्रधानता देता है, और न निर्णयात्मक आलोचकों की भाँति आचार्यों को प्रधानता देता है (क्योंकि आचार्यों के सिद्धान्त अपने पूर्ववर्ती साहित्य पर ही आधारित होते हैं, इसलिए वह नये साहित्य-स्रष्टाओं पर लागू नहीं हो सकते) वरन् वह कवि को ही प्रधानता देता है, वह कवि की आत्मा में प्रवेश कर उसके आदर्शों के अनुकूल उसकी व्याख्या करता है। वह कवि तथा लेखक और पाठक के बीच में दुभाषिये का काम करता है। प्राचीन टीकाएँ इसी प्रकार की आलोचनाएँ होती थीं। (४) जिस विवेचन द्वारा काव्य के आदर्श, उसके अङ्गों का परिचय और उन आदर्शों के अनुकूल नियमों का ज्ञान मिलता है उसे सैद्धान्तिक (Speculative) आलोचना कहते हैं। इस प्रकार की आलोचना निर्णयात्मक आलोचना का आधार होती है। हिन्दी में डा० श्यामसुन्दरदास का साहित्यालोचन, लेखक का 'सिद्धान्त और अध्ययन', सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की 'रसमञ्जरी' और 'अलङ्कार-मञ्जरी' पण्डित रामदहिन मिश्र का 'काव्य दर्पण' इसी प्रकार के ग्रन्थों में है। यूरोप में अरस्तू के सिद्धान्तों का बहुत मान रहा है। (वैसे अब तो वहाँ पृथक-पृथक वादों के अनेकों आचार्य हैं) इस प्रकार की आलोचना में व्यापक लोकरुचि के अनुसार ही नियम और व्यवस्था दी जाती है।

आचार्य शुक्लजी की लिखी हुई तुलसीदास, सूरदास और जायसी की आलोचनाएँ व्याख्यात्मक आलोचना की कोटि में आती हैं, इनमें थोड़ा लोकरक्षा के नैतिक मूल्य का भी समावेश रहता है। व्याख्यात्मक आलोचना में ऐतिहासिक आलोचना द्वारा कवि के समय का राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति और उसके प्रभावों का अध्ययन किया जाता है। उसके वैयक्तिक चरित्र पर आधारित उसकी मानसिक स्थिति के सहारे भी उनकी कृतियों के समझने का प्रयत्न किया जाता है इस प्रकार की आलोचना को मनोवैज्ञानिक आलोचना कहते हैं।

आधुनिक काल में मनोवैज्ञानिक आलोचना मे मनोविश्लेषण (Psycho Analysis) के सहारे लेखक के मन की भीतरी तहों तक पहुँचने का प्रयत्न किया जाता है। नगेन्द्रजी, अज्ञेयजी आदि की आलोचनाओं में यह प्रवृत्ति स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

प्रगतिवाद के झण्डे के नीचे अब मार्क्सवादी आलोचना का प्रचार हो रहा है। इस प्रकार की आलोचना, कला को इतनी मुख्यता नहीं देती जितना कि किसान मजदूरों, दलितों और शोषितों की भौतिक आवश्यकताओं को। वह वर्गहीन समाज के पक्ष में हैं। उसी ध्येय को अग्रसर करने के मानदण्ड से वे ग्रन्थों का मूल्याङ्कन करते हैं। इस प्रकार के आलोचकों में सर्व श्री शिवदानसिंह, चौहान, रामविलास शर्मा प्रकाशचन्द्र गुप्त, भगवतीशरण उपाध्याय प्रभृति हैं।

इस युग में सबसे अधिक प्रभाव आचार्य शुक्लजी का है। यद्यपि आजकल के आलोचकों मे शुक्लजी का-सा नीति और लोक-संग्रह का आग्रह नहीं है तथापि काव्य का विश्लेषण थोड़े बहुत अन्तर के साथ उनके ही प्रदर्शित मार्गों पर हो रहा है।

आजकल समालोचना साहित्य में खूब वृद्धि हो रही है और कवियों पर आलोचनात्मक ग्रन्थ निकल रहे हैं। 'कविवर रत्नाकर' पण्डित कृष्णशङ्कर शुक्ल का एक उत्तम ग्रन्थ है जिसमें लेखक ने विभाव

चित्रण और अलङ्कारों तथा रसों की अच्छी विवेचना की है। उसमें उनकी भाषा की भी अच्छी विवेचना हुई है। अखौरी गङ्गाप्रसादसिंह ने 'पद्माकर की काव्य साधना' लिखकर पद्माकर पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। 'केशव की काव्य कला' मे केशवदास के आचार्यत्व और कवित्व पर प्रकाश डाला गया है। उसमें उनके आचार्य का शास्त्रीय विवेचन भी है।

श्री भुवनेश्वरनाथ मिश्र कृत 'मीरा की प्रेम साधना' भी एक बहुत उत्तम ग्रन्थ है। उसमें मीरा के विरह प्रधान गीत-काव्य का बड़ा सुन्दर विवेचन है। वङ्गीय हिन्दी परिषद द्वारा प्रकाशित मीरा स्मृति ग्रन्थ में भी मीरा पर कई महत्वपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध है। श्री रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' नामक ग्रन्थ में हठयोग एवं रहस्यवाद के सिद्धान्तों पर और विशेषकर कबीर के सिद्धान्तों पर अच्छा आलोक डाला है। श्री गङ्गाप्रसाद पाण्डेय ने महादेवी वर्मा पर एक छोटी सी पुस्तक लिखकर उनके काव्य का अच्छा विवेचन किया है। किन्तु 'आधुनिक कवि' सीरीज की 'महादेवी वर्मा' नाम की पुस्तक में स्वयं कवियित्री के द्वारा लिखी हुई भूमिका विशेष महत्व की है। इस प्रकार के भूमिका सहित संग्रह पन्त, रामकुमार वर्मा और गोपालशरणसिंह के भी निकल चुके हैं।

पाडेजी की लिखी हुई महाप्राण निराला नाम की पुस्तक में कवि के व्यक्तित्व के साथ उसके काव्य पर प्रकाश डाला गया है। कवियों की आलोचना में 'सुमित्रानन्दन पन्त', 'साकेत:एक अध्ययन', 'गुप्तजी की कला' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें से 'सुमित्रानन्दन पन्त' और 'साकेत—एक अध्ययन' श्री नगेन्द्रजी के लिखे हुए हैं और 'गुप्तजी की कला' श्री सत्येन्द्रजी की कृति है। नगेन्द्रजी की आलोचना शैली सर्वथा नयी है। उसमें भावपक्ष के रसास्वादन के साथ विश्लेषण-बुद्धि और शास्त्रीय विवेचन से काम लिया गया है। सुमित्रानन्दन पन्त में उन्होंने पन्तजी की भाषा और कला के चमत्कार का

अच्छा विश्लेषण किया है। उसमें छायावाद की व्याख्या बड़े मौलिक ढङ्ग से की गई है। 'साकेत—एक अध्ययन' में गुप्तजी की कला के ही साथ उनकी विचार-धारा के सांस्कृतिक पक्ष का भी अच्छा विवेचन है। डाक्टर नगेन्द्र की लिखी हुई 'रीति-काव्य की भूमिका' तथा 'देव की कविता' मे सैद्धान्तिक और व्याख्यात्मक दोनों प्रकार की आलोचनाओं के सुन्दर विश्लेषण-पूर्ण उदाहरण मिलते हैं।

प्रसाद जी के सम्बन्ध में पर्याप्त साहित्य तैयार हो रहा है। इन पुस्तकों मे नन्द दुलारे वाजपेयी का 'जयशङ्करप्रसाद,' श्री रामनाथ सुमन का 'प्रसाद की काव्य-साधना' तथा गङ्गाप्रसाद पाण्डेय का 'कामायनी एक परिचय', कामायनी एक विवेचन (व्रजभूषण शर्मा), कामायनी सौन्दर्य (डाक्टर फतहसिंह) आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रसादजी की कला में प्रसादजी के सम्बन्ध के विद्यार्थियोपगी लेखों का अच्छा सग्रह है। प्रसाद जी की 'ध्रुवस्वामिनी' भी श्री कृष्णकुमार सिन्हा की अच्छी पुस्तक है।

तुलसी के सम्बन्ध में आलोचनात्मक साहित्य की अच्छी सृष्टि हुई है। 'तुलसी ग्रन्थावली' के तृतीय भाग मे तुलसी के सम्बन्ध में कई महत्वपूर्ण लेख निकले हैं। उनमे श्री रामचन्द्र शुक्ल की प्रस्तावना 'तुलसीदास' नाम से अलग पुस्तक रूप मे निकल गयी है। व्याख्यात्मकसमालोचना में वह एक उच्चकोटि का ग्रन्थ है। उसमें गोस्वामी जी के भावों की एक प्रकार से गद्य में पुनः सृष्टि की गई है। रायबहादुर डाक्टर श्यामसुन्दरदासजी के 'तुलसीदास' मे गोस्वामीजी की जीवनी पर मूल गुसाईं चरित के आधार पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। गोस्वामीजी की कला पर भी उसमे मार्मिक विवेचन है।

श्री सद्गुरुशरण अवस्थी के 'तुलसी के चार दल' ने भी तुलसी-साहित्य का महत्त्व बढ़ाया है। आपने तुलसीदासजी के जानकी-मङ्गल पार्वती मङ्गल, रामलला नहछू और बरवै रामायण पर कई दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला है। पुस्तक में बहुत-सी रस और अलङ्कार सन्बन्धी

पठनीय सामग्री का समावेश किया गया है। मिश्र-बन्धुओं ने पार्वती-मङ्गल, नहछू आदि ग्रन्थों के प्रामाणिक होने मे जो शंकाएँ उपस्थित की हैं, इस पुस्तक में उनका वडी सफलता के साथ निराकरण किया गया है।

श्री माताप्रसाद गुप्त ने तुलसी-सदर्भ में मूल गुसाईं चरित को अप्रामाणिक सिद्ध करने का यत्न किया है। इनकी भी विवेचना मार्मिक है। तुलसीकृत ग्रन्थों के काल निर्णय के लिए इसमे वहुत उपादेय सामग्री है। अव वह उनकी तुलसीदास नाम की पुस्तक में सम्मिलित हो गई है। इसमें तुलसी से सम्वन्धित ऐतिहासिक वातो का तथा उनकी हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रामाणिकता का अच्छा विवेचन हुआ है। श्री रामदास गौड़ की लिखी हुई रामचरितमानस की भूमिका भी तुलसी साहित्य में अपना विशेप स्थान रखती है। उसमे वैज्ञानिकता के साथ भावुकता का भी मिश्रण है। भक्तों के ग्रन्थों के अध्ययन के लिए थोड़ी भावुकता आवश्यक भी है। अव श्रीरामवहोरे शुक्लजी की तुलसीदास नाम से एक छोटी सी पुस्तक निकल गई है। उसमें अन्य ज्ञातव्य वातों के साथ तुलसीदासजी के संस्कृत साहित्य के कुछ अनुकरणों पर भी प्रकाश डाला गया है।

डाक्टर वलदेवप्रसाद मिश्र ने 'तुलसी-दर्शन' लिखकर गोस्वामीजी के दार्शनिक सिद्धान्तों पर अच्छा प्रकाश डाला है। आपने उनको अद्वैतवादी सिद्ध किया है।

सूर के वियोग-श्रृङ्गार का भ्रमर-गीत सार की भूमिका में आचार्य शुक्लजी ने वड़ा विशद् और मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। वियोग, श्रृङ्गार तथा प्रेम प्रधान प्रवन्ध काव्य के विवेचन के लिए जायसी ग्रन्थावली की भूमिका एक पठनीय सामग्री उपस्थित करती है। श्री नलिनीमोहन सान्याल का 'भक्तवर-सूरदास' तथा शिखरचन्द जैन का 'सूर : एक अध्ययन' अच्छे आलोचनात्मक ग्रन्थ हैं। सान्याल महोदय का दृष्टिकोण अधिकतर धार्मिक होते हुए भी साहित्यिक है। शिखर-चन्द जैन की पुस्तक विद्यार्थियों को अधिक उपयोगी है। श्री राम

रतन भटनागर तथा श्री वाचस्पति त्रिपाठी लिखित 'सूर साहित्य की भूमिका' मे सूर के काव्य से सम्बन्ध रखने वाले सभी विषयों का जैसे भक्ति का इतिहास, वल्लभाचार्य के सिद्धान्त, सूरसागर से भागवत् की तुलना आदि का मार्मिक ढङ्ग से विवेचन है। इसमें रस-सिद्धान्त के अनुकूल सचारी भावों और मनोदशाओं का भी सूर से उदाहरण देकर विवेचन किया गया है। अब इसी प्रकार की पुस्तक तुलसी पर भी निकल गई है। श्री नलिनी-मोहन सान्याल की उच्च विषयक निबन्ध-माला में, हजारीप्रसाद द्विवेदी के सूर साहित्य में तथा श्री सत्येन्द्रजी की साहित्य की झाँकी मे वैष्णव साहित्य के सम्बन्ध में पठनीय सामग्री मिलती है। सान्यालजी की पुस्तक मे वैष्णव सम्प्रदाय का इतिहास तथा विभिन्न सम्प्रदायों के दार्शनिक सिद्धान्तों पर अच्छा प्रकाश पडता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक में सूर का विद्यापति और चण्डीदास के साथ तुलनात्मक अध्ययन है। सत्येन्द्रजी की पुस्तक मे वैष्णवधर्म के इतिहास के साथ कुछ नई उद्भावनाएँ भी दी गई हैं। उन्होने यह सिद्ध करना चाहा है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तों के विरुद्ध सूरदासजी ने श्रीकृष्णजी को पर-ब्रह्म नहीं वरन् विष्णु का ही अवतार माना है। तुलसी ने तो अपने राम को 'विधि हरि शम्भु नचावन हारे' कहा है, किंतु सूर ने कृष्ण के प्रसङ्ग मे जहां त्रिदेवों का उल्लेख किया है, वहाँ वे विष्णु को नहीं लाये वरन् केवल शिव और ब्रह्मा को ही लाये हैं। इस सम्बन्ध में विपक्ष की सामग्री श्री कन्हैयालाल सहल की 'समालोचनाञ्जलि' के अन्तर्गत सूरदास और शुद्धाद्वैत शीर्षक लेख में पठनीय है।

मध्यकालीन साहित्य एवं वर्तमान काव्य-धारा के सम्बन्ध में कई ग्रन्थ निकले हैं जिनमें श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के 'हिन्दी-साहित्य विमर्श' का स्थान ऊँचा है। आपने विश्व-साहित्य में साहित्य के द्वारा मानव-जाति में प्रेम और ऐक्य-भाव स्थापित होने का एक दिव्य संदेश दिया है। इस ढङ्ग की पुस्तकों में श्री शान्तिप्रिय

द्विवेदी की 'कवि और काव्य', 'संचारिणी', तथा 'युग और साहित्य' और श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' अच्छी हैं। श्री शान्तिप्रियजी की आलोचनाओं में थोडा काव्य भी मिला रहता है।

मिश्र-बन्धुओं ने 'मिश्र-बन्धु विनोद' लिख कर हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखने में भगीरथ प्रयत्न किया है। रायबहादुर बा० श्याम-सुन्दरदास ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' मे बाह्य परि-स्थितियो को बतलाकर व्याख्यात्मक समालोचना के क्षेत्र में सराहनीय काम किया। प्रोफेसर सूर्य्यकान्त शास्त्री का 'हिन्दी साहित्य का विवे-चनात्मक इतिहास' भी अपने ढङ्ग का सुन्दर ग्रन्थ है। इसके अति-रिक्त पं० कृष्णशङ्कर शुक्ल का लिखा हुआ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास' बडा उपयोगी ग्रन्थ है। श्री रामकुमार वर्मा के हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास' (प्रथम भाग) मे कवियो का सविस्तार एवं अध्ययन पूर्ण वर्णन किया गया है। इन ग्रन्थों से हिन्दी भाषा के उन आन्तरिक और बाह्य स्रोतों का पता लगता है जिनसे हिन्दी काव्य की धारा का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से आज तक बहा चला आ रहा है।

इसके अतिरिक्त और भी समालोचना सम्बन्धी फुटकर ग्रन्थ निकले हैं। पं० रामकृष्ण शुक्ल ने प्रसादजी की नाट्यकला के साधा-रण सिद्धान्तों को बतलाकर प्रसादजी के नाटको पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'प्रसादजी के दो नाटक' नाम की एक पुस्तक निकली है, उसमे प्रसादजी को समझने का इतना यत्न नहीं जितना कि दोष दर्शन का। श्री जनार्दनप्रसादजी तथा डाक्टर रामविलास शर्मा ने प्रेम-चन्दजी के सम्बन्ध में अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। प्रेमचन्द एक विवे-चन नाम की एक पुस्तक डा० इन्द्रनाथ मदान की निकल गई हैं। नाटकों और उपन्यासों के कई आलोचनात्मक इतिहास निकल चुके हैं। उनमें श्री शिवनारायणजी के 'हिन्दी उपन्यास' तथा श्री ब्रज-रत्नदास का 'हिन्दी-नाट्य-साहित्य' मुख्य हैं। सेठ गोविन्ददास

भी नाटकों के सम्वन्ध में 'नाट्य-कला मीमांसा' नाम की एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है। श्री नगेन्द्रजी ने भी 'आधुनिक हिन्दी नाटक' नाम की आलोचनात्मक पुस्तक लिखी है। उसमें नाटकों की आलोचना एक श्रेणी विभाग के अनुकूल दी गयी है। श्री सत्येन्द्रजी के 'हिन्दी एकाङ्की' में एकाङ्की नाटकों के शिल्पविधान के साथ प्रमुख एकाङ्कियों का आलोचनात्मक विवेचन भी है। लेखक के हिन्दी नाट्यविमर्श में नाटको के सिद्धान्तों के साथ हिन्दी नाट्य साहित्य का इतिहास और संस्कृत तथा हिन्दी के प्रमुख नाटकों की आलोचना भी है। डाक्टर सोमनाथ गुप्त का हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास एक प्रकार से नाटक साहित्य का क्रम वद्ध आलोचनात्मक अध्ययन है। नाटक के प्राचीन सिद्धान्तो का निरूपण 'रूपक रहस्य' में वहुत उत्तम रीति से किया गया है। पण्डित ब्रह्मदत्त शर्मा ने 'हिन्दी साहित्य मे निवन्ध' नाम की पुस्तक लिख कर निबन्धकारों की शैलियों का अच्छा विवेचन किया है। उपन्यासो और नाटकों की समालोचना के सम्बन्ध में ऐसे वहुत से ग्रन्थों की आवश्यकता है।

आजकल के समालोचना-साहित्य में शुक्लजी का स्थान वहुत ऊँचा है। उन्होंने तुलसीदासजी की एव जायसी की विस्तृत समालोचना कर समालोचना का एक अच्छा आदर्श उपस्थित किया है। पाश्चात्य आदर्शों से प्रभावित होते हुए भी वे अपने निर्णय की कसौटी ढूँढ़ने के लिए रस-शास्त्र से वाहर नहीं गये हैं। शुक्लजी की आलोचनाओं में सैद्धान्तिक अङ्ग पर्याप्त रूप में रहता है। पहले वे अपने सिद्धान्त वतला कर पीछे से उन सिद्धान्तों के आधार पर वर्ण्य विषय की आलोचना करते हैं। उन्होंने भाव और विभाव दोनों के ही पूर्ण वर्णन मे कवि कर्तव्य समझा है। उनके सत्काव्य के आदर्श में केवल वर्णन शैली की ही उत्तमता नहीं रहती वरन् वर्ण्य की भी उत्कृष्टता आ जाती है। वे कोरे अभिव्यञ्जनावाद (Expressionism) के वहुत खिलाफ हैं। उनकी प्रतिभा विषय प्रधान (Objective) हैं।

शुक्लजी भाषा और शैली का प्रभाव मानते हुए भी विषय की उत्त-मता के ऊपर जोर देते हैं। उन्होंने सुन्दरम् की अपेक्षा सत्यम् और शिवम् को अधिक महत्व दिया है। वे कला और आचार का विच्छेद नहीं करना चाहते।

बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपने 'साहित्यालोचन' द्वारा साहित्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों का परस्पर सम्बन्ध और महत्व बतलाकर समा-लोचना के कार्य में एक प्रकार की सुगमता उत्पन्न करदी है। डा० रवीन्द्रनाथ के 'साहित्य' के अनुवाद ने लोगों की साहित्य और कला सम्बन्धी रुचि को परिमार्जित करने में बहुत-कुछ योग दिया है।

समालोचना के सिद्धान्तों पर भी बाबू श्यामसुन्दरदासजी के साहित्यालोचन' के अतिरिक्त कई और ग्रन्थ निकल गये हैं। श्री नलिनीमोहन सान्याल ने अपने 'समालोचना-तत्व' में मनोवैज्ञानिक पक्ष लिया है। श्री सुधांशुजी का 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' एक बहुत उच्च कोटि का ग्रन्थ है। उसमें क्रोचे (Croce) के अभिव्यञ्जनावाद के अतिरिक्त अपने यहाँ के अलङ्कार-शास्त्र के कई मतों की अच्छी विवेचना है। श्री इलाचन्द जोशी की 'साहित्य-सर्जना' नाम की पुस्तक में 'कला कला के लिए है' वाले सिद्धान्त का समर्थन किया गया है। आप प्रगतिवाद के विरुद्ध हैं और विचारपूर्ण भावुकता के पक्ष में हैं। श्री पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव की लिखी 'आदर्श और यथार्थ' नाम की छोटी सी पुस्तक में आदर्शवाद और यथार्थवाद का बड़ा सुन्दर विवेचन है।

प्राचीन ढङ्ग की रस और अलङ्कार की पुस्तक में सेठ कन्हैयालाल पोद्दार की 'रस-मञ्जरी' और 'अलङ्कार-मञ्जरी', लेखक का 'नवरस', केडियाजी का 'भारती-भूषण' रसालजी का 'अलङ्कार पीयूष' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने काव्यप्रकाश का अनु-करण करते हुए रस को ध्वनि के (असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य ध्वनि) अन्तर्गत माना है। लेखक ने अपने नवरस में साहित्य-दर्पण का अनु-

करण करते हुए रस का मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। पोद्दारजी का ग्रन्थ शास्त्रीय अधिक है। लेखक के ग्रन्थ में आधुनिक ढङ्ग की व्याख्या का प्राधान्य है। नवरसों पर पण्डित हरिशङ्कर शर्मा का 'रस-रत्नाकर' हाल ही में प्रकाशित हुआ है। उदाहरणों के लिये वह रत्नाकर ही है। उसमें साहित्य-दर्पण आदि के उदाहरणों के अनुवाद हैं, वे सिद्धहस्त कवि के द्वारा किये जाने के कारण बड़े सरस हैं!

लेखक ने अपनी नवीनतम-कृतियों 'सिद्धान्त और अध्ययन' तथा 'काव्य के रूप' में रस सिद्धान्त की रसनिष्पत्ति, साधारणीकरण आदि समस्याओं और साहित्यालोचन के प्रायः सभी विषयों का विवेचन किया है। शास्त्रीय सिद्धान्तों के विवेचन के लिए श्री रामदहिन मिश्र का काव्यालोक बहुत उपयोगी है। डाक्टर बलदेव उपाध्याय ने भारतीय साहित्य शास्त्र (का विवेचन) उपस्थित किया है। उसमें अलग-अलग सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का विवेचन है। श्री भागीरथ-प्रसाद मिश्र ने हिन्दी काव्य शास्त्र का इतिहास लिखा है। उसमें हिन्दी के आचार्य कवियों और लेखकों के सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है।

प्रगतिवाद से प्रभावित आलोचना सम्बन्धी सैद्धान्तिक निबन्ध के दो चार ग्रन्थ निकले हैं। उनमें श्री अञ्चलजी का 'साहित्य और समाज' तथा श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र का 'साहित्य की वर्तमान धारा' नाम के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। श्री शिवदान सिंह चौहान का 'प्रगति-वाद' इस सम्बन्ध में विशेष रूप से पठनीय है।

श्री पदुमलाल बख्शी तथा हेमचन्द मोदी द्वारा सम्पादित 'साहित्य-शिक्षा' में आलोचनात्मक लेखों का उपादेय संग्रह है। हिन्दी के बहुत से पत्र भी आलोचना-साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। आगरे का 'साहित्य-सन्देश' आलोचना को मुख्य ध्येय बना कर प्रकाशित हो रहा है। इसके द्वारा आलोचना क्षेत्र में बड़ा काम हुआ है और हो रहा है। साहित्य-सदेश ने द्विवेदीजी, प्रसादजी, शुक्लजी, और श्यामसुन्दरदास जी तथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के सम्बन्ध में संग्रहणीय

विशेषाङ्क निकाले थे। इसके 'उपन्यास अङ्क' में उपन्यास-साहित्य की अच्छी विवेचना की गई थी। हर्ष की बात है कि हिन्दी का आलोचना साहित्य दिन-प्रतिदिन उन्नति कर रहा है किन्तु अभी उसमें ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक आलोचना की कमी है।

गद्य-काव्य

गद्य-काव्य भी गद्य का एक मुख्य अङ्ग है। वास्तव में ये भावात्मक छोटे निबन्ध ही हैं किन्तु भावात्मकता के आधिक्य के कारण गद्य-काव्य कहलाते हैं। भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा गद्यकाव्यों में एक-तथ्यता कुछ अधिक होती है। योरोप में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता का जो आदर हुआ उससे हिन्दी के गद्य लेखकों में इस तरह के काव्य लिखने की प्रवृत्ति और बढ़ गई है।

आजकल के गद्य-काव्य लेखकों में राय कृष्णदासजी तथा वियोगी हरि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन दोनों महाशयों की शैलियों में थोड़ा अंतर है। श्री वियोगी हरि ने यद्यपि पाण्डित्यपूर्ण शैली को भी, जिसमें कि समासों और अलङ्कारों का चमत्कार रहता है, अपनाया है, तथापि उनकी शैली में भावावेश का प्राधान्य है। इनकी रचनाओं में एक विशेष तन्मयता है जो आवेश की कोटि तक पहुँच जाती है। इनकी शैली मे कुछ अक्खड़पन भी अधिक है। इन्होंने बड़ी निर्भीकता के साथ धर्म में ढोंग और आडम्बर का विरोध किया है। गद्य काव्य में प्रायः रूपक और अन्योक्तियों से काम लिया गया है। आपके 'अन्तर्नाद' और 'भावना' नाम के दो गद्य काव्यात्मक ग्रन्थ हैं। राय कृष्णदासजी में वियोगी हरि की अपेक्षा शान्त उपासना का भाव अधिक है। वे एक कलाकार हैं, उनकी रचनाओं में हृदय के उद्गार के साथ कुछ कला भी रहती है। श्री चतुरसेन शास्त्री ने भी कुछ भाव प्रधान लेख लिखे हैं जो 'अन्तस्तल' में संग्रहीत हैं। उनमें कहीं-कहीं वैयक्तिकता का पुट

साधारण काव्य की मात्रा से अधिक है। श्रीमती दिनेशनन्दिनी चोरड्या इस दिशा में अच्छी प्रगति कर रही हैं। आपका 'मौक्तिक माल' नाम का संग्रह सेकसरिया पुरस्कार से सम्मानित हुआ है। 'उनमान' नाम का एक इनका दूसरा गद्य-काव्य संग्रह हाल ही में निकला है। आजकल कुछ शब्द-चित्र भी अच्छे निकले हैं। ये भी एक प्रकार से गद्य-काव्य में आते हैं। श्री प्रकाशचन्द गुप्त ने देहली दरवाजा और लैटर बक्स के अच्छे वर्णन लिखे हैं। श्री रामप्रसाद विद्यार्थी ने भी 'पूजा' और 'शुभ्रा' नामक अच्छी काव्यमय पुस्तकें लिखी हैं।

जीवनी और आत्मकथाएँ

जीवनियाँ तो बहुत हैं किन्तु वास्तविक महत्त्व की कम हैं। प्राचीन काल के जीवन साहित्य में गोस्वामी गोकुलनाथजी की चौरासी वैष्णवों की वार्ता, दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ताएँ तथा नाभाजी की भक्तमाल और उस पर लिखी हुई प्रियादास की टीका विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनमें महत्त्व प्रदर्शन और साम्प्रदायिकता की मात्रा कुछ अधिक है। श्री बनारसीदास जैन की लिखी हुई 'अर्द्धकथानक' नाम की पद्यमय आत्मकथा में सत्य की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। लेखक ने अपनी न्यूनताओं की ओर भी संकेत किया है। संभवतः यह पहला आत्म-चरित है।

श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने पं० सत्यनारायण कविरत्न की जीवनी लिखी है, वह कवि का व्यक्तित्व समझने में बहुत सहायक हुई है। श्री व्रजरत्नदासजी ने भारतेन्दु बाबू का बड़ा सुन्दर जीवन-चरित्र लिखा है। प्राचीन कवियों के जीवन-चरित्र में एक कठिनाई यह होती है कि उनकी जीवन-सामग्री सहज में उपलब्ध नहीं होती। अभी श्रीहरि रामचन्द्र दिवाकर की लिखी हुई 'सन्त तुकाराम' की विचारपूर्ण जीवनी निकली है। इनके अतिरिक्त गणेशशङ्कर विद्यार्थी, वीर-केशरी शिवाजी, मीर कासिम, महात्माओं के दर्शन आदि कई

पुस्तकें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन पुस्तकों ने जीवनी साहित्य की आंशिक पूर्ति की है। श्री रामनरेश त्रिपाठी की 'मालवीयजी के साथ तीस दिन' में मालवीयजी के श्रीमुख से सुनी हुई उनकी जीवनी है।

बालोपयोगी जीवनियाँ बहुत-सी निकली हैं और उस श्रेणी के पाठकों के लिये वे बहुत अच्छी हैं। मूल रूप से लिखी हुई आत्म-कथाएँ भी हिन्दी में कई हैं किन्तु महात्मा गाँधी तथा जवाहरलाल नेहरू की आत्मकथाओं का अनुवाद 'आत्म-कथा' और 'मेरी कहानी' नाम से उल्लेखनीय हैं। श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रवीन्द्रबाबू के बचपन की आत्म-कथा का अनुवाद किया है। डा० श्यामसुन्दरदास की आत्म-कथा व्यक्ति की आत्म-कथा न होकर नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी के उत्थान का इतिहास है। उनकी भाषा शैली भी बड़ी सुन्दर है। किन्तु कहीं-कहीं वे किन्हीं व्यक्तियों के प्रति कुछ अनुदार होगये हैं। स्वामी श्रद्धानन्द लिखित 'कल्याण मार्ग का पथिक' अच्छी आत्मकथा है। वह अनुवाद नहीं है। 'कल की बात' नाम से कुछ हिन्दी के लेखकों की संक्षिप्त कथाएँ सरस्वती प्रेस बनारस से प्रकाशित हुई हैं।

श्री वियोगी हरि की आत्म-कथा 'हिन्दुस्तान' में प्रकाशित हुई थी, वह 'मेरा जीवन प्रवाह' नाम से पुस्तक रूप में आ गई है। बख्शी की 'अपनी बात' के रूप में अपनी कथा 'आज-कल' में कह रहे हैं। डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी की आत्मकथा मूल रूप से हिन्दी में ही लिखी गई है।

हाल ही में दो और आत्म-कथाएँ निकलीं हैं, एक श्री भवानी-दयाल सन्यासी की 'प्रवासी की आत्म कथा' के नाम से और दूसरी कृष्णाहठीसिंह की 'कोई शिकायत नहीं' शीर्षक से छपी है। यह अँग्रेज़ी भाषा से अनूदित हैं। इन नेताओं की आत्म-कथा में देश की कथा भी आजाती है। कृष्णाहठीसिंह की पुस्तक में नेहरू परिवार का बड़ा सुन्दर चित्रण है। प्रवासीजी की आत्म कथा राजनीतिक महत्त्व

के साथ साहित्यिक महत्व भी रखती है। उसमें नेताओं के सुन्दर शब्द चित्रण आये हैं।

संस्मरण, यात्राएँ, पत्र, दैनिकी आदि जीवनी-साहित्य के कई और रूप हैं जिनकी आंशिक-पूर्ति भी अभी तक नहीं हो पाई है। 'सुधा' में प्रकाशित धीरेन्द्र वर्मा के यात्रा-सम्बन्धी बड़े रोचक और ज्ञानप्रद वर्णन निकले थे। अब वे पुस्तक रूप से प्रकाशित हो गये हैं! आत्मकथात्मक संस्मरणों में महादेवीजी के 'अतीत के चल-चित्र' बड़े रोचक और सजीव हैं! यात्रा-सम्बन्धी और भी पुस्तकें निकल चुकी हैं जिनमें श्री शिवप्रसाद गुप्त की 'पृथ्वी प्रदक्षिणा', पं० रामनारायण मिश्र तथा बाबू गौरीशङ्कर प्रसाद वकील की 'योरोप यात्रा के छः मास', मुन्शी महेशप्रसाद की 'मेरी ईरानयात्रा' आदि पाठनीय है। राहुल सांकृत्यायन ने तिब्वत आदि के सम्बन्ध में खूब लिखा है। आपकी 'सोवियत भूमि' बहुत उत्तम पुस्तक है। आपने घुमक्कड़ शास्त्र नाम की एक पुस्तक भी लिखी है जिसमें घुमक्कड़ी की महिमा गाई है और घुमक्कड़ों को व्यावहारिक उपदेश भी दिये हैं। भौगोलिक ज्ञान बढ़ाने में श्री रामनारायण मिश्र का 'भूगोल' नाम का मासिक पत्र उल्लेखनीय है। भूगोल साहित्य की रचना और प्रकाशन में मिश्रजी का परिश्रम स्तुत्य है।

विविध विषय

हिन्दी में और अङ्गों की भी यथावत पूर्ति हो रही है। इतिहास, राजनीति समाज-शास्त्र, दर्शन-शस्त्र, विज्ञान सभी विषयों में अच्छी-अच्छी पुस्तकें निकलती आ रही हैं, जो अन्य भाषाओं के साहित्य से भली प्रकार टक्कर ले सकती हैं। केवल इतना ही नहीं वरन् वे अन्य भाषा-भाषियों की ज्ञान वृद्धि भी कर सकती हैं। इतिहास में राय-बहादुर श्री गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा का 'राजपूताने का इतिहास', श्री जयचन्द विद्यालङ्कार का 'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा'

आदि ग्रन्थों ने हिन्दी का गौरव बढ़ाया है। मिश्र-बन्धुओं ने भी कई इतिहास-ग्रन्थ लिखे हैं, जिनमें भारतवर्ष का इतिहास मुख्य है। केलाजी ने राजनीति और नागरिक शास्त्र सम्बन्धी साहित्य उपस्थित करने में बहुत काम किया है। श्री दयाशङ्कर दुवे ने अर्थ शास्त्र की अच्छी पुस्तकें लिखी हैं। श्री मुकन्दीलाल श्रीवास्तव ने साम्राज्यवाद पर एक अच्छी पुस्तक लिखी है। श्री सम्पूर्णानन्दजी का 'साम्यवाद' मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार से सम्मानित हुआ है। अभी उसका चतुर्थ संस्करण निकला है। श्री रामनारायण यादवेन्दु भी राजनीति की सुपाठ्य सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं। शिक्षा शास्त्र पर भी कई पुस्तकें (जैसे श्री सूर्यप्रसाद चौवे का पाश्चात्य शिक्षा का इतिहास) तथा नागरिक शास्त्र पर भी कई पुस्तकें निकली हैं।

'दर्शनशास्त्र' में गङ्गाप्रसाद एम० ए० की 'आस्तिकवाद' 'अद्वैतवाद' आदि श्लाघनीय पुस्तके है। डाक्टर भगवानदास का 'समन्वय' नाम का ग्रंथ वड़ा पाण्डित्व-पूर्ण है। नागरी प्रचारिणी सभा से 'तर्क-शास्त्र' 'कर्तव्य-शस्त्र' आदि कई पुस्तके इस पर निकल चुकी हैं। हर्वर्ट स्पेन्सर की 'अज्ञेय मीमाँसा', कान्ट के वर्कले' आदि कई छोटी-छोटी पुस्तकें निकली हैं। नागरी-प्रचारिणी सभा मे न्याय और वैशेषिक दर्शनों पर भी दो पुस्तके निकल चुकी हैं। हाल मे प्रोफेसर देवराज का 'भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास' और डाक्टर वल्देव उपाध्याय का 'भारतीय दर्शन' नाम के इतिहास ग्रन्थ निकल चुके हैं। भारतीय दर्शन पर मङ्गला प्रसाद पुरस्कार भी मिला है। उनका लिखा हुआ बौद्ध दर्शन भी पठनीय है। वह एक अभाव की पूर्ति करता है। पाश्चात्य दर्शनों का इतिहास लेखक द्वारा नागरी प्रचारिणी सभा की सूर्यकुमारी पुस्तकमाला में उपस्थित किया जा चुका है। प्रोफेसर देवराजजी की 'पूर्वी पश्चिमी दर्शन' तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत उपयोगी पुस्तक है। उसमें ज्ञान की प्रामाणिकता आदि समस्याओं पर अच्छा प्रकाश

डाला गया है। हिन्दी में मनोविज्ञान सम्बन्धी भी कुछ अच्छा साहित्य निकला है। श्री लालजीराम शुक्ल का नवीन मनोविज्ञान इस दिशा में अच्छा प्रयत्न है। उन्होंने और भी कई पुस्तकें लिखी हैं।

विज्ञान सम्बन्धी कुछ सुन्दर पुस्तकें लिखी गई हैं, जिनमें डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा की 'हमारे शरीर की रचना' 'रोग और चिकित्सा' डाक्टर गोरखप्रसाद की 'फोटोग्राफी' और 'सौर परिवार', श्री रामदास गौड़ की 'विज्ञान हस्तामलक' विशेष महत्त्व की हैं। 'विज्ञान' नाम का मासिक पत्र वैज्ञानिक-साहित्य की अच्छी सृष्टि कर रहा है।

कला के सम्बन्ध में राय कृष्णदास की 'भारतीय मूर्तिकला' और 'भारतीय चित्रकला' बड़ी उपादेय पुस्तकें हैं। श्री एन० सी० मेहता की 'भारत की चित्रकला' नाम की पुस्तक भी बड़े महत्व की है।

भाषा विज्ञान पर बाबू श्यामसुन्दरदासजी, डा० मङ्गलदेव शास्त्री, डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना तथा श्री नलिनीमोहन सान्याल के बड़े महत्वपूर्ण ग्रन्थ निकले हैं।

कोश साहित्य की भी इधर अच्छी श्रीवृद्धि हुई है। श्री नागरी प्रचारिणी सभा का शब्द सागर एक प्रामाणिक ग्रन्थ है। हाल ही में ज्ञान विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण विश्वकोष एनसायक्लोपीडिया 'विश्व-भारती' के नाम से पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी के प्रधान सम्पादकत्व में निकला है। डाक्टर रघुवीर और राहुल सांकृत्यायन ने अलग-अलग पारिभाषिक शब्दावली के कोश तैयार किये हैं। इसमें डा० रघुवीर का क्षेत्र कुछ व्यापक है। भारतीय संविधान के दो या तीन हिन्दी अनुवाद छपे हैं। जैसे-जैसे हिन्दी उच्च शिक्षा की माध्यम होती जायगी वैसे-वैसे उच्चकोटि की पाठ्य सामग्री उपस्थित होती जायगी।

हास्य सम्बन्धी साहित्य का भी हिन्दी में प्रचुरता से तो नहीं किन्तु एक सन्तोषजनक मात्रा में निर्माण हुआ है। श्री अन्नपूर्णानन्द के 'महाकवि चच्चा' और 'मेरी हजामत' नाम की पुस्तकों में बड़ी उच्चकोटि का हास्य उपस्थित किया गया है। श्री हरिशङ्कर शर्मा के

'चिड़ियाघर' और 'पिंजरापोल' में सुन्दर व्यंग्य तथा अनुप्रासों की छटा दर्शनीय है। पिंजरापोल में कवियों के सुन्दर व्यङ्ग्यानुकरण (Parodies) हैं। व्यङ्ग्यानुकरणों की दृष्टि से 'श्रीमती बनाम श्रीमता' नाम की पुस्तक भी अच्छी है। उसमें चाय के सम्बन्ध में अच्छी पैरोडियाँ आई हैं। लेखक ने अपने 'ठलुआ क्लब' में कुछ हास्य-प्रधान स्केच दिये हैं और 'मेरी असफलताएँ' नाम की पुस्तक में एक साहित्यिक ढङ्ग से अपने ऊपर हँसने का प्रयत्न किया है। हास्य प्रधान छोटी कहानियाँ और नाटक भी लिखे गये हैं। ऐसे ग्रन्थों के लेखकों में जी० पी० श्रीवास्तव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनमें मारकूट धौलधप्पा का परिस्थिति सम्बन्धी हास्य अधिक है। निरालाजी ने भी कई हास्य-प्रधान पुस्तकें लिखी हैं। उनमें हास्य के साथ उनके सामाजिक अक्खड़पन का अधिक परिचय मिलता है। हिन्दी में साहित्यिक हास्य की पुस्तकों की अपेक्षाकृत कमी है। श्री शिवपूजन सहाय की 'दो घड़ी' नाम की छोटी सी पुस्तक बहुत सुन्दर साहित्यिक हास्य उपस्थित करती है।

इस प्रकार हिन्दी की सर्वतोमुखी उन्नति हो रही है। अभी हिन्दी पूर्ण रूपेण उच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बनी है। जिस समय हिन्दी को यह गौरव प्राप्त हो जायगा—तब भिन्न-भिन्न विषयों की पुस्तकें बहुत शीघ्रता के साथ निकलने लगेंगी। अभी पाठकों के अभाव के कारण उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण नहीं हो रहा है। किन्तु जो प्रगति अभी तक चल रही है उससे भविष्य के लिए शुभ लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं।

नवीन पद्य साहित्य—व्रजभाषा-काव्य

नये युग का प्रवेश—जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रीति काल की कविता एक बँधी हुई प्रणाली में चलती रही। उस काल के काव्य का प्रधान विषय अलङ्कार और नायिका भेद था। अलङ्कारों

के उदाहरण भी शृङ्गार रसात्मक होते थे। ऐसी अवस्था में नवीनता के लिए बहुत कम स्थान था। कवि कर्तव्य एक परिपाटी की पूर्ति मात्र रह गया था। इस प्रकार भाषा में भी अनुकरण का प्रधान्य था। अर्थ गाम्भीर्य और व्यञ्जना शक्ति की अपेक्षा शब्दालङ्कारों के वाह्य आडम्बर पर अधिक महत्व दिया जाता था, शब्दों के चलन की कम परवाह की जाती थी।

अँग्रेजी राज्य के आजाने पर चारों ओर नवीन युग का अरुणोदय हो गया था। किन्तु काव्य क्षेत्र में कुछ काल तक प्राचीन परिपाटी ही चलती रही। हरिश्चन्द्र से पूर्व प्राचीन परिपाटी को स्थित रखने वाले कवियों में सेवक कवि (संवत् १८७२-१९३२) जिन्होंने वाग्विलास में नायिका-भेद का वर्णन किया है, सरदार (कविता-काल-संवत् १९०२–१९४०) जिनके वनाये हुए साहित्य-सरसी, षड्ऋत, हनुमत भूषण, साहित्य सुधाकर प्रसिद्ध है, ललित-किशोरी तथा ललितामाधुरी जिनका मन्दिर साहजी के नाम से वृन्दावन में प्रख्यात है और जिन्होंने श्री कृष्णलीला के बड़े सुन्दर पद गाये हैं, आगरा निवासी राजा लक्ष्मणसिंह (संवत् १८८३-१९५३) जिन्होंने कालिदास कृत शकुन्तला, रघुवंश, मेघदूत के वड़े सुन्दर अनुवाद किये हैं, लछिराम ब्रह्मभट्ट जिनका 'रावणेश्वर कल्पतरु' नाम का रीतिग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन लोगों का काव्य महत्वपूर्ण अवश्य था किन्तु वह साहित्य की प्रगति को आगे न वढ़ा सका।

गद्य की अपेक्षा पद्य में रूढ़िवाद अधिक दिन तक ठहरता है। काव्य में रीतिकालीन प्रवृत्तियों का जीवित रहना उसी रूढ़िवाद का फल है। अँग्रेजी राज्य की स्थापना हो जाने से बुद्धिवाद बढ़ा और शृङ्गारिक मादकता का कुछ खुमार उतरा। सन् १८५७ के गदर के पश्चात् परिस्थितियों में भी परिवर्तन आगया था। सन् ५७ का गदर

बुझते हुए स्वतन्त्रता के दीपक की अन्तिम चमक थी उसकी विफलता ने हार की मनोवृत्ति को और भी गहरा कर दिया था। हास-विलास तो रहा किन्तु उसमें उत्साह और उल्लास न था। उस समय की हँसी फीकी हँसी थी। नायिका-भेद और शृङ्गारिक कविता में विशेष बल नहीं रह गया था। सामन्त शाही भी शेष प्रायः हो चली थी। नायिका भेद की लकीर पीटी जा रही थी लेकिन उसी तरह से जिससे कि बिना एञ्जिन की रेलगाड़ी कुछ दूर तक ढकिल सकती है। भक्ति-काव्य हिन्दू मनोवृत्ति के कुछ अधिक निकट होने के कारण मरा नहीं था। उससे शृङ्गार-भावना की भी तृप्ति हो जाती थी। उस समय की राष्ट्रीयता में अँग्रेजी शासन की सुव्यवस्था पर साधुवाद और राज-भक्ति की भावना भी थी और साथ ही उनकी शोषक नीति के विरुद्ध एक नरम सा विद्रोह भी था। गद्य का प्रचार तो वढ़ा ही, किन्तु नयी शासन-व्यवस्था का प्रभाव पद्य पर भी पड़ा। कुछ तो अँग्रेजी के समृद्ध साहित्य के सम्पर्क में आने के कारण विचारों को उत्तेजना मिली और कुछ नये शासन की सफलता से अपेक्षाकृत शान्ति मिली और इस कारण अध्ययन की रुचि बढ़ी। उसी के साथ अपनी पारस्परिक फूट की ओर ध्यान आकर्षित होकर पश्चाताप की भावना जाग्रत हुई। इन सब कारणों से जातीयता के भाव बढ़े और उसी के साथ जातीय अवनति की मूल कारण-स्वरूपा सामाजिक कुरीतियों की ओर भी लोगों का ध्यान गया। इस प्रकार समाज-सुधार की नींव पड़ी। धीरे-धीरे राजनीतिक और समाज-सुधार सम्बन्धी भावों का प्रवेश साहित्य में हुआ और पहले-पहल भारतेन्दु बाबू की कविता में राष्ट्रीय भावनाएँ झंकृत हुईं।

काव्य के विषय में तो परिवर्तन के लिए द्वार खुला, किन्तु काव्य की भाषा वही व्रजभाषा रही क्योंकि व्रजभाषा ने साहित्य में ऐसा स्थान प्राप्त कर लिया था कि उसको काव्य-भाषा के पद से च्युत करना कठिन था। रीतिकाल के आदर्श नायक-नायिका राधाकृष्ण

ही थे। इस नाते से रीतिकाल में भी व्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा। व्रजभाषा प्रान्तीय भाषा न रही वरन् साहित्य की व्यापक भाषा हो गई थी। कुछ काल तक तो व्रजभाषा का ही साम्राज्य रहा उसके पश्चात् धीरे-धीरे कुछ कविगण व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों ही में (जैसे अयोध्यासिंह उपाध्याय और श्रीधर पाठक) काव्य-रचना करते रहे। उसके पश्चात् लोगों ने अपनी रुचि के अनुकूल अलग-अलग क्षेत्र चुन लिये। अब हम पहले व्रजभाषा की काव्य-धारा का वर्णन कर खड़ी बोली की काव्य-धारा का परिचय करावेंगे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(स० १९०७–१९४२) हिन्दी कविता का वर्तमान युग श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही प्रारम्भ होता है। काव्य-गगन के इस नवेन्दु में विकास की आशा भरी हुई थी। उनके काव्य में नवीन युग की भावनाएँ मुखरित हुईं। यद्यपि भारतेन्दु बाबू ने व्रजभाषा में ही कविता की, तथापि ये काव्य के विषयों को विस्तार दे तथा चलन से छूटे हुए 'दीह', 'लोय' आदि शब्दों का बहिष्कार कर उस भाषा को वास्तविक जीवन के अधिक निकट ले आये। इस प्रकार उन्होंने साहित्य का जनता के साथ सम्बन्ध स्थापित कर दिया। उनके सत्प्रयत्न से व्रजभाषा का संकुचित वातावरण मुक्तोन्मुख हो गया। अलङ्कार और नायिका भेद के संकुचित गढ़ में बैठी हुई कविता कामिनी को उन्होंने देश-भक्ति और समाज-सुधार के वातायनों द्वारा स्वतन्त्रता की सांस लेने का अवसर दिया। 'नील-देवी' और 'भारत-दुर्दशा' आदि नाटकों में देश की करुण पुकार और दबी हुई भावनाएँ झंकरित हो उठीं। भारतेन्दुजी ने गङ्गा, यमुना आदि का वर्णन कर प्रकृति-चित्रण भी किया है किन्तु उसमें अलङ्कार का चमत्कार और कवि के कर्तव्य पालन की प्रवृत्ति अधिक दिखलाई पड़ती है। इनके प्रकृति-वर्णन के सम्बन्ध में प्रायः यह

भी आक्षेप किया जाता है, कि इन्होंने प्रकृति को भी मानवी घेरे में बंद रखना चाहा है। इनका ध्यान खुली हुई प्रकृति की ओर न जाकर ऊँची अट्टालिकाओं और घाटों आदि मानवी कृतियों की ओर अधिक गया है। यह बहुत अंश में ठीक है, किन्तु इनके वर्णन अन्य कवियों की अपेक्षा बहुत अच्छे हुए हैं और उनके मूल में देश भक्ति की भावना छिपी हुई दिखाई पड़ती है। प्रकृति का उन्मुक्त स्वरूप दर्शनीय एवं उल्लासप्रद अवश्य है, किन्तु नगर की सुन्दरता और उसका वैभव भी उपेक्षणीय नहीं है।

भारतेन्दु बाबू की राष्ट्रीयता भूषण की राष्ट्रीयता से एक कदम आगे बढ़ी हुई थी। भूषण तो हिन्दुओं की ही दुहाई देकर रह गये थे किन्तु इन्होंने हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सब को भारत की सन्तान ठहराया। वैसे तो इन्होंने भी हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान का मन्त्र फूँका था किन्तु इनकी जातीयता संकुचित नहीं थी। भारतेन्दु बाबू में देश-भक्ति के साथ राजभक्ति की भी मात्रा पर्याप्त थी। उसका यह कारण था कि अँग्रेजी राज्य की सुव्यवस्था ने देश में शान्ति स्थापित करदी थी और वे उसके द्वारा भारत की उन्नति की आशा कर रहे थे। उन्होंने अँग्रेजों की काबुल, मिस्र आदि देशों में सफलता पर बड़ा हर्ष प्रकट किया था क्योंकि उसमें भारतीय सैनिकों का गौरव बढ़ा था। इस राज-भक्ति में भी कहीं-कहीं दबे हुए असन्तोष की झलक मिलती है। भारत का धन विदेश में जाता हुआ देख उनका हृदय-व्यथित होता था।

अँगरेज राज सुख साज सजे सब भारी,
पै धन विदेस चलि जात यहै अति ख्वारी।

इस प्रकार उनकी राज-भक्ति और देश भक्ति दोनों ही हृदय की वस्तु थीं।

भारतेन्दु बाबू पर उर्दू साहित्य का काफी प्रभाव था और वे स्वयं उर्दू में भी कविता करते थे। उर्दू के प्रभाव से उनके प्रेम के

वर्णनों में वेदना की मात्रा अधिक बढ़ी हुई थी। वास्तव में हम भारतेन्दु बाबू को प्रेम का ही कवि कहेंगे। उनकी प्रेम भावना ही देश-भक्ति और कृष्ण-भक्ति की भावना में परिणत हो गई थी। श्याम-घन के चितन से उनका मन-मयूर नाचने लगता था और वे रसखान की भाँति ब्रज की लता-पता बनने की अभिलाषा करते थे। ब्रज की लता-पता 'मोहिं कीजे' किन्तु यह भी प्रेम ही का एक रूप था, प्रेम ही उनका सर्वस्व था—

जेहि लहि फिर कुछ लहन की आस न चित में होय।
जयति जगत पावन करन प्रेम वरन् यह दोय॥

भारतेन्दु बाबू की कृष्ण भक्ति अनन्य होते हुए भी उसमें कट्टरता न थी। उनकी कविता में साम्प्रदायिकता प्रचुर मात्रा में थी किन्तु उसी के साथ अन्य धर्मों के प्रति बड़ी उदार भावनाएँ थीं। उन्होंने जैन-धर्म को बुरा कहने वालों की निन्दा की है। और जैन-पद्मावती का स्तवन भी किया है। यह उनके प्रेमी स्वभाव के कारण ही है। वे सच्चे वैष्णव की भाँति जगत को सत्य मानते थे और मायावाद के बहाव में नहीं पड़े। संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि भारतेन्दु बाबू की कविता में भक्ति-काल और रीतिकालीन शृङ्गारिक भावनाओं के साथ नये युग की देश-भक्ति और समाज-सुधार की भावनाओं का शिलारोपण हो गया था। यह स्वाभाविक ही था क्योंकि पुरानी प्रवृत्तियों का समूल नाश नहीं होता।

भारतेन्दु बाबू ने अपने काव्य द्वारा तीन बातों की नींव डाली, जिनका कि प्रभाव आधुनिक काव्य पर भी दिखलाई पड़ता है। वे बातें इस प्रकार हैं—(१) साहित्यिक भाषा का जनता की भाषा के साथ सम्पर्क (२) प्रेम में वेदना और कसक (३) देश-भक्ति और समाज-सुधार।

भारतेन्दु बाबू स्वयं ही कवि नहीं थे वरन् वे उस समय की एक केन्द्रीय ज्योति थे, जिसके चारों ओर अन्य कविगण मण्डल बाँध

कर घूमा करते थे। उन्होंने कवियों को दान और मान दोनों से प्रोत्साहन दिया। उनके अपने समय में बहुत से कवि-समाज स्थापित हुए जिनमें उपस्थित की हुई समस्याओं की पूर्ति में कभी-कभी बड़ी उत्कृष्ट कविता की सृष्टि हुई।

नवीन-युग के प्रारम्भिक काल के कवियों में भारतेन्दु बाबू के अतिरिक्त पंडित अम्बिकादत्त व्यास (सं० १६१५–१६५७) जिन्होंने बिहारी पर कुण्डलियाँ लिखी थीं, 'कुञ्जापचीसी' के लेखक मथुरा निवासी नवनीतलाल चतुर्वेदी, बाबू राधाकृष्णदास जिन्होंने अन्य कविता के अतिरिक्त रहीम के दोहों पर कुण्डलियाँ लिखी थीं, पण्डित प्रतापनारायण मिश्र (सं० १६१३–१६५१) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उस समय दोहों पर लिखी हुई कुण्ड-लियाँ उनकी व्याख्या टीकाएँ थीं। ये कवि प्रायः व्रजभाषा में ही कविता करते थे। श्री अम्बिकादत्त व्यास ने कुछ कविता खड़ी-बोली में भी की है। पण्डित प्रताप नारायण मिश्र की व्रजभाषा पर पश्चिमी अवधी का प्रभाव दिखाई पड़ता है। अब कुछ विशेष कवियों का विवरण दिया जाता है—

श्री बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन—(सं० १६१२–१६७६) आपने देश-प्रेम और हिन्दी-प्रचार के सम्बन्ध में कविता की है और थोड़ी कविता खड़ी बोली में भी की है। तत्कालीन समाज में जो जातीय भावनाएं प्रचलित थीं वे आपकी कविता में पूर्णतया प्रति-बिम्बित हैं। 'प्रेमघन सर्वस्व' के नाम से उनकी कविता का संग्रह निकल चुका है।

ठाकुर जगमोहनसिंह—(सं० १६१४–१६५६) इनकी कविता स्वतन्त्र ढङ्ग की थी। इन्होंने प्रेम-सम्बन्धी कविता अधिक की थी और इनका मन देश-प्रेम की ओर न जाकर प्रकृति को आल-

म्बन रूप से देखने में रमा। इन्होंने नये ढङ्ग के प्रकृति-चित्रण की नींव डाली)

रायबहादुर लाला सीताराम, बी० ए०—(सं० १६१५-१६६३) आपने सरकारी नौकरी करते हुए भी हिन्दी की बड़ी सेवा की है। आप 'भूप' के नाम से कविता करते थे। आपने 'रघुवंश', 'कुमार-संभव' और 'मेघदूत' का अनुवाद किया है। आपकी भाषा शुद्ध और परिमार्जित है और अनुवादों में मूल के अर्थ का बहुत कुछ-निर्वाह हुआ है।

मिश्र-बन्धु

मिश्र बन्धुओं का नाम समालोचकों में तो है ही, आप लोगों ने ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही कविता भी की है। आपके काव्य में समय की उपदेशात्मक प्रवृत्ति अवश्य है परन्तु आपने भावात्मक कविता भी की है। आपने रघुवंश के कुछ अंश का भी पद्यानुवाद किया है :—

कहाँ दिनकर कुल जगत विदित कहाँ,
प्रतिभा अलप वारी मति मम रङ्क है।
केवट विहीन चहै केवल उडुप चढ़ि,
तरन अपार मनु जलधि निसङ्क है ॥
× × × ×
मन्द मति ऐसी तऊ कवि जस लेन चहै,
औसि जग हँसि है विलोकि मो ढिठाई को।
ऊँचे फल हेत जिमि बावन उठान कर,
केवल प्रकासत महान मूढ़ताई को ॥

श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

(सं० १६२३—१६८६) आप ब्रजभाषा के अनन्य भक्त थे। खड़ी बोली का आकर्षण आपके ब्रजभाषा प्रेम पर विजय न प्राप्त कर

सका। आपने हरिश्चन्द्र काल से कविता करना आरम्भ किया था और आधुनिक युग में भी उसी परिपाटी को जीवित रक्खा। आपने 'हरिश्चन्द्र' 'गङ्गालहरी' 'कल-काशी' आदि कई ग्रन्थ लिखे, किन्तु 'उद्धवशतक' और 'गङ्गावतरण' ने बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की। 'उद्धवशतक' भाव-प्रधान ग्रन्थ है और गङ्गावतरण कथात्मक ग्रन्थ है। 'उद्धवशतक' मे एक प्रचीन परिपाटी का पालन करते हुए भी आप उसमें कुछ नवीनता ला सके। गोपियों और कृष्ण के प्रेम में आपने दोनों की विरह-वेदना दिखलाई है। उद्धव शतक मे रत्नाकरजी पर भक्ति-काव्य और रीतिकाव्य का मिश्रित प्रभाव है। उन्होंने भक्तिकालीन भावनाओं को रीतिकालीन आलङ्कारिता के साथ व्यक्त किया है। उनकी गोपियों में सूर की गोपियों की वैयक्तिक प्रेम-निष्ठा और नन्ददासजी की गोपियों की तार्किकता है।

'गङ्गावतरण' की कथा में भी आपने थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर उसमें शृङ्गार, वीर, हास्य, भयानक सभी तरह के रसों मे सञ्चार की सामग्री उपस्थित की है। आपकी कल्पना बड़ी उर्वरा है और आपने शब्दावली में बिना विदेशी मुहावरों को ग्रहण किये ही सुन्दर लाक्षणिकता लाने का उद्योग किया है। आपकी भाषा में 'हरा होना' 'जुड़ाना' 'बह जाना' आदि लाक्षणिक शब्दों का बड़ी सफलता के साथ प्रयोग हुआ है। रत्नाकरजी ने ऐसे शब्दों की लाक्षणिकता का पूरा-पूरा लाभ उठाया है। कहीं-कहीं आपने मुहावरों का बड़ी सार्थकता से प्रयोग किया है। धृतराष्ट्र के सम्बन्ध में अंधे के आगे रोना अथवा सगर यज्ञानुष्ठान कामना में पुत्रों के जल जाने के सम्बन्ध में 'होम करत कर जर्‌यौ पर्‌यौ विधि वाम हमारो' कितना स्वाभाविक है। अभिधा और लक्षणा दोनों का मेल हो जाता है। रत्नाकरजी ने बड़े सुन्दर शब्द चित्र भी खींचे हैं और कहीं-कहीं शब्दों की विशेष ध्वनि के कारण शब्द और अर्थ की स्वाभाविक संगति भी बन गई है। रत्नाकरजी ने 'समालोचनादर्श' के नाम से पोप के (Essay on Criti-

cism) का भी पद्यानुवाद किया था। उन्होंने पोप के भावों को भारतीय काव्य परम्परा में ऐसा ढाला है कि वह अनुवाद नहीं मालूम होता है।

रत्नाकरजी की ब्रजभाषा कुछ संस्कृतगर्भित है। उसमें लम्बे-लम्बे समास भी आ जाते हैं। आपने अपनी रचनाओं में व्याकरण पर अधिक ध्यान दिया है। आपकी भाषा में (विशेषकर गङ्गावतरण में) माधुर्य की अपेक्षा ओज की मात्रा कुछ अधिक है। अवाङ (अवाक्) अकह (अकथ) आदि अपभ्रंश के भी प्रयोग आये हैं और कहीं-कहीं पूर्वी-प्रयोग भी है। कविता के उदाहरण स्वरूप 'गङ्गावतरण' से दो छन्द और एक छन्द उद्धव शतक से दिया जाता है।

भरके भानु-तुरग चमकि चलि मग सौं सरके।
हरके वाहन रुकत नैंकु नहिं विधि हरि हर के॥
दिग्गज करि चिक्कार नैन फेरत भय-थरके।
धुनि प्रति-धुनि सौं धमकि धराधर के उर धरके॥

* * * *

छहरावति छवि कवहुँ कोऊ सित सघन घटा पर।
फवति फैलि जिमि जोन्ह-छटा हिम-प्रचुर-पटा पर॥
तिहिं घन पर लहराति तुरति, चपला जब चमकै।
जल-प्रतिबिम्बित दीप-दाम-दीपति सी दमकै॥

—गङ्गावतरण

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्मदूत ह्वै पधारे आप।
धारे प्रन फेरत कौ मति ब्रजवारी की॥
कहै रत्नाकर पै प्रीति-रीति जानत ना।
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की॥
मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,
तौहू हमैं भावति ना भावना अन्यारी की॥

जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की।
बूँदता बिलैहै बूँद विवस बिचारी की॥

—उद्धव शतक।

वेदान्ती लोग कहा करते हैं कि जिस प्रकार बूँद समुद्र में मिल कर समुद्र हो जाती है उसी प्रकार जीव ब्रह्म में मिल कर ब्रह्म हो जाता है। इस युक्ति के खिलाफ गोपियों का कहना है कि बूँद के समुद्र में मिलने या न मिलने से समुद्र का कुछ नहीं बिगड़ेगा। किन्तु बूँद बिचारी अपना अस्तित्व खो बैठेगी। अपना अस्तित्व खोकर समुद्र बनने में क्या लाभ जब वह लाभ पाने वाला ही न रहेगा।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

(सं० १६२५—१६७१) पूर्णजी में प्राचीन परिपाटी के शृङ्गारिक वर्णनों के साथ-साथ तत्कालीन देश-भक्ति भावनाओं की भी अभिव्यञ्जना प्रचुर मात्रा में मिली रहती है। आपका ऋतु-वर्णन सेनापति के टक्कर का है। आपकी ब्रजभाषा बहुत शुद्ध और व्याकरण के नियमों के अनुकूल तथा एक रस रहती है। आपने 'धाराधर धावन' नाम से मेघदूत का बड़ा सुन्दर अनुवाद भी किया है। एक उदाहरण लीजिए—

आसा ही के सहारे अतुलित दुख में मैं धरूँ धीर जैसे।
तू हू हे भागवन्ती दुसह विरह में राखुरी बोध तैसे॥
ना कोऊ नित्य भोगे अति सुख, अरूना नित्य ही दुःख भारी।
ऊँची-नीची अवस्था लखियतु जग में चाल ज्यों चक्रवारी॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—(सं० १६४१—६८)

आपका नाम गद्य-लेखकों और समालोचकों में तो अग्रगण्य है ही किन्तु ब्रजभाषा-काव्य के सम्बन्ध में भी आपका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। आपने एडविन आर्नोल्ड के 'लाइट आफ एशिया' (Light of Asia) के आधार पर 'बुद्ध-चरित्र' नाम का एक प्रबंध काव्य लिखा है। आपने अपनी करुणार्द्र प्रकृति के अनुकूल

अपने काव्य का चरित्र नायक चुना है। प्रकृति-वर्णन के सम्बन्ध में आपका सिद्धान्त है कि प्रकृति हमारी सहचरी है। इसके प्रति हमारा स्वाभाविक आकर्षण है। हमारे कवियों को इसे केवल उद्दीपन रूप से न वर्णन कर आलम्बन रूप से भी वर्णन करना चाहिए और अपने वर्णन को ऐसा बनाना चाहिए कि जिसमें पूरा संश्लिष्ट चित्र उतर सके। आपने अपने प्रकृति के वर्णनों में इस सिद्धान्त का पूर्णतया पालन किया है। आपकी ब्रजभाषा शुद्ध ब्रजभाषा है जो कि जीवित ब्रजभाषा के बहुत निकट है। आपने खड़ी बोली मे बड़ी सुन्दर कविता की है, देखिए—

भूरी हरी घास फूली सरसों है पीली-पीली
पीली बिन्दियों का चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुङ्ग राशि रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर-घार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ-मण्डल से,
धुँधली-सी नीली नागमाला उठी धुआँधार॥

सत्यनारायण कविरत्न (सं० १६४१—१६७५)

आप आगरे के पास धाँधूपुरा गांव के निवासी थे और अत्यन्त सरल स्वभाव के थे। आपकी वाणी मधुर थी। आपके काव्य में ब्रज-भाषा का सहज माधुर्य देखने को मिलता है इसी से लोग उनको ब्रज-कोकिल भी कहते हैं। आपने प्रेम और शृङ्गार की कविता की है किन्तु बड़े मर्यादित रूप से। आपके प्रेम का आदर्श रसखान और हरिश्चन्द्र के आदर्श से मिलता-जुलता है। प्रेम की पूर्ण परिभाषा अव्यक्त रहने की बात को आपने कैसे सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है:—

उलटा पलटी करहु निखिल जग की सब माषा,
मिलहि न परि कहुँ एक 'प्रेम' पूरी परिभाषा।
स्वयं सिखाय न सकै सारदा याकी पाटी,
परम विलच्छन स्वच्छ प्रेम पूरित परिपाटी।
गोपनीय रस रहै पुरातन प्रथा भली है,
याही सों अधखिली रही यह प्रेम कली है॥

आप प्रकृति के भी सच्चे उपासक थे। आपकी प्रकृति वर्णन निजी निरीक्षण से उत्पन्न हृदयोल्लास का फल था। देखिए—

अलवेली कहुँ वेलि द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोये-धोये पातन की अनुपम कमनाई।

आपने व्रजभाषा में भी राष्ट्रीय भावनाओं का समावेश किया है। देश की दयनीय दशा का आपके लिखे हुए भ्रमरदूत में बड़ा सुन्दर चित्रण है। इस भ्रमरदूत के पदों की अंतिम छोटी पंक्ति नन्ददास के अनुकरण में हैं। इसमें यशोदाजी ने भ्रमर के द्वारा कृष्ण को सन्देश भेजा है। देखिए—

टिमटिमाति जातीय जोति जो दीप-शिखा-सी।
लगत बाहिरी व्यारि बुझन चाहत अबला-सी॥
शेष न रह्यो सनेह को, काहू हिय में लेस॥
कासों कहिए गेह को देसहिं में परदेश॥
भयो अब जानिये—

आपके वैयक्तिक जीवन की करुणा 'भयो क्यों अनचाहत कौ संग अथवा 'अब नहिं जात सही' आदि कविताओं में प्रस्फुटित हुई है। आपने भगवान् को बड़े सुन्दर उपालम्म भी दिये हैं। जैसे 'माधव आप सदा के कोरे।' ऐसे उपालम्भों में थोड़ा राजनीतिक व्यंग्य भी रहता है।

स्फुट कविताओं के अतिरिक्त जो कि 'हृदय-तरङ्ग' में संग्रहीत हैं, आपने भवभूति के दो नाटकों का (उत्तर रामचरित और मालती

माधव) का बड़ा सरस अनुवाद किया है, जिसमें मौलिकता का आभास होता है।

श्री वियोगी हरि (जन्म सं० १९५३)

आपने भक्ति का पाठ पढ़ाते हुए भी वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल वीर-रस सम्बन्धी ७०० दोहे लिखकर 'वीर सतसई' का निर्माण किया, इस प्रकार ब्रजभाषा भी राष्ट्रीय भावों से वञ्चित न रही। आप वैष्णव धर्म से बहुत प्रभावित हैं, और आपने कविता सम्बन्धी आदर्शों मे भारतेन्दुजी का अनुकरण किया है। 'वीर सतसई' में आपने कही-कही प्राचीन अलङ्कार प्रधान शैली को बड़ी सफलता के साथ अपनाया है। दो उदाहरण लीजिए--

पावस ही में धनुष अब, सरित तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग, नौ रस ही मे वीर॥

इस दोहे मे परिसख्या अलकार के सहारे वर्तमान दशा पर बड़ा सुन्दर व्यग्य किया है। असंगति का एक उदाहरण लीजिये। इसमें असंगति की परिभाषा भी आ गई है—

कारण कहुँ कारज कहूँ, अचरज कहत बने न।
असि तो पावत रकत पै होत रकत तम नैन॥

आपने ब्रज भाषा के अच्छे पद भी लिखे हैं।

अन्य कविगण

आजकल के समय में श्री दुलारेलाल भार्गव, पं० किशोरीदास वाजपेयी, श्री नाथूराम माहौर आदि कई सज्जनों ने ब्रजभाषा में मुक्तक काव्य की अच्छी रचना की है। प्रबन्ध काव्य में श्री हरदयालुसिंहजी का 'दैत्यवश' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें रघुवश के अनुकरण में दैत्य राजाओं का वर्णन है। यद्यपि दैत्यवंश में भी बलि और प्रहलाद जैसे श्लाघनीय चरित्र के राजा हो गये हैं तथापि दैत्यों के चरित्र को काव्य का विषय बनाना इस युग की स्वातन्त्र्य-प्रवृत्ति

का द्योतक है। इस काव्य की शैली परम्परा मुक्त होते हुए भी इस युग के व्रजभाषा काव्य के लिए यह अच्छी देन है। यह पुस्तक देव पुरस्कार से सम्मानित हो चुकी है। श्री वचनेशजी का 'शबरी' नामक खण्ड काव्य समयानुकूल है।

मथुरा में व्रजभाषा की प्राचीन परम्परा के अनुभवी कवियों का अच्छा समूह है। स्वर्गीय कविरत्न नवनीत चतुर्वेदी के सुपुत्र गोविन्द दत्त जी और श्री रामललाजी अच्छी कविता करते हैं। श्री गोविन्दजी की 'व्रजवानी' नामक छोटी सी पुस्तक व्रज साहित्य मण्डल द्वारा श्रीनिवासदास पुरस्कार से सम्मानित हुई है। ओरछा नरेश द्वारा प्रदत्त देव पुरस्कार से इस काल में भी व्रजभाषा की अच्छी श्री वृद्धि हुई—खेद है अब यह पुरस्कार बन्द हो गया है।

खड़ी बोली पद्य

मेरठ, देहली के आस-पास की जनता की बोली के रूप में खड़ी बोली बहुत दिन से चली आती है। उर्दू की यही जननी है। मुसलमानों ने इसे बनाया नहीं था वरन् इसे अपना कर उसको उर्दू का रूप दिया था। इसकी आकारान्त प्रवृत्ति का पूर्व रूप 'भल्ला हुआ जु मारिया बहिण म्हारा कन्त' जैसे अपभ्रंश काव्य में भी मिलता है। इसके पश्चात् कबीर, खुसरो, रहीम आदि की कविताओं में भी खड़ी बोली को स्थान मिलता रहा, किन्तु व्रज और अवधी के साथ कृष्ण और राम के पवित्र नामों का जो स्वाभाविक आकर्षण लगा हुआ था, वह इसमें न था। साहित्यिक गद्य में इसका प्रचार न था। वास्तव में जब गद्य ही नहीं तब वहाँ खड़ी और पड़ी कहाँ से आती?

जब लल्लूलालजी आदि ने इसमें गद्य-रचना आरम्भ की (उन्होंने इसको जन्म नहीं दिया) तब से साहित्य-क्षेत्र में इसका अस्तित्व दिखलाई पड़ने लगा। बोलचाल में तो इसने उत्तर भारत में व्यापकता प्राप्त करली थी। बोलचाल की भाषा होने के कारण तथा गद्य और पद्य

की भाषा का भेद मिटाने के अर्थ तथा साहित्यिक मितव्ययता या लाघव के नाते लोगों ने इसको पद्य की भाषा बनाने का पक्ष लिया। खड़ी बोली का झंडा खड़ा करने वालों में मुजफ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री प्रमुख हैं। इन लोगों के उद्योग और प्रभाव से कुछ कवियों ने इसे अपनाया और इसमें बड़ी सुन्दर रचनाएँ कीं। प्रारम्भ में कुछ लोगों (प० प्रतापनारायण मिश्र आदि) ने इसका विरोध किया। क्रमशः यह विरोध कम हुआ और पं० श्रीधर पाठक, राय-देवीप्रसाद 'पूर्ण' और पं० नाथूरामशकर शर्मा आदि ने इसको अपनाया और खड़ी बोली की भी कविता की। इन सब मे पं० श्रीधर पाठक को अधिक श्रेय है। वे ही खड़ी बोली की कविता के जनक कहे जा सकते हैं।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—(संवत् १९२३-९५)

आपने खड़ी बोली में स्वयं भी कविता कर इसका पक्ष लिया और अपनी 'सरस्वती' में खड़ी बोली के कवियों को प्रोत्साहन दिया। प्रारम्भिक समय में खडी बोली के छन्द की भी एक समस्या थी। उस समय के लोगों ने उन छन्दों को जिनमें कि ब्रजभाषा मे कविता होती थी उसके उपयुक्त न समझा। अब उनके लिए तीन मार्ग थे। एक तो उर्दू की शैली का अनुकरण करना क्योंकि उसकी क्रियाएँ उर्दू की क्रियाओं से समानता रखती थीं किन्तु उसके साथ यह कठिनाई भी थी, कि उर्दू की शायरी फारसी-अरबी के छन्द शास्त्रों के नियमों पर चलती थी। दूसरी शैली लावनियों की और तीसरी शैली संस्कृत-छन्दों की थी। तीनों ही शैलियाँ अपनायी गयीं। किन्तु पिछली दो शैलियाँ अधिक प्रचार पागयीं। लावनी-शैली जनता को अधिक-प्रिय थी। संस्कृत-शैली में नियमों की पाबन्दी कड़ी थी किन्तु उसमे तुक के बन्धनों से छुटकारा मिल जाता था और इसके कारण कविगण तुक के लिए भाव का गला घोंटने तथा शब्दों की तोड़-मरोड़ से बच

जाते थे। संस्कृत छन्दों मे संस्कृत के तत्सम शब्दों और समासों के लिए अधिक गुञ्जायश थी। खड़ी बोली की कविता में व्रजभाषा की भाँति शब्दों को तोड़ने की प्रवृत्ति न थी।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी संस्कृत छन्दों के बड़े हिमायती थे। इन्होंने इस सम्बन्ध में कई लेख लिखे और स्वयं भी संस्कृत-छन्दों में कविता की। सस्कृत-छन्दों के अपनाने से कविता ने अपने बन्धनों से मुक्ति प्राप्त करने मे एक कदम आगे बढ़ाया। संस्कृत-छन्दों में लिखी हुई आचार्य द्विवेदीजी की एक कविता का कुछ अंश नमूने के तौर पर दिया जाता है।

सुरम्यरूपे रसराशिरञ्जिते
विचित्र-वर्णाभरणे! कहाँ गई?
अलौकिकानन्द-विधायिनी महा,
कवीन्द्रकान्ते, कविते! अहो कहाँ

× × × ×

सुरम्यता ही कमनीय कान्ति है,
अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे!
शरीर तेरा सब शब्द मात्र है।
नितान्त निष्कर्ष यही, यही, यही॥

इस संस्कृत शैली को पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने सफलतापूर्वक अपनाया। द्विवेदी जी की कविता में इतिवृत्तात्मकता अधिक थी। उन पर कुछ महाराष्ट्र का भी प्रभाव था। काव्य के लिए जैसी उन्माद के निकट आने वाली तन्मयता चाहिए वैसी उनमें न थी। द्विवेदीजी का महत्व उनके कवि होने में उतना नहीं है जितना कि कवि-निर्माता होने में। गुप्तजी आदि कवियों ने उनका ऋण मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया है। देखिए—

करते तुलसी भी कैसे मानस-नाद।
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद॥

उपदेशात्मकता उस समय की प्रवृत्तियों मे से थी। आर्य-समाज और राष्ट्रीय उत्थान इस बात के लिए कुछ अंशों में उत्तरदायी है। पण्डित नाथूराम शङ्कर शर्मा में आर्य समाज के ही प्रभाव से उपदेशात्मकता का प्राचुर्य था। इस प्रवृत्ति का प्रभाव तत्कालीन उपन्यासों में भी दिखाई देता है। रीतिकाल की प्रतिक्रिया स्वरूप भी उपदेशात्मकता स्वाभाविक थी। हिन्दी उस समय अन्य प्रान्तीय भाषाओं से टक्कर लेना चाहती थी और अपनी श्रेष्ठता दिखाने का यह सुलभ मार्ग था। कलात्मकता आने में देर लगती है।

अब हम खड़ी बोली के प्रारम्भिक और मध्य युग के कवियों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

पण्डित श्रीधर पाठक (संवत् १६१६—१६८५)

इनकी लेखनी ब्रजभाषा में सिद्ध हो चुकी थी, उसके पश्चात् इन्होंने खड़ी बोली में कविता करना आरम्भ किया। माधुर्य लाने के लिए खड़ी बोली में इन्होंने यत्र-तत्र ब्रजभाषा के त्यौं, सौ, तिहुँ, पावै, जानै आदि शब्दों का प्रयोग किया है। पाठकजी ने संवत् १६३१ मे लावनी की तर्ज का लिखा हुआ 'एकान्तवासी योगी' नाम का खड़ी बोली का पद्य-ग्रन्थ निकाला। इनकी दूसरी पुस्तक का नाम 'श्रान्त पथिक' है जो कि गोल्ड स्मिथ के (Traveller) का अनुवाद है। इसकी रचना रोला छन्द में हुई है। 'ऊजड़ गाँव' (Deserted Village) का अनुवाद इन्होंने ब्रजभाषा मे लिखा है।

पाठकजी ने कई प्रकार के नवीन छन्दों की रचना की है, कुछ अतुकान्त छन्द भी लिखे हैं। आप प्रकृति के परमोपासक थे और प्रकृति की मनोरम क्रीड़ा-स्थली काश्मीर भूमि की प्रशंसा में 'काश्मीर सुषमा' नाम की छोटी-सी पुस्तक लिखी है, जिसमें कि हम प्रकृति के आलम्बन रूप वर्णन का प्रयास देखते हैं। पाठकजी में राष्ट्रीय भावना भी पर्याप्त मात्रा में थी। आपके राष्ट्रीय गीत 'भारत गीत' में संग्रहीत हैं। यहाँ पर पाठकजी की कविता के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

इस पर्वत की रम्य तटी में, मैं स्वच्छन्द विचरता हूँ,
परमेश्वर की दया देख के पशु-हिंसा से डरता हूँ।
गिरिवर ऊपर की हरियाली झरना जल निर्दोष,
कन्द मूल फल फूल, इन्हीं से करूँ क्षुधा सन्तोष।
उसी भाँति सांसारिक मैत्री केवल एक कहानी है,
नाम मात्र से अधिक आज तक, नहीं किसी ने जानी है।
जब तक धन-सम्पदा प्रतिष्ठा अथवा यश-विख्याति,
तब तक सभी मित्र, शुभचिन्तक, निजकुल बांधव जाति।

—एकान्तवासी योगी

सांध्य अटन—नीचे के उद्धरण में अतुकान्त कविता की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

प्रसव के काल की लालिमा मे ल्हिसा,
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य-उत्फुल्ल-अरविंद-नभ नील सु—
विशाल नभ-वृक्ष पर जा रहा था चढा,
दिव्य दिग् नारि की गोद का लाल-सा
या प्रखर भूख की वासना से प्रहित,
पारणा-रक्त रस-लिप्सु अन्वेषण
युक्त या क्रीड़नासक्त, मृगराज शिशु,
स्वर्ण्य गजराज के भाल का साज, या
कर्ण-उत्ताल, या स्वर्ण का थाल-सा

पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा—(सं० १६१६—१६८८)

आपने भी ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में कविता की है। आप आर्यसमाजी थे, इस कारण आपके काव्य में उपदेशात्मकता की मात्रा अधिक है। वह उस युग की एक प्रवृत्ति भी थी किन्तु आपकी उपदेशात्मकता भाषा में चमत्कार के कारण कविता में भार-सी नहीं मालुम होती। शङ्करजी की कुछ शृङ्गारी कविताएँ भी हैं। आपकी

भाषा में कहीं-कहीं ग्रामीण शब्द भी मिल जाते हैं। आपकी लिखी हुई वियोग शृङ्गार सम्बन्धी एक कविता देखिए।

'शङ्कर' नदी नद नदीसन के नीरन की,
भाप बन अंबर ते ऊँची चढ़ि जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लौं पल में पिघल कै,
घूम घूम धरनी धुरा सी वढ़ि जायगी॥
झारेंगे अँगारे ये तरनि तारे पारापति,
बारेंगे खमडल में आग मढ़ि जायगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाँहि,
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ि जायगी॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—(१६२२-२००४)

आपने व्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही कविता की है। व्रजभाषा की कविता में आप रीतिकाल के कवि के रूप में आते हैं। आपका 'रसकलस' रीति ग्रन्थों के अनुकरण में लिखा गया है किन्तु उसकी भूमिका गद्य में होने के कारण अधिक मार्मिक और विवेचनात्मक है। इसके अतिरिक्त आपने व्रजभाषा में और भी बहुत-सी कविताएं की हैं जो उच्चकोटि की अवश्य हैं, किन्तु उनके कारण साहित्य में कुछ नई चीज नहीं आई। आपका मुख्य ग्रन्थ खड़ी बोली संस्कृत छन्दों में 'प्रिय-प्रवास' के रूप में आया है। वही आपका कीर्ति स्तम्भ है। आपने खड़ी बोली की कविता उर्दू बहरों के प्रणाली में भी की है।

बात कैसे बता सके तेरी
है मुँह में लगे हुए ताले।
बावले बन गये न बोल सके
बाल की खाल काढ़ने वाले।

इस शैली से व्यापकता अवश्य आ जाती है। इसको हिन्दू-

मुसलमान दोनों समझ सकते हैं किन्तु हिन्दी के व्यक्तित्व के जाते रहने का भय रहता है। आकार का बड़ा प्रभाव पड़ता है। उर्दू के आकार में हिन्दी भी उर्दू सी हो जाती है। इस प्रभाव से बचने के लिए तथा तुक से छुटकारा पाने के अर्थ संस्कृत-छन्दों का प्रयोग किया गया। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, द्विवेदीजी ने इस प्रवृत्ति को अधिक प्रोत्साहन दिया।

कुछ स्वामी दयानन्द के प्रभाव से और कुछ जातीयता की प्रेरणा से संस्कृत का अधिक प्रचार हो चला—क्योंकि संस्कृत में जातीय संस्कृति शर्करावेष्टित फलों या मुरब्बे की भाँति सुरक्षित थी। संस्कृत के वर्ण वृत्तों का व्यवहार होने लगा। फलतः तुक से तो स्वतन्त्रता मिल गयी, किन्तु वर्णों के नाप-तोल का बन्धन मात्रिक छन्दों से भी बढ़ गया। कविवर सुमित्रानन्दन पन्त के शब्दों में यह कहना ठीक होगा कि वर्णवृत्त ऐसे समास, सन्धि और विभक्ति-प्रधान शब्दों के लिए ही उपयुक्त है जो कि एक दूसरे के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर ठसे हुए चलते हैं। इन छन्दों का फल यह होता है कि क्रिया केवल हिन्दी की रह जाती है और लम्बे-लम्बे समासयुक्त शब्द संस्कृत के होते हैं। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय में यह प्रवृत्ति पूरी तौर से देखने में आती है। उनका 'प्रिय-प्रवास' कहीं-कहीं बिलकुल संस्कृत का सा ग्रन्थ हो गया है। देखिए—

रूपोद्यानप्रफुल्लप्रायकलिका राकेन्दुबिम्बानना।
तन्वङ्गी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला पुत्तली॥
शोभावारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य-लीलामई।
श्री राधा मृदु-भाषिणी मृगदृगी माधुर्य सन्मूर्ति थी॥

इस शैली में इतना गुण अवश्य है कि ऐसी रचनाएँ महाराष्ट्र, बङ्गाल, गुजरात आदि संस्कृत प्रधान भाषा-भाषियों की समझ में सुगमता के साथ आ सकती हैं। हिन्दी-छन्दों में शब्दों को क्रीड़ा और नर्तन के लिए बहुत गुञ्जायश रहती है। खड़ी बोली की संस्कृत

छन्दोबद्ध कविता में यद्यपि शब्द तोड़े-मरोड़े नहीं जाते तो भी वृत्त पूर्ति के लिए भरती के शब्द अवश्य लाने पड़ते हैं। उपाध्यायजी को भी ऐसा करना पड़ा है। हिन्दी के छन्दों मे शब्दों की चपलता और सुन्दरता स्थित रह सकती है। उपाध्यायजी ने तीनों प्रकार की कविता की है। उनके 'रस-कलस' को देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि वह 'प्रिय-प्रवास' के लेखक की रचना है और चौपदों आदि व मुहावरों की भाषा 'प्रिय-प्रवास' की सस्कृत-गर्भित भाषा से प्रभावित नहीं दिखलायी पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने दिमाग के तीनों खाने अलग रखते थे।

उपाध्यायजी के 'प्रिय-प्रवास' में करुण विप्रलम्भ शृङ्गार और वात्सल्य के वियोग पक्ष का प्राधान्य है। श्रीकृष्ण भगवान जाति के लोक-प्रिय नेता के रूप में आते हैं। इस ग्रन्थ में कृष्ण-भक्ति शाखा एक नये रूप मे पल्लवित हुई है। श्रीकृष्ण में लीला और विलास की अपेक्षा कर्तव्य-बुद्धि अधिक है। थोड़ा बहुत वीर-पूजा का भी पुट आ गया है। 'प्रिय-प्रवास' की राधा भी दुखी जनों के लिए आर्द्र हृदया है और उनमें सेवा-भाव भरा हुआ है। उनका वैयक्तिक प्रेम अपने आधिक्य के कारण विश्व-प्रेम में समुन्नत हो जाता है—

पाई जाती विविध जितनी वस्तु हैं जो सबों में।
मैं प्यारे को अमित-रग औ रूप में देखती हूँ॥
तो मै कैसे न उन सब को प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय तल में विश्व का प्रेम जागा॥

उद्धव, सूर और नन्ददास की गोपियों को जो उपदेश देना चाहते थे उस ज्ञान में उपाध्यायजी की राधाजी पहले ही से दक्ष थीं।

उपाध्यायजी और गुप्तजी दोनों ही महाकवि प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए अपने काव्य में नवीन भाव लाकर अपनी कृतियों को समयानुकूल बनाते हैं। 'रस-कलस' में प्राचीन नायिकाओं के साथ 'देश-प्रेमिका', 'धर्म-सेविका' आदि नायिकाओं का

भी वर्णन मिलता है। 'प्रिय-प्रवास' में गिरि गोवर्द्धन धारण को एक दूसरा ही रूप दिया गया है। गिरिराज का उँगली पर उठाना वास्तविक रूप से नहीं वरन् अलङ्कारिक रूप से माना गया है जो बीसवीं शताब्दी के लोगों के लिए अधिक ग्राह्य है। 'प्रिय-प्रवास' में विरहणी राधा मेघदूत की भाँति पवन को श्रीकृष्ण के पास दूत बनाकर भेजती है।

'प्रिय-प्रवास' में श्रीकृष्ण की लीलाओं का वर्णन अप्रत्यक्ष रूप में आया है। यदि प्रत्यक्ष रूप से आता तो अधिक रस-परिपाक होता। इसमें घटनाएँ विप्रलम्भ-शृङ्गार या वात्सल्य के अङ्ग-भूत होकर आयी हैं। 'प्रिय-प्रवास' में मानवी प्रकृति के अतिरिक्त वाह्य प्रकृति का भी अच्छा वर्णन आया है। यद्यपि वे व्रज की वृक्षावली गिनाते हुए देश विरुद्ध दूषण में पड़ जाते हैं, और केशव की भाँति सभी अच्छे-अच्छे वृक्षों का नाम गिना जाते हैं, तथापि उनके संध्या-वर्णन, वसन्त-वर्णन बहुत अच्छे हैं। 'प्रिय-प्रवास' में अलङ्कारों की भी अच्छी छटा दिखलाई पड़ती है। संस्कृत के छन्दों की पूर्ति के लिए उपाध्यायजी की प्रतिभा का पूर्ण विकास हम 'प्रिय-प्रवास' में ही देखते हैं। खेद है कि वे हिन्दी साहित्य की वैसी दूसरी पुस्तक न दे सके। उपाध्यायजी के इस काव्य से खड़ी बोली की बड़ी प्रतिष्ठा हुई। यह पुस्तक मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित हो चुकी है। पारितोषिक के बिना ही वह जनता में सम्मानित थी। उत्तर-काल में उपाध्याय जी का 'वैदेही-बनवास' नाम की एक और कृति प्रकाशित हुई। इसका भी कथा भाग कुछ आधुनिकता लिए हुए है। इस पर शान्तिमय उपायों द्वारा हृदय-परिवर्तन की गान्धीवादी नीति का प्रभाव है। श्री रामचन्द्रजी प्रजा को सन्तुष्ट करने में इसी नीति का पालन करते हैं। उपाध्यायजी ने जानकीजी को बन में धोके से नहीं भिजवाया है वरन् उनको लोकापवाद की बात अवगत करादी गई है और वे प्रजा के अनुरञ्जन के अर्थ प्रसन्नता से वहाँ गई हैं। यह इस

युग के नारी-गौरव का प्रभाव है। प्रकृति चित्रण में जो नाम-परिगणन की प्रवृत्ति प्रिय-प्रवास में है वह इसमें नहीं है। इसके वर्णन बड़े संश्लिष्ट और आकर्षक हैं। इसमें हिन्दी के छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसकी भाषा संस्कृत गर्भित है किन्तु प्रिय-प्रवास से कम।

मैथिलीशरण गुप्त—(जन्म संवत् १९४३)

श्री मैथिलीशरणजी गुप्त वर्तमान युग के प्रतिनिधि कवि हैं। उनमें राष्ट्रीयता की छाप पूरी तौर से दिखलाई पड़ती है। उनकी प्रारम्भिक काल की कविताएँ पूर्णतया राष्ट्रीय हैं। उनमें विशेषकर 'भारत-भारती' की कविताओं मे प्राचीन-काल की गौरवान्वित अवस्था की वर्तमान अवस्था से तुलना करके भविष्य के लिये आशा का सन्देश दिया गया है। गुप्तजी भक्त होते हुए भी बड़े समाज-सुधारक हैं। 'हिन्दू' नाम की पुस्तक में ये उपदेशक के रूप मे दिखलायी पड़ते हैं। उनका 'जयद्रथ-वध' बड़ा सुन्दर खण्ड-काव्य है, उसमें राजनीतिक सिद्धान्तों का काव्य-मय वर्णन हुआ है। अनघ' के मघ में एक दृढव्रती-ग्राम-सुधारक के दर्शन होते हैं जो अपने प्रण के लिए सहर्ष आपत्तियों को सहन करता है। इस युग में दुखों का सहना ही सच्ची वीरता है। मघ की प्रेयसी भी सुखी नहीं होना चाहती है—

इष्ट मुझे है वही सहूँ शत दाह मैं,
चैन न पाऊँ, करूँ न फिर भी आह मैं।

वर्तमान देश-सुधारक का इससे पुनीत और कौन सा व्रत हो सकता है। गुप्तजी की 'झङ्कार' में आध्यात्मिक कविताओं का संग्रह है, 'झङ्कार' की कविताएँ रहस्यवाद की कविताएँ कही जा सकती हैं। गुप्तजी के रहस्यवाद में भावना और अनुभूति की पर्याप्त मात्रा होते हुए भी अस्पष्टता कम है। उनके रहस्यवाद में हम वैष्णवों की भक्ति-भावना का अधिक परिचय पाते हैं।

गुप्तजी की प्रतिभा का पूर्ण विकास हम 'साकेत' और 'यशोधरा' में देखते हैं। 'साकेत' में लक्ष्मण और उर्मिला को प्रधानता दी

गयी है, किन्तु उनका जीवन राम के ही आश्रित है। इसलिए पुस्तक का नाम नायक-नायिकाओं के ऊपर न रह कर श्री रामचन्द्र की विलास भूमि अथवा कर्तव्य-भूमि 'साकेत' के नाम पर रक्खा गया है। साकेत ही कथा का केन्द्र रहा है। राम के विवाह के पूर्व की घटनाएँ उर्मिला के विरह-गान में स्मृति रूप से वर्णित हैं और बनवास के पश्चात् की कथाएँ कुछ तो हनूमानजी द्वारा कहला दी गई है और कुछ वशिष्ठजी ने योगवल से अयोध्यावासियों को दिखा दी हैं। प्रिय-प्रवास की भाँति 'साकेत' में स्मृत रूप से आये वर्णनों में वीर-आदि रस विप्रलम्भ शृङ्गार के अङ्गभूत होकर आये हैं। चित्रकूट में सारा साकेत पहुँच गया था। साकेत को वर्णन का केन्द्र बनाकर एक प्रकार से उर्मिला को मुख्यता दी गई है क्योंकि वह वहीं रहती थी। सभी पात्रों ने उर्मिला के त्याग की प्रशंसा कर उसकी महत्ता बढ़ाई है। उर्मिला का चरित्र राम-कथा में अनुस्यूत रह कर भी मुख्यता को प्राप्त हुआ है। 'साकेत' में राम के वर्णन से लक्ष्मण के नायकत्व में अन्तर नहीं आता क्योंकि लक्ष्मण की कथा राम के बिना नहीं चल सकती और लक्ष्मण का गौरव भी राम के अनुचरत्व में है।

'साकेत' के आरम्भ में लक्ष्मण और उर्मिला का जीवन बड़ा हास-विलास पूर्ण दिखलाया गया है। उससे लक्ष्मण और उर्मिला के त्याग की मात्रा और भी बढ़ जाती है। भाई का निःस्वार्थ सेवा के लिए इतने सुन्दर गार्हस्थ्य जीवन का त्याग, राज्य त्याग से कुछ कम नहीं है। स्त्री के प्रेम के लिए सम्राट एडवर्ड अष्टम ने साम्राज्य छोड़ा तो बीरव्रती लक्ष्मण ने सेवा धर्म पालने के अर्थ प्रेयसी के प्रेम और हास-विलास की अवहेलना कर स्वेच्छा से वनवास ग्रहण किया। कितना अपूर्व त्याग!

गुप्तजी ने 'साकेत' में कैकेयी के चरित्र को रामचरित मानस की

कैकेयी की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठा दिया है। यद्यपि रामचरित मानस में भी कैकेयी के पछताने का उल्लेख है—'कुटिल रानि पछितान अघाई' तथापि साकेत में उसका पश्चात्ताप भरत के पश्चात्ताप से भी बढ़ जाता है—"युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी। रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी" कौशल्या भी राम के प्रति कैकेयी स्नेह का उल्लेख कर उसकी ग्लानि को दूर कर देती है। उसी के साथ यह मानना पड़ेगा कि गुप्तजी ने लक्ष्मण का चरित्र कुछ गिरा दिया है। उनके द्वारा कैकेयी के लिए 'अनार्या की जनी' कहा जाना रघुकुल की शालीनता के विरुद्ध है। रामचन्द्रजी का चरित्र कर्तव्य परायण होते हुए भी शुष्क और नीरस नहीं है। चित्रकूट में गुप्तजी ने सीता के पारिवारिक जीवन के सहवास सुख की अच्छी झाँकी दिखाई है।

गुप्तजी और गोस्वामीजी के 'मानस' के राम में एक और अन्तर है। तुलसी के राम मनुष्य रूपमें भी ब्रह्म हैं, और गुप्तजी के राम ब्रह्म होते हुए भी मनुष्य हैं। वे ससार में देवताओं के हित के लिए इतने नहीं आये जितने कि संसार में मानवता के प्रसार के लिए—

"मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बल हीन, दीन शापित हैं।
सन्देश यहाँ मै नहीं स्वर्ग का लाया
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

साकेत के राम आर्य संस्कृति के अग्रदूत हैं—

'मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।'

साकेत की सांस्कृतिकता और उसके नायक का एक विशेष सस्कृति के प्रचारक के रूप में आना उसके महा काव्यत्व को पुष्ट करता है।

'साकेत की मन्थरा रामचरितमानस की मन्थरा की भाँति वाकपटु और वाचाल तो नहीं है, किन्तु वह 'भरत से सुत पर भी

सन्देह' कह कर गहरी चोट मारती है। वही बात कैकेयी के मन में जम जाती है।

वर्तमान युग में प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा मुक्तक काव्य की ओर अधिक प्रवृत्ति है। प्रबन्ध काव्य प्राचीन भावनाओं के अधिक अनुकूल पड़ता है क्योंकि उसमें कवि अपने व्यक्तित्व को छिपाये रख कर दूसरों के भावों का उद्घाटन करता है। नवीन युग में व्यक्तित्व का अधिक महत्व है। आधुनिक कविगण अपने व्यक्तित्व को छिपाते नहीं हैं। इसके अतिरिक्त मुक्तक काव्य, उतावलेपन की प्रवृत्ति के अधिक अनुकूल है, किन्तु प्रबन्ध-काव्य में कल्पना की जो सार्थकता रहती है, वह मुक्तक काव्य में नहीं है। प्रबन्ध काव्य में कल्पना एक सहारे से चलती है, वह आकाश कुसुम-सी निराश्रय नहीं रहती। प्रबन्ध काव्य में भाव घटना के साथ चलते हैं और घटना एवं भावों के तारतम्म में सामञ्जस्य रहता है।

गुप्तजी ने 'साकेत' लिखकर वर्तमान युग के प्रबन्ध काव्य सम्बन्धी अभाव को दूर किया है। प्रबन्ध सौष्ठव की दृष्टि से 'साकेत' बहुत अच्छा है, किन्तु उसका नवम सर्ग विरह-वर्णन के बाहुल्य के कारण भाव प्रधान हो गया है। इसमें वर्तमान युग का प्रगीतत्व है। अष्टम सर्ग में आया हुआ सीताजी का 'निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया। मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया' वाला गीत जङ्गल में मङ्गल की भावना दृढ़ करता है। विरह की विषम वेदना की अग्नि में घटना क्रम कुछ द्रव-सा हो जाता है। यद्यपि उर्मिला का विरह उसके त्याग का भी माप है तथापि यदि भाव का पलड़ा अधिक न झुक पाता तो अच्छा ही होता।

'साकेत' में गान्धीवाद के विनत विद्रोह और सरल जीवन का पर्याप्त प्रभाव है। यह ग्रन्थ भी मङ्गलाप्रसाद पुरस्कार द्वारा सम्मानित हुआ है।

'यशोधरा' में नारी के सच्चे त्याग का आदर्श दिखाया गया है।

नीचे के शब्दों में नारी-जीवन का महत्व कितना सुन्दर बन पड़ा है—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी ॥

इन दो पंक्तियों में यशोधरा की सारी जीवन गाथा का सार आ जाता है यशोधरा में आँचल के दूध के रूप में राहुल के प्रति वात्सल्य है और आँखों के पानी के रूप में वियोगिनी की गर्वमयी वेदना है। यशोधरा को इस बात का दुःख नहीं है कि वे वन को चले गये वरन् इसका कि वे उसे पथ-बाधा समझकर उससे बिना कहे चले गये—

सखि, वे मुझसे कह के जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते !

यही है वर्तमान युग की नारी का गौरव।

भाषा और शैली—गुप्तजी की भाषा शुद्ध और बड़ी परिमार्जित है। संस्कृत-गर्भित होते हुए भी प्रसाद गुण से पूर्ण है। गुप्तजी ने कहीं-कहीं व्रजभाषा के शब्दों का भी प्रयोग किया है। वह सर्व साधारण-गम्य होती हुई भी उर्दू की ओर अधिक नहीं झुकी है। गुप्तजी की भाषा ने मध्य मार्ग अनुसरण किया है। आपने भी नये छन्दों का ही निर्माण किया है। साकेत में कहीं-कहीं तुक के मोड़ में शब्दों को विकृत कर दिया है जैसे प्रति का प्रती और कहीं-कहीं भर्ती के साधारण कोटि के शब्द ले आये हैं। अलङ्कारों का प्रयोग आपने बड़ा कौशलपूर्ण किया है। प्राचीन ढङ्ग के भ्रान्ति, तद्गुण, श्लेष आदि अलङ्कारों के साथ इसमें नवीन ढङ्ग के प्रभाव साम्य तथा मूर्त से अमूर्त की तुलना के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। लक्षणा और व्यञ्जना के सहारे भी गुप्तजी ने अच्छा चमत्कार उत्पन्न किया है। वन गमन के समय नाव में बैठे हुए राम के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि वहाँ नदी में ही बिना किसी बाधा के घर बन गया है और 'गङ्गा में गाँव' की भाँति लक्षणा के प्रयोग की आवश्यकता न रही।

बैठी नाव निहार लक्षणा व्यञ्जना,
'गङ्गा में गृह' वाक्य सहज वाचक बना।

गुप्तजी बङ्गाली भाषा से पद्यानुवाद करने में भी विशेष रूप से सफल हुए हैं। उनके 'मेघनाद वध', 'विरहिणी व्रजाङ्गना' और 'झाँसी का युद्ध' इस बात के प्रमाण हैं।

अन्य कृतियाँ—

'साकेत' और यशोधरा के पश्चात् 'द्वापर' और 'सिद्धराज' नाम की गुप्तजी की दो कृतियाँ निकली हैं। 'द्वापर' में कृष्ण-चरित्र का वर्णन आया है। राम भक्त होते हुए भी गुप्तजी ने कृष्ण-काव्य के प्रति उदासीनता नहीं दिखलाई। (कृष्ण-काव्य की प्रवृत्ति के अनुकूल ही द्वापर मुक्तक रूप में लिखा गया है।) इतना ही नहीं उन्होंने तो बुद्धावतार की भी कथा लिखी है और सिक्ख गुरुओं का भी यश गान किया है। गुप्तजी की राष्ट्रीयता धार्मिक उदारता में परिणत हो जाती है। काबा और कर्बला नाम का इस्लाम धर्म सम्बन्धी भी एक काव्य उन्होंने लिखा है। उसके द्वारा मुसलमानों के साथ हमारी सहानुभूति बढ़ेगी। उसमें करुणा की मात्रा अधिक है। करुणा हमको एक दूसरे के निकट लाती है। नीचे की पंक्ति में एक करुणा भरा चित्र देखिए—हुसैन अपने शत्रुओं से कहते हैं—

'भले मानुसो सुनो वैर मुझसे है तुमको,
कुम्हलाने दो न इस नवीके नवल कुसुम को।
निज हिंसा को लो, हुसैन का माँस खिलाओ,
मेरे रुधिर पिपासु! इसे तो नीर पिलाओ।'

गुप्तजी अपने सम्प्रदाय के कट्टर भक्त हैं, किन्तु उनमें साम्प्रदायिकता नहीं आने पाई है। इतना अवश्य है कि गुप्तजी की जिस प्रतिमा का परिचय 'साकेत' में मिलता है वह 'द्वापर' और 'सिद्धराज' में नहीं दिखाई देती। 'द्वापर' के प्रारम्भ में 'मुझ पर चढ़ने से रहा राम! दूसरा रङ्ग' कह कर उन्होंने अपनी अनन्यता भी स्थिर रक्खी

जीवन रण में डटे रहने का सन्देश है, देखिए—

नहीं पद दलित होने, दबने दाँत दिखाने आये हैं।
कठिन काम करने आये हैं, भार उठाने आये हैं॥
जी न चुराओ जीवन रण से, समर सूरवत डटे रहो।
ईश्वरीय-आदेश यही है निर्बलता से हटे रहो॥
धीर बनो वर वीर बनो।
गम्भीर बनो दृढ़ हृदय बनो॥

स्वभावतः राष्ट्रीय कवियों की भाषा जन साधारण के योग्य होती है क्योंकि यदि वह लोगों की समझ में न आये तो उन पर असर क्या करेगी। पं० माखनलाल चतुर्वेदी (जन्म संवत् १९४५) और 'नवीन' (जन्म सं १९६१) केवल कवि ही नहीं हैं वरन् राष्ट्रीय क्षेत्र के प्रमुख कार्यकर्त्ता भी हैं। उन्हें राष्ट्रीय जीवन का निजी अनुभव है और राष्ट्रीय भावना को बड़े मार्मिक रूप में व्यक्त करने में वे समर्थ हुए हैं। इन दोनों की कविताओं में करुणा की मात्रा है। चतुर्वेदीजी की राष्ट्रीयता शुष्क नहीं है और उसमें बड़ी कोमल भावनाओं का समावेश हो जाता है। उनकी 'पुष्प की अभिलाषा' बड़ी ही सुन्दर चीज है, देखिए—

चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में बिंध, प्यारी को ललचाऊँ
चाह नहीं सम्राटों के शव पर हे हरि! डाला जाऊँ,
चाह नहीं देवों के सिर पर चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ
मुझे तोड़ लेना वनमाली!
उस पथ में देना तुम फेंक॥
मातृ भूमि पर शीश चढ़ाने।
जिस पथ जावें वीर अनेक॥

चतुर्वेदीजी बड़े भावुक भक्त भी हैं। 'हिम किरीटिनी' नाम के उनके

काव्य संग्रह में कुछ कविताएँ परमात्मा को सम्बोधित कर लिखी गयी हैं—

तुम रहो न मेरे गीतों मे
तो गीत रहें किसमें बोलो ?
तुम रहो न मेरे प्राणों में,
तो प्राण कहें किसको बोलो ?
मेरी कसकों में कसक-कसक,
मेरी खातिर बनवास करो।
मेरे गीतों के राजा! तुम,
मेरे गीतों में बास करो!

हाल ही मे 'हिमतरंगिनी' नाम का दूसरा काव्य संग्रह निकला है।

चतुर्वेदीजी की राष्ट्रीय कविताओं में एक करुण कथा रहती है जो उन्हें कोमलता और रसार्द्रता प्रदान करती है। नवीनजी की कविता में कुछ उग्रता दिखाई देती है। उनके विप्लव गान ने काफी ख्याति पायी है। उनकी प्रेम सम्बन्धी कविता में कहीं-कहीं नीति और सदाचार की भी अवहेलना मिलती है यह आधुनिक स्वातन्त्र्य प्रवृत्ति की अतिशयता है। विप्लवगान की कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

कवि कुछ ऐसी तना सुनाओ—
जिसमें उथल-पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए,
एक हिलोर उधर से आए,
प्राणों के लाले पड़ जायँ,
त्राहि-त्राहि रव नभ में छाए,
बरसे आग जलद जल जाएँ
भस्मसात भूधर हो जाएँ,
पाप, पुण्य, सद्सद भावों की
धूल उड़ उठे दाएँ बाँए,

श्री रामनरेश त्रिपाठी—(जन्म संवत् १९४६) ने 'मिलन' 'पथिक' और स्वप्न' तीन खण्ड काव्यों की रचना की है। वे तीनों खण्ड काव्य बड़े मर्मभेदी और हृदय को स्पर्श करने वाले हैं। इनकी भाषा में संस्कृत पदावली का सौन्दर्य दर्शनीय है। स्वप्न में देश-प्रेम और त्याग के उच्च आदर्श हैं और आशावाद का एक अपूर्व सन्देश है—

विघ्न समस्त करें पद-पद पर
मेरे आत्म तेज को जागृत,
निष्फलता मुझको अधिकाधिक
करे सचेष्ट सतर्क दृढ़ व्रत।
पश्चाताप मार्ग दिखलावे,
भय रक्खे चौकसी निरन्तर।
करे निराशा इस जीवन को,
शान्ति-स्वतन्त्र सरल शुचि सुन्दर॥

वर्तमान काल की राजनीतिक कविता मे थोडा अन्तर है। वीर-गाथा काल के वीर-काव्य में राष्ट्रीय भाव न थे। एक राजा का छोटा सा राज्य ही राष्ट्र था। लोग वैयक्तिक गौरव के अधिक भूखे रहते थे, जातीय गौरव उनके लिए अधिक मूल्य नहीं रखता था। भूषण और लाल के समय में वैयक्तिक गौरव की अपेक्षा हिन्दुत्व का गौरव बढ़ गया था। हिन्दुओं की लाज रखने की दुहाई दी जाती थी। वर्तमान युग मे देश की दुहाई दी जाती है। हिन्दू मुसलमान ईसाई सब राष्ट्र के अङ्ग माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त आजकल दूसरों को मारने की अपेक्षा दृढ़ता पूर्वक अत्याचार के सहन करने मे अधिक वीरता समझी जाती है।

श्री श्यामनारायण पांडे—की 'हल्दी घाटी' वीर रस की सुन्दर पुस्तक है किन्तु इसकी राष्ट्रीयता प्राचीन धारा के अनुकूल हिन्दुत्व की है। इसकी भाषा मे सुन्दर प्रवाह है और उसमे गति के

भड़कीले चित्र उपस्थित हो जाते हैं। महाराणा की तलवार का वर्णन देखिए—

वैरी दल की ललकार गिरी;
वह नागिन-सी फुफकार गिरी।
था शोर मौत से बचो बचो,
तलवार गिरी, तलवार गिरी॥
पैदल से हय दल, गज दल में,
छप-छप करती वह निकल गई।
क्षण कहाँ गई कुछ पता न फिर,
देखो चम-चम वह निकल गई।
क्षण इधर गई क्षण उधर गई॥
क्षण चढ़ी बाढ़-सी उतर गई।
थी प्रलय, चमकती जिधर गई,
क्षण शोर हो गया किधर गई॥

ठा० गोपालशरणसिंह—(जन्म सं० १९४८)

आपकी कविताओं मे प्रेम की साधना का प्रभाव परिलक्षित होता है। 'माधवी' नाम की पुस्तक में आपकी सरस और सुन्दर रचनाओं का संग्रह है। आपकी भाषा सरल और सुबोध है। किन्तु फिर भी आपने बड़े गम्भीर और ऊँचे भावों का समावेश उत्तमता के साथ किया है। आपने खड़ी बोली में कवित्त और सवैये लिखकर उसको प्राचीन काव्य-पद्धति में ढाला है। एक उदाहरण लीजिए—

शरद जुन्हाई-सी है गात की गोराई चारु,
आनन अनूप मानों फुल्ल जलजात है।
किस भाँति कोई कभी यह बतलावे भला,
कब दिन होता और होती कब रात है?
उसमें मिली है प्रभा शशि और सूर्य की भी,
क्या नहीं स्वयं ही सिद्ध होती यह बात है?

किसने न देखी यह रूप-राशि बार-बार,
तो भी अनदेखी वह होती सदा ज्ञात है।

'कादम्बिनी' में आपकी प्रतिभा और भी विकसित हुई है। वर्तमान युग की प्रवृति के अपवाद स्वरूप इस पुस्तक में ठाकुर साहब ने जीवन के सुखमय पहलू को लिया है और प्रकृति का हँसता बोलता रूप देखा है। आप चराचर सृष्टि में एक चिर उल्लास के दर्शन करते हैं। कहीं-कहीं आपकी उक्तियाँ बड़ी अनूठी हैं। ओस को अश्रु विन्दु तो बहुतों ने कहा है किन्तु उसे श्रम बिन्दु थोड़े ही लोगों ने कहा होगा। देखिए चाँदनी के सम्बन्ध में कवि कहता है—

नभ से अवनी पर आने में,
मानो वह भी थक जाती है।
श्रम स्वेद-कणों से ओस विन्दु,
धरती-तल पर टपकाती है।

आपके 'सुमना' नाम के काव्य-संग्रह में गान्धीवाद से सम्बन्ध रखने वाली सेवा और कष्टसहिष्णुता की महत्ता बतलाने की प्रवृत्ति है और फूलों और कलियों का आश्रय लेकर सुन्दर अन्योक्तियाँ दी हैं। घृणा के बदले प्यार का सन्देश देखिए—

तुम सुख समृद्धि की छाँह धरो,
मैं दीन दुखी की बाँह धरूँ,
तुम घृणा करो मै प्यार करूँ।

सियारामशरण गुप्त—(जन्म संवत् १६५२)

सियारामशरणजी ने कथात्मक, भावात्मक और विचारात्मक सभी प्रकार की कविताएँ लिखी हैं। आपकी कथात्मक कविताएँ 'आर्द्रा' में छपी हैं। ये बड़ी करुणापूर्ण हैं। इनमें बड़े सजीव चित्र खींचे गये हैं। 'विषाद' में भावप्रधान कविताएँ हैं। 'पाथेय' में हम कवि को विचारक रूप से देखते हैं। इनकी विचार-पूर्ण कविताओं में आशावाद

भरा हुआ है। घड़ा नीचे रीता जाता है और भरा ऊपर उठता है। कण्टक पथ में आकर पैर में गढ़ जाता है किन्तु वह पथिक को भारी गर्त में गिरने से बचाता है। रात्रि प्रभात को जन्म देती है—

यह क्या हुआ ? दीख पड़ती थी तू तो काली काली।
कहाँ छिपाये थी उस तम में यह अपूर्व उजियाली।

अपने अग्रज की भाँति सियारामशरणजी पर भी गान्धीवाद का पूरा असर है। उनकी 'बापू' नाम की पुस्तक में गाँधीजी का चित्र बड़ा हृदय-प्रेरित और वास्तविक है, देखिए—

इन्धन-रहित शुद्ध अग्नि ज्वाल,
नित्ययुवा तुम हे यशस्वि सुप्रदीप्त भाल।
एकमात्र आत्मवश,
उज्ज्वलित सर्वथैव एकरस,
श्रान्ति नहीं तुमको;
काल की अशान्ति नहीं तुमको॥

सियारामशरणजी ने अपनी नवीन कृति 'उन्मुक्त' में एक कल्पित युद्ध के वर्णन में वर्तमान युद्ध की काली छाया दिखाकर अहिंसावाद का उपदेश दिया है—

हिंसानल से शान्त नहीं होता हिंसानल।
* * *
हिंसा का है एक अहिसा ही प्रत्युत्तर॥

युद्ध का एक भीषण दृश्य देखिए—

युग-युग का श्रमसाध्य, साधना फल वह नर का,
ध्वस्त दिखाई दिया चिकित्सालय, विद्यालय,
पूजालय, गृह-भवन कुटीरों के चय के चय,
गिर कर अपनी ध्वंस-चिताओं में थे जलते,

हाल ही में 'नकुल' और 'नोआखाली' नाम की उनकी दो

छोटी-छोटी काव्य पुस्तकें निकली हैं। नकुल में महाभारत की कथा के आधार पर छोटों का मान देने की बात बताई गई है:—

छोटे के लिए बड़े से बड़ा समर्पण
किया जाय तभी धर्म धन का संरक्षण

नोआखाली में गान्धीवादी नीति के अनुसार यह दिखाया गया है कि मुसलमानों में भी सब लोग बुरे नहीं होते। उसमें रमजानी और कासिम के चित्र बड़े उज्ज्वल हैं।

पुस्तक में नोआखाली के हत्याकाण्ड का जोरदार शब्दों में विरोध है किन्तु न उसमें कटुता आई है न कला का ह्रास हुआ है।

यह घर बुझी चिताओं से है—
गाँव नहीं मरघट यह है,
जीवित दीख रहे जो उनकी
मरण वेदना दुस्सह है।

नवीन युग की नवीन धारा

यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ही समय से युग का अरुणोदय हो गया था, तथापि उस समय में प्राचीन काल की झलक थी। नये युग की भावनाओं को लेकर कविता को भी अपने बन्धन अखरने लगे और वह स्वतन्त्रता की ओर बढ़ी। उपाध्यायजी और मैथिलीशरण गुप्त के समय मे नवयुग का वास्तविक उदय हुआ था। भारतेन्दु युग के लिए तो हम गुप्तजी के शब्दों में यही कहेंगे कि—

सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु देखो रात्रि का जाना हुआ।

पन्त और निराला की कविता में हमको नवयुग के सूर्य की पूर्ण प्रभा में प्रस्फुटित स्वातन्त्र्योन्मुखी रश्मियों का प्रकाश मिलता है। वह

स्वातन्त्र्य प्रवृत्ति छन्द और भाव दोनों में ही है। तुकबन्दी का बन्धन तो उपाध्यायजी-प्रभृति विद्वानों द्वारा संस्कृत छन्दों के प्रयोग से ही जाता रहा था। निरालाजी के हाथ में तो छन्द ने पूर्ण मुक्ति प्राप्त करली है। नवीन कलाकारों के हाथ में कविता छन्द के वर्णों और मात्राओं से नहीं बँधी हुई है। यह उन्मुक्त सरिता की भाँति अपनी ताल और लय के साथ बहती है। उसके लिए यह आवश्यक नहीं कि एक छन्द की सभी पंक्तियाँ बराबर वर्णों या मात्राओं की हों। लोग ऐसे छन्दों को रबड़, केंचुआ या कँगारू छन्द के नाम से पुकारते हैं। यद्यपि यह बात हमको माननी पड़ेगी कि किसी पंक्ति की लय उसके माप पर निर्भर नहीं है तथापि यदि-कम से कम दो पंक्तियाँ एक से माप की हों तो वे हमारे कानों को कुछ अधिक सुखद मालूम पड़ेगी, क्योंकि इसमें श्रवणेन्द्रिय को कुछ कम परिश्रम होगा। ऐसे मुक्त छन्द का एक उदाहरण निरालाजी की 'जुही की कली' से दिया जाता है -

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी—
स्नेही-स्वप्न-मग्न
अमल-कोमल-तनु तरुणी—
जुही की कली,
दृग बन्द किए शिथिल पत्राङ्क में।

छन्द स्वातन्त्र्य के साथ वर्तमान कविता का सङ्गीत के साथ अधिक सम्बन्ध होता जाता है। आधुनिक काव्य में साहित्य, सङ्गीत और कला तीनों का समन्वय रहता है। आजकल गीत भी बड़े सुन्दर और साहित्यिक रचे जाने लगे हैं। प्रचलित लोक-गीतों मे साहित्यिक प्राण फूँक दिये गये हैं। उपमा और रूपक भी नये हैं और शब्द-चित्र भी अच्छे रचे जाते हैं।

कुछ तो अँग्रेजी के आधार पर भाषा में नये अलङ्कार आ गये हैं और कुछ पुराने अलङ्कारों में नवीनता लाई गई है। नये अलङ्कारों में

विशेषण विपर्यय (Transferred Epithet) और मानवीकरण (Personification) मुख्य हैं। विशेषण-विपर्यय का एक उदाहरण लीजिए—'बच्चों का तुतला भय', भय तुतला नहीं होता। तुतला उस भाषा का विशेषण है जिसमें कि भय प्रकट किया जाता है। 'गीले गान' गान 'गीले' नहीं होते। 'गीले' दुखी गायक के नेत्रों का विशेषण है; यहाँ पर यह विशेषण नेत्रों से हटा कर गान में लगा दिया गया है। ऐसे प्रयोगों मे लक्षणा से अर्थ लगाया जाता है। (लक्षणा वहाँ होती है जहाँ मुख्य अर्थ में वाधा पडने पर किसी प्रयोजन या रूढ़ि के आधार पर दूसरा अर्थ लगाया जाता है, जैसे—लाल पगड़िया आती हैं, पगड़ियाँ नहीं चलती वरन् लाल पगड़ी पहिनने वाले पुलिस के सिपाही मिलते हैं। ईंधन खरीदते समय हम पूछते हैं 'क्या गधा दोगे'। हम गधा नहीं खरीदते वरन् उसके ऊपर लदी हुई लकडी खरीदते हैं—यही लक्षणा है)

जहाँ पर मनुष्येत्तर पदार्थों में मनुष्य-का-सा व्यवहार दिखाया जाय वहाँ मानवीकरण (Personification) अलंकार होता है। जुही की कली के लिए 'सोती थी सुहाग भरी' कहना इसी का उदाहरण होगा। 'अभिलाषाओं की करवट फिर सुत व्यथा का जगना' भी इसी के अन्तर्गत है। ऐसे प्रयोगों से भाषा की लाक्षणिकता बढ़ी है और कहीं-कहीं जरूरत से ज्यादा बढ़ गई है।

उपमाओं में परम्परा मुक्त उपमानों के अतिरिक्त नये उपमान आये हैं। अब मूर्त वस्तुओं को अमूर्त से और अमूर्त वस्तुओं को मूर्त से उपमाएँ अधिक दी जाती हैं, जैसे—

१—'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल'।
२—'सजग कल्पना सी साकार'।
३—'इच्छाओं सी आसमान'।
४—'जीवन की जटिल समस्या है बढ़ी जटा-सी कैसी'।

पहले तीन उदाहरणों में उपमेय मूर्त हैं और उपमान अमूर्त, चौथे में इसका उलटा है। आज-कल की उपमाओं में, आकार और धर्म की अपेक्षा प्रभाव के साम्य के उदाहरण अधिक मिलते हैं। वर्तमान युग में शब्दों के साम्य का (जैसे अर्क=सूर्य और अकौवा, वेर=फल विशेष और समय) कम चलन है। मूर्त की अमूर्त से उपमा देने में प्रायः प्रभाव का साम्य आ जाता है क्योंकि उनमें रूप या आकार का सादृश्य तो रहता ही नहीं है, धर्म के साम्य की थोड़ी झलक होती है किन्तु प्रभाव का साम्य अधिक है। 'विखरी अलकैं ज्यों तर्क जाल' तर्क में एक के वाद दूसरी युक्ति निकलती चली जाती है और वे प्रायः एक दूसरी मे उलझी होती हैं। इसमें वहुत्व का, उलझेन का तारतम्य-विस्तार का प्रभाव जो तर्क मे पड़ता है वैसा ही अलकों से पड़ा हुआ वतलाया गया है। 'वन-वाला के गीतों सा निर्जन में फैला है मधुमास'—इसमें भी ऐसा ही प्रभाव साम्य है। निर्जन में दूर से आते हुए गान का जो माधुर्यमय प्रभाव पड़ता है—इसमें है। 'रथ भी मानो एक रिक्त घन था, जल भी न था वह गर्जन था।' इसमे मूर्त की मूर्त से उपमा दी है। वरस कर लौटे हुए बादलों में रिक्तता की समान धर्मता तो है ही किन्तु एक निस्सारता और नैराश्य का प्रभाव साम्य भी है। गरजते हुए और शब्द करते हुए रथ मे हर्ष और उत्साह का प्रभाव होता है। गर्जन शून्य रथ मे उदासी की व्यञ्जना है। यह प्रभाव साम्य कभी प्रतीकों (symbols) के रूप में भी आता है, जैसे सफेदी पवित्रता का प्रतीक है और कालापन दुष्टता का। चाँदनी और अँधेरी-सुख-दुख के प्रतीक हैं। देखिए—

लिपटे सोते थे मन मे, सुख-दुःख दोनों ही ऐसे,
चन्द्रिका अँधेरी मिलती, मालती कुञ्ज में जैसे।

आजकल के काव्य मे शब्द-चित्र भी अच्छे खींचे गये हैं। प्रसाद जी ने तो चिन्ता जैसे अमूर्त पदार्थों के भी शब्द-चित्र खींचे हैं। पन्तजी के छोटे चित्र बड़े ही मोहक हैं, जैसे—निर्झर को मूक,

गिरवर का मुखरित गान' कहना अथवा बापू के लिए 'अस्थिशेष' का प्रयोग।

विषयगत विशेषताएँ—

यह तो रही छन्द और कला की बात! विषय के हिसाब से नवीन युग में पाँच विशेष प्रवृत्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं—

(१) दुःखवाद—इसको चाहे देश की करुणाजनक परिस्थिति की झङ्कार समझा जाय अथवा लोगों की अतृप्त वासनाओं की झांकी, किन्तु वर्तमान कविता में दुःखवाद की मात्रा अधिक है। इसी दुःखवाद को भुलाने के लिए हालावाद अथवा हलाहलवाद चला है। दुःख से निवृत्ति के लिए दुःख को भुलाने वाली हाला की मस्ती चाही जाती है (मुसलमानी राज्य के स्थापित हो जाने पर देश की विवशता ने अपने को ज्ञान और भक्ति के प्रवाह में वहा दिया था) और कभी-कभी इससे बढ़कर संसार का नाश चाहा जाता है और उसके लिए भयङ्कर प्रलयङ्कर का आह्वान किया जाता है। अथवा 'एक वार वस और नाच तू श्यामा' की पुकार लगायी जाती है। संसार ही न रहेगा तो संसार में दुःख कहाँ रहेगा? 'न मरीज रहेगा न मर्ज' वही नवीनजी का 'विप्लव-गान' जिसकी कुछ पंक्तियाँ नवीनजी की कविता के प्रसङ्ग में दी जा चुकी हैं, इसी प्रवृत्ति का उदाहरण हैं। कुछ लोग, जैसे प्रसाद, पन्त आदि अपनी कल्पना के सौन्दर्य में वर्तमान की निराशा को भुला देते हैं। प्रसादजी इसीलिए विस्मृति का भी आवाहन करते हैं। वे अतीत और भविष्य के गीत गाने में शान्ति पाते हैं। पन्तजी कभी तो इस संसार के सरसों से सुख और सुमेरु से दुःख से ऊब कर कहने लगते हैं कि 'शान्ति सुख है उस पार'। (यहाँ घोर नैराश्य की लहर है जो सदा नहीं रहती) कभी वे कहते हैं कि 'मानव जग में वट जावे सुख दुःख से औ दुःख सुख से'। और ये दोनों के मिलन में ही जीवन की—परिपूर्णता देखते हैं। 'सुख दुःख के मधुर मिलन में यह जीवन हो परिपूरन'।

वे वर्तमान में भी पर्याप्त सुख का दर्शन करते हैं। सुश्री महादेवी वर्मा दुःख को ही सुख मानकर मग्न रहती हैं, उन्होंने उसे ही अपना आराध्य बनाया है। अब प्रगतिवाद में यह दुःखवाद आसमान से उतर कर पृथ्वी पर आगया है और अब उसमें पीड़ित मानवता का करुण क्रन्दन और हाहाकार सुनायी पड़ता है।

दुखःवाद के साथ छायावादी कविता में जो पलायनवाद आगया था वह भी अब दूर होगया है। प्रसादजी की कामायनी में श्रद्धा-मनु में आशा का सञ्चार कर उसे कार्यक्षेत्र में उतरने का उपदेश देती है। महादेवी, निराला, पन्त आदि में भी आशावादी स्वर सुनाई पड़ता है।

(२) **मानव-गौरव और व्यक्तिवाद**—नवीन युग मे मनुष्य का मूल्य बढ़ गया है, धर्म और राजनीति ने जिस दलित मानवता को दबा रखा था वही अब ऊपर उठ गई है। केवल राजा-महाराजाओं के ऊपर ही आजकल कविता नहीं होती वरन् 'इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी' विधवा और पेट पीठ एक किये हुए, लकुटिया टेके हुए, मुँह फटी पुरानी झोली को फैलाने वाला भिक्षुक भी काव्य का विषय बन जाता है। लोग अब भगवान् के दर्शन देवालयों में न करके मजदूरों की तपोभूमि में करते हैं। अब तो प्रगतिवाद में शोषितों और पीड़ितों को ही पूजा का विषय माना जाता है। पुराने मान बदल गये हैं। देखिए:—

जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव-मुख हरता मन।
मूढ़ असभ्य और दूषित ही हैं भू के उपकारक॥

इस युग मे व्यक्तिवाद को आश्रय मिला। व्यक्ति समाज से दब कर नहीं, वरन् अपना अस्तित्व बनाये रख कर सहयोग देना चाहता है। उभरे हुए व्यक्तिवाद के कारण नवीन युग के काव्य में मुक्तक का चलन बढ़ा। अब प्रगतिवाद के प्रभाव से व्यक्तिवाद सामूहिकता की ओर झुकता जाता है। व्यक्ति की मुक्ति की अपेक्षा सामूहिक मुक्ति की माँग की जाती है।

सी है। इसी प्रवृत्ति को 'छायावाद' के नाम से पुकारा जाता है। प्रकृति प्रेम के साथ देश-प्रेम भी मिला हुआ है अथवा यों कहिये कि देश के प्राकृतिक स्थलों के प्रति स्वाभाविक अनुराग हो जाता है। भारत की गौरव गरिमा गाने में 'अम्बर चुम्बित भाल हिमाचल' का भी वर्णन आ जाता है। भारत प्राकृतिक सौन्दर्य के उल्लास से प्रेरित प्रसादजी का यह गीत स्मरणीय रहेगा—

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस-गर्भ-विभा पर नाच रही तरु शिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर, मङ्गल कुकुम सारा।

अञ्चल जैसे प्रगतिवादी कवि प्रकृति से ऊबते जाते हैं किन्तु पन्तजी का प्रकृति-प्रेम अक्षुण्ण है।

(५) आत्माभिव्यञ्जना।—आजकल की कविता कुछ-कुछ अन्तरमुखी होती जा रही है। घटनाओं के वर्णन की अपेक्षा आन्तरिक भावों की अभिव्यञ्जना अधिक है। पहला कवि अपने भगवान में अथवा अपने काव्य के नायक में, जो चाहे मनुष्य हो या देवता, अपना व्यक्तित्व समर्पित कर देता था। आजकल स्वतन्त्रता के युद्ध में सभी बड़े हैं। नाइयों की बरात की भाँति इस युग में सभी ठाकुर हैं। कोई किसी से पीछे नहीं। इस व्यक्तित्व प्राधान्य के कारण आजकल की कविता मुक्तक की ओर झुकी हुई हैं। इसके मूल में भी जीवन के प्रति कुछ असन्तोष की भावना छिपी है। बाहर से ऊब कर ही लोग भीतर की ओर झुकते हैं। सन्त कवि ससार से स्वेच्छा से विरक्त हुए थे, आजकल के लोग ठोकरें खाकर-असन्तोष के कारण। प्राचीन लोग संसार को असार मानकर उसका त्याग करते थे, चाहे उसके त्याग से भी राजनैतिक असफलता है। आजकल का त्याग खट्टे अंगूरों वाली लोमड़ी का सा है। 'तिया मुई, धन सम्पति नासी, मूड़ मुड़ाय भये

संन्यासी'। किन्तु फल एक ही है—वाह्य की अपेक्षा अन्तर में सुख और शान्ति की खोज। प्रगतिवाद के प्रभाव से अब यह प्रवृत्ति भी कम होती जाती है।

आजकल की कविताएँ कुछ व्यक्तित्व को लिए हुए हैं। यह वात उसे रीतिकाल की कविता से पृथक कर देती है। (क्योंकि रीतिकाल की कविता खानापूरी मात्र थी और उसमें व्यक्तिगत तिभा के लिए कम गुञ्जाइश थी) भक्तिकाल मे प्रतिभा की तो गुञ्जाइश थी किन्तु उस काल में कवि लोग अपने इष्टदेव के आगे अपने व्यक्तित्व को नगण्य समझते थे। व्यक्ति का मान जैसा वर्तमान युग में हुआ वैसा और किसी में नहीं। इस प्रवृत्ति के द्वारा आजकल के काव्य में जीव और ईश्वर के सम्बन्ध के रहस्यवाद की झङ्कार सुनाई पड़ती है।

आचार्य शुक्लजी के मत से छायावाद और रहस्यवाद में पाँच प्रभाव लक्षित होते है—

१—द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता से (विना भावुकता के बात को जैसा का तैसा कह देना—इसे अंग्रेजी में Matter of factness कहते हैं) ऊवे हुए मन की प्रतिक्रिया, २—अँग्रेजी के भाव प्रधान गीत, ३—भक्त कवियों के गेय गीत, ४—उर्दू शायरी ५—रवीन्द्र वावू की गीताञ्जलि।

श्री जयशङ्कर प्रसाद—(सं० १९४६—१९९४)

प्रसादजी छायावाद और रहस्यवाद के प्रथम प्रवर्तकों में अग्रगण्य हैं। द्विवेदी युग के पश्चात् जो नया युग चला, वह उनसे ही प्रारम्भ होता है। प्रसादजी की कविता की तीन मान्य प्रवृत्तियाँ हैं। (१) वैयक्तिक तथा ईश्वरोन्मुख प्रेम, (२) प्रकृति प्रेम और (३) प्राचीन गौरव। आपकी कविताओं मे प्रेम की पीड़ा अधिक दिखलाई देती है। आपका प्रेम लौकिक से अलौकिक की ओर जाने वाला है।

आपके वर्णनों में एक रहस्योन्मुखी भावना रहती है। वर्णन पार्थिव होते हुए भी स्वर्ग की ओर संकेत करते हैं। आपके प्रेम का विषय एक अव्यक्त भावना ही है जो कि नाना रूपो मे इस संसार मे व्यक्त होती रहती है और व्यक्तित्व-शून्य होती हुई भी साधक से विशेष सम्बन्ध रखती है। देखिए—

प्राची के अरुण मुकुर में
सुन्दर प्रतिबिम्ब तुम्हारा।
उस अलस उषा में देखूँ,
अपनी आँखों का तारा।

आप प्रेम की वेदना को बड़ा महत्व देते हैं और दुख मे ही सुख देखना चाहते हैं। तुलसीदास की तरह आप भी प्रेमपिपासा का बढ़ना पसन्द करते हैं देखिए—

प्यास कैसी तुम्हारी पपीहा!
कम न होकर बढ़ी जा रही है,
लो वही कह रहा—
पी! कहाँ? पी! कहाँ?

आपके काव्य पर बौद्ध धर्म का बहुत प्रभाव है और उनके दुःखवाद की थोड़ी झलक भी उसमें दिखाई देती है। किन्तु आप न तो निराशावादी हैं, और न निरीश्वरवादी

घटा से निकले बस नभ चन्द,
सुधा से सींची जाय मही।

आप अपनी प्रेम-पीड़ा में आकर्षण मानते हैं जो कि आपके प्रियतम को आपके पास खींच लावेगी—

'इस शिथिल आह से खिचकर तुम आओगे-आओगे।
इस बड़ी व्यथा को मेरी रो-रो कर अपनाओगे॥'

आपकी स्फुट कविताएँ 'आँसू' 'झरना' और 'लहर' नाम की

तीन पुस्तकों में निकली हैं। तीनों पुस्तकों के शीर्षक जल (वरुण) से बन्ध रखते हैं जो कि करुण रस का देवता है। आपकी ब्रजभाषा की कविताएँ 'कानन कुसुम' में संग्रहीत हैं। 'प्रेम-पथिक' आपकी प्रारम्भिक रचनाओं मे से है। वह थोड़े-बहुत अपवाद के साथ अतुकान्त (Blank verse) का पहला प्रयोग है।

आँसू को प्रसादजी ने मस्तक की 'घनीभूत पीड़ा' कहा है—'जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक मे स्मृति सी छाई, दुर्दिन में आँसू बन कर वह आज बरसने आई।' इसमें पीड़ा को बादल का रूप दिया गया है, घनीभूत के श्लेष द्वारा पीड़ा की अतिशयता के साथ रूपक खड़ा कर दिया गया है। वह बादल सी व्याप्त हो जाती है। आँखों और प्रकृति में भी आँसुओं को देख कर प्रसाद जी ने मनुष्य और प्रकृति का तथा प्रेमास्पद और परमात्मा का साम्य उपस्थित किया है।

प्रसादजी ने आँसुओं की वर्षा से मनुष्य के शुष्क जीवन को सिक्त किया है और इस प्रकार उन्होंने एक नये आशामय प्रभात की झलक दिखायी है:—

सब का निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में

वर्षा-वारि-विन्दु की भाँति 'आँसू' काव्य का उदय भी एक अन्तर्ज्वाला में होता है और उसके परिणाम मे शीतल-रस सीकर दिखाई देते हैं। यद्यपि आँसू का अन्त विश्व की मङ्गल-कामना में होता है तथापि उसकी करुणा वैयक्तिक है। आँसू के आलम्बन के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कोई उसे लौकिक मानते हैं और कोई उसे अलौकिक कहते हैं। एक महाशय का कहना है कि वह कोई व्यक्ति नहीं है वरन् उनकी वासना का प्रतीक है। वास्तव में प्रारम्भ में तो वह

कोई व्यक्ति ही था (थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखों में) किन्तु समय पाकर वही अलौकिक और दिव्य रूप धारण कर लेता है। आँसू का काव्य मनुष्य को अहङ्कार और ममत्व से ऊँचा उठा कर उसको उस भाव-भूमि मे ले जाता है।जहाँ सुख-दुख का मेल होजाता है।

हो उदासीन दोनो से दुख सुखासे मेल कराये,
ममता की हानि उठाकर दो रूठे हुए मनाये।

इन मुक्तक-काव्य संग्रहों के अतिरिक्त आपने 'कामायनी' नाम का एक महाकाव्य भी लिखा है। 'कामायनी' में मनु और श्रद्धा (कामायनी) की कहानी है। यह एक प्रकार की समासोक्ति है। इसमे कथा के साथ रूपक भी चलता है। रूपक को मुख्यता देने के कारण मनु का चरित्र कुछ गिर गया है। मनु में मन की चञ्चलता है। वैसे तो यह युग पुरुष-प्राधान्य-का नहीं है, नारी को मुख्यता देना युग की भावना के अनुकूल है, फिर भी भारतीय सभ्यता के प्रवर्त्तक का मन चञ्चल और दुर्बल होना कुछ अखरता है। कामायनी के रूपक में मनु मानव मन के प्रतीक हैं जो स्वभाव से चञ्चल होता है। श्रद्धा ही मनुष्य को मङ्गलमय ज्ञान के दर्शन कराती है। इसमें अनेक सूक्तियाँ और शब्द चित्र आये हैं। देखिए चिन्ता ऐसी अमूर्त वस्तु का कैसा सुन्दर चित्र है। जहाँ चित्रकार की तूलिका असमर्थ रहेगी, वहाँ कवि की लेखनी ने अपना चमत्कार दिखलाया है—

ओ चिन्ता की पहली रेखा,
अरी विश्व-वन की व्याली?
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कम्प-सी मतवाली?
हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल लेखा?
हरी-भरी-सी दौड़ धूप ओ,
जल-माया की चल रेखा।

कामायनी में देवताओं के अवाधित विकास का दुष्परिणाम दिखाया है।

रत्न सौध के वातायन, जिनमें
आता मधु-मदिर समीर;
टकराती होगी अब उनमें
तिमिंगलों की भीड़ अधीर।

इस काव्य में बुद्धिवाद और हृदयवाद का समन्वय किया गया है। प्रसादजी स्वयं लिखते हैं—"मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है। अपने पुत्र मानव को इड़ा के साथ रहने का आदेश देते हुए कामायनी कहती है:—

"हे सौम्य ! इड़ा का शुचि दुलार
हर लेगा तेरा व्यथा भार;
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय
तू मननशील कर कर्म अभय।"

जो लोग कहते हैं कि प्रसादजी ने श्रद्धा को ऊँचा उठाकर बुद्धि-वाद के विरुद्ध हृदयवाद का पक्ष लिया है उसमे इतना ही सत्य है मनु को श्रद्धा द्वारा अन्तिम रहस्य के दर्शन होते हैं; यह बात किसी अंश में सत्य भी है क्योंकि तत्व दर्शन में जहां बुद्धि पीछे रह जाती है वहाँ श्रद्धा और प्रातिभ ज्ञान (Intuition) द्वारा रहस्य का उद्-घाटन हो जाता है किन्तु प्रसादजी ने तर्क और बुद्धि की उपेक्षा नहीं की है। वे समन्वयवादी थे। उन्होंने इच्छा, ज्ञान और क्रिया के सम-न्वय में शिव के दर्शन कराये हैं—

स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो,
इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे,
दिव्य अनाहत पर निनाद में,
श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे,

प्रसादजी की भाषा संस्कृत गर्भित है और इस कारण उनकी भाषा का माधुर्य बढ़ा ही है घटा नहीं है, जैसा कि कहीं-कहीं संस्कृत पदावली की योजना में हो जाता है। उसमें अधिक दुरूहता भी नहीं आने पायी है। आपकी गद्य भाषा प्रौढ़ अवश्य है किन्तु उसमें कहीं कहीं दुरूहता आ जाती है। आपका शब्द चयन बड़ा सुन्दर है। आपके काव्य मे पुरानी और नयी (विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण आदि) दोनों ही ढङ्ग की अलङ्कारयोजना हुई है और आपकी उपमाओं में सुखद-नवीनता रहती है।

श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (जन्म सं० १९५५)

आप बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति के हैं और अपनी प्रकृति के अनुकूल ही कविता-कामिनी को स्वच्छन्दता देकर आपने उसका स्वाभाविक संगीत मय सौन्दर्य उद्भासित करने का प्रयत्न किया है। आपकी स्वच्छन्द छन्दमय कविताएँ कुछ तुकान्त हैं और कुछ अतुकान्त। आप दार्शनिक भी हैं और कवि भी। आप में बुद्धिवाद और हृदयवाद दोनों का ही सुखद सम्मेलन है। 'जागरण' 'मैं और तुम' 'कण' आदि अनेक रचनाएँ दार्शनिक चिंतनों से प्रेरित हैं। आप ब्रह्मवाद से प्रभावित अवश्य हैं किन्तु ब्रह्मलीन होकर अपने व्यक्तित्व को खो देने के पक्ष में नहीं हैं। भक्तों की भाँति आप ईश्वर के साथ चन्द्र-चकोर का सा ही सम्बन्ध रखना चाहते हैं। आपकी लिखी हुई 'पञ्च-वटी' नाम की कविता में लक्ष्मणजी कहते हैं—

मुक्ति नहीं जानता मैं, भक्ति रहे काफी है।
सुधाधर की कला में अंशु यदि बन कर रहूँ—
तो अधिक आनन्द है
अथवा यदि होकर चकोर कुमुद नैश गन्ध
पीता रहूँ सुधा इन्दु-सिन्धु से बरसती हुई
तो सुख मुझे अधिक होगा।

इसमे सन्देह नहीं
आनन्द वन जाना हेय है,
श्रेयस्कर आनन्द पाना है।

आपके हृदय मे करुणा और सहानुभूति का स्रोत वहता हुआ दिखायी पड़ता है। विधवा का आपने वड़ा ही पवित्र और करुणा-जनक चित्र खीचा है।

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप शिखा-सी शान्त, भाव में लीन
वह क्रूर काल-ताण्डवकी स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन,
दलित भारत की ही विधवा है।

ऐसा ही चित्र आपने एक भिखारी का खींचा है—
'भिक्षुक, शीर्षक कविता में

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक
चल रहा लकुटिआ टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को।
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।

निरालाजी शब्द चित्र अङ्कित करने में बहुत निपुण हैं। उन्होंने प्रकृति ही के चित्र नही खींचे हैं वरन् अपने पात्रों के भी बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं। 'पञ्चवटी प्रसङ्ग' में आपने लक्ष्मणजी का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा हैं। वे सेवा की मूर्ति हैं सेवा के सिवा और कुछ नहीं जानते—

जीवन का एक ही अवलम्ब है सेवा,
है माता का आदेश यही,

माँ की प्रीति के लिए ही चुनता हूँ सुमन-दल।
इनके सिवा कुछ नहीं जानता—

'जुही की कली' में प्रकृति का सौन्दर्य वर्णन मानवीकरण के रूप में किया है। वायु को कली का नायक बनाया है। 'सन्ध्या-सुन्दरी' में सन्ध्या की निस्तब्धता का बड़ा सुन्दर वर्णन है। बिलकुल चित्र-सा खिच जाता है। आपकी 'यमुना' नाम की कविता में अतीत की बडी सजीव स्मृति है। वास्तव में आपकी यमुना 'पथिक-प्रिया-सी जगा रही है उस अतीत के नीरव गान'। उद्बोधन के रूप में लिखी हुई 'जागो फिर एक बार' नाम की कविता में उनकी ओजपूर्ण वाणी का परिचय मिलता है।

निरालाजी की कविताओं का पहला संग्रह 'परिमल' के नाम से निकला था। दूसरा संग्रह है 'अनामिका'। इसका महत्व अनामिका (कनी अँगुली के पास की अँगुली जिसमें अँगूठी पहनी जाती है) से कम नहीं है। इसमें प्रेम, करुणा और वीरता प्रधान कविताओं का संग्रह है। इन कविताओं में उनके वैयक्तिक सघर्ष की छाया है। 'सम्राट के प्रति' शीर्षक कविता में सम्राट एडवर्ड अष्टम के अनुपम त्याग की प्रशसा है। 'राम की शक्ति-पूजा' का कथानक तो बहुत छोटा सा है किन्तु भाषा वडी ओजपूर्ण है। उसकी संस्कृतगर्भित शब्दावली में निर्झर के वेग से बढ़ता हुआ उत्साह दिखाई देता है। इसके मूल में भी तुलसीदासजी की-सी वैष्णव और शिव सम्प्रदायों में एक्य स्थापित करने की भावना है। शक्ति-पूजा की भाषा का नमूना देखिए—

एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,
शत घूर्णावर्त, तरङ्ग-भङ्ग, उठते पहाड़,
जल-राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत-वक्ष,
दिग्विजय अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष,

शत-वायु-वेग-बल, डुबा अनल में देश-भाव
जल-राशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव
वज्राङ्ग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास

आपके स्फुट गीतों का एक और संग्रह 'गीतिका' नाम से प्रकाशित हुआ है। उसमें साहित्य और सङ्गीत दोनों को मिलाने का उद्योग किया गया है। आपके ही शब्दों में इन गीतों की विशेषता इस प्रकार है—

"जो सङ्गीत कोमल मधुर और उच्च भाव, तदनुकूल भाषा और प्रकाशन से व्यक्त होता है उसके साफल्य की मैंने कोशिश की है। ताल प्रायः सभी प्रचलित हैं। प्राचीन ढङ्ग रहने पर भी वे नवीन कण्ठ से नया रङ्ग पैदा करेंगी।"

इन गीतों में विषय का वैविध्य काफी है। प्रातः श्री तथा यामिनी की शोभा के वर्णन के अतिरिक्त कुछ गीतों मे जिज्ञासा के भाव हैं। कुछ में भक्तिपूर्ण उद्गार हैं और कुछ में देशभक्ति है। देखिए नीचे के गीत में आशावाद की कैसी सुन्दर झाँकी मिलती है—

रूखी री यह डाल, वसन वासन्ती लेगी।
हार गले पहना फूलों का,
ऋतुपति सकल सुकृत-कूलों का
स्नेह सरस भर देगा उर-सर,
स्मर-हर को बरेगी—
वसन वासन्ती लेगी।
मधुव्रत में रत वधू मधुर फल
देगी जग को स्वाद-तोष-दल,
गरलामृत शिव आशुतोष-बल,
विश्व सकल नेगी—
बसन बासन्ती लेगी।

निरालाजी आर्य-संस्कृति के बड़े भक्त हैं। तुलसीदासजी के प्रति श्रद्धाञ्जलि स्वरूप 'तुलसीदासजी' नाम के सुन्दर काव्य-ग्रन्थ के आरम्भ में आपने आर्यजाति के पददलित होने पर बडा क्षोभ प्रकट किया है। इसमे तुलसीदास के प्रचलित जीवनवृत्त को एक मनोवैज्ञानिक रूप दिया गया है। निरालाजी ने कुछ प्रगतिशील कहलाई जाने वाली कविताएँ भी लिखी हैं। 'तोडती पत्थर' में एक मजदूर औरत का करुणामय चित्र है। आपकी 'कुकुरमुत्ता' नाम की कविता में वर्ग-सङ्घर्ष की ध्वनि है। 'कुकुरमुत्ता' दलितों का प्रतीक है।

निरालाजी की भाषा संस्कृत-गर्भित है किन्तु उसमें उर्दू-फारसी के शब्दों का नितान्त वहिष्कार नहीं है। इनके काव्य में ओज की मात्रा अधिक है और कुछ लोगों का ख्याल है कि इनकी भाषा इनके गीतों के लिए भारी पड़ जाती है। अर्थात् उनका सङ्गीत उनके संस्कृत गर्भित ओजपूर्ण शब्दों को वहन करने में असमर्थ रहता है। यह वात कहीं-कहीं ही है, सर्वत्र नहीं। आपका अलङ्कार-विधान वड़ा स्वाभाविक है। आपने प्राचीन उपमानों का भी वड़े सुन्दर ढङ्ग से प्रयोग किया है और आपकी कविताओं मे यत्र-तत्र 'इष्टदेव' के मन्दिर की पूजा-सी आदि वड़े सुन्दर उपमान पाये जाते हैं जो पीटी हुई लकीर से वड़ी दूर हैं और एक दम एक सुखद नवीनता उपस्थित कर देते हैं।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त—(जन्म सं० १९५७)

श्री निरालाजी के शब्दों मे पन्तजी हिन्दी के सुकुमार कवि हैं। पन्तजी ने खड़ी वोली में एक नये सौन्दर्य की सृष्टि की है। आप वड़े सुन्दर और सरल स्वभाव के हैं। आपका व्यक्तित्व कवित्वपूर्ण है।

आपके मुख्य काव्य-ग्रन्थ इस प्रकार है—वीणा, ग्रन्थि, पल्लव गुञ्जन, युगांत, युगवाणी और ग्राम्या। ग्रन्थि एक प्रेम-प्रधान दुखान्त खण्डकाव्य है। इसमें प्रेम की तीव्र अनुभूति का परिचय मिलता है।

वह ग्रन्थ अतुकान्त कविता का वडा अच्छा नमूना है। इसमें अलङ्कार योजना भी बड़ी सुन्दर है। प्राचीन ढङ्ग के अलङ्कारों का सुन्दर रूप से प्रयोग हुआ है—

इन्दु पर, उस इन्दु मुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,
लाज से रक्तिम हुए थे, पूर्व को
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था।

कुछ उपमाएँ बड़ी अनूठी और सुन्दर हैं। अलक को सुछवि काव्य की पाद-रेखा वतलाया है, देखिए—

वाल-रजनी-सी अलक थी डोलती
भ्रमित-सी शशि के वदन के वीच में
अचल, रेखाङ्कित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में।

'वीणा' और 'पल्लव' में हम प्राकृतिक सौन्दर्य के शब्द-चित्र देखते हैं और कुछ रोना और कुछ गाना सुनते हैं। कही कहीं प्रकृति सम्बन्धी रहस्यवाद की भी झलक मिल जाती है, जैसा कि 'परिवर्तन' में। 'पल्लव' में कलाकार का रूप अधिक है। प्राकृतिक दृश्यों में एक अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि की गयी है और कवि का प्रकृति के साथ भाव-सहचर होना प्रतीत होता है। कवि की दृष्टि प्राकृतिक क्षेत्रों में मधु-बालाओं एवं सुरभित सुमनों जैसे सुकुमार तथा पर्वत और निर्झर जैसे विशाल दृश्यों की ओर भी गयी है। आपने रूप और शब्द दोनों के ही चित्र खींचे हैं और अपनी कल्पना द्वारा नवीन-नवीन उपमाओं को उपस्थित कर उन चित्रों को बड़ा आकर्षक बना दिया है। देखिए—

गिरि का गौरव गाकर झर-झर
मद से नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुन्दर
झरते झाग-भरे हैं निर्झर।

निम्नोल्लिखित बादल के वर्णन में चाहे अँग्रेजी कवि शैली के क्लाउड (Cloud) की छाया बतलाई जाय किन्तु इसके चित्र भारतीय संस्कृति के अनुसार हैं। इसमें थोड़ा ब्रज-भाषा का भी मिश्रण है।

धूम धुँआरे, काजर कारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदन राज के वीर बहादुर,
पावस के उड़ते फणिधर,

आपने वस्तुओं के रङ्गों का बड़ा सूक्ष्म निरीक्षण किया है, देखिए आम के बौर और उसके रसिक भौरों का वर्णन—

रूपहले, सुनहले आम्र-बौर,
नीले, पीले, औ, ताम्र भौर,

पन्तजी ने मानव सौन्दर्य का भी अच्छा वर्णन किया है—

सरलपन ही था उसका मन,
निरालापन था आभूषन,
कान से मिले अजान-नयन,
सहज था सजा सजीला तन,

इसमें पुरानी रूढ़ि के अनुसार नेत्रों को कानों तक पहुँचने वाला बतलाया गया है।

पन्तजी में प्रेम-पूर्ण विरह-जन्य करुणा के अतिरिक्त, जिसका कि 'ग्रन्थि' में दर्शन पाते हैं, वर्तमान युग के दुःखवाद की भी मात्रा है। भवभूति के 'एकोरसः करुण एव' के साथ-साथ स्वरैक्य करते हुए पन्तजी ने भी दुःख को ही कविता का मूल माना है। आपकी ये पंक्तियाँ भी बहुत प्रख्यात हैं—

वियोगी होगा पहिला कवि, आह से उपजा होगा गान,
उमड़ कर आँखों से चुपचाप, वही होगी कविता अनजान।

जरा आपका वीचि-विलास देखिए—

अरी सलिल की लोल हिलोर
यह कैसा स्वर्गीय हुलास?
सरिता की चञ्चल दृग-कोर!
यह जग को अविदित उल्लास?
आ, मेरे मृदु अङ्ग झकोर,
नयनों को निज छवि में बोर,
मेरे उर मे भर मधु रोर!
* * *
सजल कल्पना सी साकार
पुनः पुनः प्रिय, पुनः नवीन;
* * *
तुम इच्छाओं-सी असमान,
छोड़ चिह्न उर मे गतिवान,
हो जाती हो अन्तर्धान!
मुग्धा की-सी मृदु-मुसकान
खिलते ही लज्जा से म्लान
स्वर्गिक सुख की सी आभास
अतिशयता मे अचिर महान
* * *
जन्म-मरण से कर परिहास
बढ़ असीम की ओर अछोर,
तुम फिर-फिर सुधि सी सोच्छ्वास
जो उठती हो विना प्रयास,
ज्वाला-सी पाकर बातास।

इनमें मूर्त लहरों की इच्छा और सुधि जैसे अमूर्त पदार्थों के साथ कैसी सुन्दर तुलना की गयी है। आप पर उस समय की प्रवृत्ति

अनुकूल दुखवाद का प्रभाव है। आप प्रकृति में भी दुःख को व्याप्त देखते हैं—

गगन के भी उर में है घाव,
देखती तारायें भी राह,
बँधा विद्युत छवि में जल वाह,
चन्द्र की चितवन में भी चाह;
दिखाते जड़ भी तो अपनाव,
अनिल भी भरती ठण्डी आह!

किन्तु सभी जगह उनकी प्रकृति रोती हुई नहीं दिखलाई पड़ती है। वे कलिकाओं और मधुप कुमारियों में सौन्दर्य और सङ्गीत भरा हुआ देखते हैं, जिसके रसास्वादन में कवि का हृदय भी सङ्गीतमय हो जाता है। पन्तजी का कवि हृदय प्रकृति के साथ सामञ्जस्य स्थापित करना चाहता है। उनके 'परिवर्तन' में हम प्रकृति को विश्वात्मा से ओत-प्रोत पाते हैं और उसमें उनको प्रकृति का उग्र और विध्वंसक रूप भी दिखाई देता है। देखिए—

अहे निष्ठुर परिवर्तन! तुम्हारा ही तांडव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन!
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन!
अहे वासुकि सहस्र फन!
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर।
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर।
शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत-फूत्कार भयकर।
घुमा रहे हैं घनाकर जगती का अम्बर।

पन्तजी रहस्यवादी कवि हैं। उनमें प्रकृति का रहस्यवाद विशेषकर 'परिवर्तन' जैसी कविताओं में अधिक दिखलाई पड़ता है।

यद्यति पन्तजी मे कवित्व और सौन्दर्य-भावना अधिक है तथापि उनकी कविता विश्व चिन्तन और दार्शनिक विचारों से खाली नहीं हैं। यह दार्शनिकता 'गुञ्जन' और 'युगान्त' में बढ़ गयी है। इन पुस्तकों मे कला और सौन्दर्य का उतना प्राधान्य नहीं है जितना कि 'पल्लव' में। अपूर्णता के कारण 'गुञ्जन' का कवि आरम्भ में कुछ उन्मन-सा दिखाई देता है:—

बन-वन उपवन
छाया उन्मन-उन्मन गुञ्जन
लगता अपूर्ण मानव-जीवन
मै इच्छा से उन्मन-उन्मन!

यह अन्यमनस्कता पन्तजी को दार्शनिकता की ओर ले जाती है किन्तु यह दार्शनिकता कवि की दार्शनिकता है। पन्तजी ने मानव जीवन की अपूर्णता को कल्पना के माधुर्य से भी पूर्ण किया है और 'युगवाणी' में जीवन के अभावों की ओर ध्यान दिलाकर भी।

'गुञ्जन' का कवि ससार के 'गुञ्जन' में अपना राग गुञ्जारता हुआ मालूम होता है। उसमें सुख-दुःख दोनों को ही स्वीकार किया है। दोनों से ही मनुष्य ऊब जाता है। किन्तु दोनों ही इस जीवन में अपना स्थान रखते हैं। 'गुञ्जन' मे कवि का जीवन से वैराग्य नहीं है। वह जीवन में सौन्दर्य देखना है और वह उसमें तथा जीवन के उल्लास में मिलना चाहता है। जीवन नाश करने के लिए वह शङ्कर प्रलयङ्कर का भी आह्वान नहीं करता है। सुख दुःख का पलड़ा बराबर करने वाली 'गुञ्जन' की यह कविता बहुत प्रख्यात हो गई है। इसका सभी उल्लेख करते हैं और है भी यह उल्लेख योग्य—

सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन;
फिर घन में ओझल हो शशि,

फिर शशि से ओझल हो घन।
जग पीड़ित है अति दुख से,
जग पीड़ित है अति सुख से,
मानव जग में बँट जावें
सुख दुख से और दुख सुख से।

ऊपर की पंक्तियों में शशि और घन सुख और दुख के प्रतीक हैं। नीचे की पंक्तियों में आशावाद स्पष्ट रूप से प्रस्फुटित हो रहा है—

वन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख का अपनाना।
काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली
इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली।

× × ×

सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर-सुन्दर जग जीवन।

पन्तजी सुख-दुख के ऊपर जीवन को ही प्राधान्य देते हैं—

अस्थिर है जग का सुख-दुख,
जीवन ही नित्य चिरन्तन।
सुख-दुख से ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।

× × ×

मेरे क्षण-क्षण के लघु कण
जीवन लय से हों मधुमय,

पन्तजी के फिलासफी के बीज गुञ्जन में मौजूद हैं। उनकी मानव पूजा का आरम्भ इसी में होता है, देखिए—

तुम मेरे मन के मानव
मेरे गानों के गाने;
मेरे मानस के स्पन्दन,
प्राणों के चिर पहिचाने

इसी मे विश्व वेदना में तड़पने और बन्धन को मुक्ति समझने का सन्देश है—

विश्व-वेदना मे तप प्रतिपल,
जगजीवन की ज्वाला में जल,

पन्तजी की प्रतिभा विकासशील है। पहले वे प्रकृति के सौन्दर्य में जीवन की विषमताओं को भूल जाना चाहते थे। धीरे-धीरे उनकी प्रतिभा जीवन के उल्लास-दर्शन की ओर झुकी। वे तितली और भौंरों की रङ्ग विरङ्गी दुनिया से बाहर निकल कठोर जीवन की धूप छाँह का चित्रण करने लगे और मानवोपासना की ओर अग्रसर हुए। यह मानव उपासना व्यक्तिगत न होकर मानव मात्र की हो गयी है। उसमें इस युग की मानव-गौरव सम्बन्धी भावना काम करने लगी है। उनकी मानव शीर्षक कविता देखिए—

सुन्दर है विहग, सुमन सुन्दर,
मानव तुम सब से सुन्दरतम,
निर्मित सब की तिल सुषमा से,
तुम निखिल सृष्टि में चिर निरुपम!

युग वाणी में यह सौन्दर्य भावना और भी व्यापक हो जाती है—

इस धरती के रोम-रोम में
भरी सहज सुन्दरता।
इसकी रज को छू प्रकाश

चन मधुर विनम्र निखरता।
पीले पत्ते, टूटी टहनी,
छिलके, कंकर, पत्थर
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर
लगता सार्थक, सुन्दर।

युगवाणी साम्यवाद से प्रभावित है किन्तु उसमें भोजन पानी की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ आध्यात्मिकता और आन्तरिक साम्यवाद का स्वर प्रमुख है—

वाह्य नहीं आन्तरिक साम्य,
जीवन में मानव को प्रकाम्य।

युगवाणी में नारी स्वातन्त्र्य का भी सन्देश है। जहाँ पुरुष-पुरुष में साम्य है वहाँ नारी को पुरुष के आधीन भी रखना अन्याय है—

मुक्त करो नारी को मानव! चिर-वन्दिन नारी को,
युग-युग की बर्बर कारा से, जननि सखी प्यारी को।

'ग्राम्या' में पन्तजी ने गाँवों का चित्रण किया है। गाँव के लोगों के प्रति उनका उपासक का भाव नहीं वरन् एक सहृदय द्रष्टा का है। ग्रामीण लोगों की वर्तमान स्थिति देख कर उनको 'मिट्टी का पुतला' कहा है। ग्रामों की दयनीय दशा का उन्होंने बड़ा करुणाजनक चित्रण किया है, देखिए—

झाड़ फूँस के विवर यही, क्या जीवन शिल्पी के घर,
कीड़ों-से रेंगते कौन ये! बुद्धिप्राण नारी नर?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ जग में,
गृह गृह में है कलह, खेत में कलह, कलह है मग में!

फिर भी पन्तजी ने गाँवों में देश की संस्कृति के बीज छिपे हुए माने हैं—

मनुष्यत्व के मूल तत्व ग्रामों ही में अन्तर्हित
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत।

यद्यपि पन्तजी की गाँवों के प्रति बौद्धिक सहानुभूति है और कहीं-कहीं ग्रामीण पात्रों में कुछ गहरे रग भर दिये हैं और कहीं-कहीं उनके प्रति तिरस्कार भावना भी है—'ये जैसे कठपुतले निर्मित', फिर भी उन्होंने इस पुस्तक में जीवन की बहती हुई धारा का बड़ा सुन्दर चल-चित्र दिया है। इस सम्बन्ध में उनके कहारों और धोबियों के नृत्य के गति मय तथा शब्दमय चित्र दर्शनीय हैं। इसमें समाज पर, विशेषकर नगर की स्त्रियों पर सुन्दर व्यंग्य है। इतना सब होते हुए भी पन्तजी ने ग्रामीण लोगों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति प्रदर्शन करने के सम्बन्ध में जो सफाई दी है वह अधिक सन्तोषजनक नहीं है। उनका कहना है—जैसे ग्राम-जनता को रक्त-मास के रूप में नहीं देखा है, एक मरणोन्मुखी सस्कृति के अवयव स्वरूप देखा है। 'रूढ़ियों के शिकार होते हुए भी वे बीमार आदमियों की भाँति हमारी भावुकतापूर्ण सहानुभूति के पात्र हैं।' किन्तु यह सहानुभूति कुछ-कुछ ऊँचे उठे हुए मनुष्य की है।

आजकल के मानवी सौन्दर्य के चित्रण में रीतिकाल के चित्रण से भेद है। अब कुसुम की सी कोमलता का मान नहीं है। अब पुष्ट माँसल सजग गतिप्राण सौन्दर्य के गीत गाये जाते हैं। उनमें भी सरलता देखी जाती है। पन्तजी के ग्रन्थों में ऐसे सौन्दर्य का चित्रण पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

सक्षेप में हम कह सकते हैं कि युगान्त में पिछले युग के अन्त का सकेत है। युगवाणी में नये युग का सन्देश बौद्धिक भाषा में सुनाया गया है। और ग्राम्या में साम्यवाद का हृदय पक्ष दर्शनीय है।

युगान्त मे कुछ गाम्भीर्य बढ़ जाता है और ऐसा प्रतीत होता है कि कवि क्रीड़ा, कौतूहल, मोद, मधुरिमा, हास्यलीला, स्नेह, पुलक, सुख, उल्लास के अतिरिक्त सेवा भाव द्वारा जीवन में सार्थकता लाना चाहता है, देखिए—

जग-जीवन में जो चिर महान

सौन्दर्य पूर्ण औ' सत्य-प्राण
मैं उसका प्रेमी बनूँ नाथ
जिसमें मानव-हित हो समान।
जिससे जीवन में मिले शक्ति,
छूटे भय, संशय, अन्ध भक्ति;
मैं वह प्रकाश बन सकूँ नाथ।
मिल जावे जिसमें अखिल व्यक्ति

पन्तजी ने प्रायः मुक्तक काव्य लिखा है (ग्रन्थि में ही खण्ड काव्य कवि का रूप आया) किन्तु उसमें भावों की झड़ी सी बंध जाती है। इस सम्बन्ध में आपकी 'छाया', 'वीचिविलास' और 'नक्षत्र' नाम की कविताएँ पढ़ने योग्य हैं। उनकी मालोपमाएँ बहुत ही अनूठी और सुन्दर हैं।

स्वर्ण-किरण, स्वर्ण धूलि तथा उत्तरा पंतजी की हाल की कृतियाँ हैं। स्वर्ण धूलि में प्राचीन संस्कृति की ओर झुकाव है। पंतजी गान्धीजी तथा योगी अरविन्द की आध्यात्मिकता से प्रभावित पश्चिम के भौतिकवाद को अध्यात्मवाद से पूर्ण करना चाहते हैं। अध्यात्मवाद में वे मानवता का आधार पाते हैं। ऐसी नई संस्कृति के निर्माण के लिए वे आशावादी हैं।

पन्तजी की भाषा में माधुर्य गुण की प्रधानता है। इन्होंने भी अपनी कविता में साहित्य और सङ्गीत का प्रयोग किया है। और इनकी माधुर्यपूर्ण पदावली ने सङ्गीत का पूरा-पूरा साथ दिया है। पन्तजी लिखते है कि 'पल्लव' की कविताओं में मुझे 'स' के बाहुल्य ने लुभाया था और 'गुञ्जन' में 'र' की पुनरुक्ति का मोह नहीं छोड़ सका। 'इस प्रकार सरगम के दो सुर हो ही गये हैं। खड़ी बोली के लिए जो लाञ्छन था कि उसमें माधुर्य और कोमलता का अभाव है उसको दूर करने में ये बहुत अंश तक सफल हुए हैं। बुद्धितत्व के प्राधान्य के कारण युगवाणी में गीतमय गद्य है।

निरालाजी के काव्य में पौरुष और ओज है। पन्तजी के काव्य में माधुर्य और सौन्दर्य है। रङ्गों के वर्णन में दोनों ने ही अच्छी पटुता दिखलायी है। निराला श्याम रङ्ग की ओर ज्यादा झुके हैं और पन्त श्वेत उज्ज्वल रङ्ग की ओर अधिक। निरालाजी ने मैथिलीशरण के विपरीत सूर्पणखा को राम की ओर आकर्षित किया है। इनमें भी उनका श्याम की ओर पक्षपात है। पन्त और निराला दोनों ने ही खड़ी बोली की गौरव-वृद्धि की है।

श्री महादेवी वर्मा (जन्म सं० १६६४)

आजकल के युग में यद्यपि मीरा और ध्रुव की सी प्रेम-साधना और भक्ति-भावना प्रायः असम्भव-सी है। (आजकल का दार्शनिक चिन्तन और जटिल जीवन-भावना में बाधक होता है तथापि आजकल के कवियों ने भी आध्यात्मिक वियोग की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। उनमें महादेवीजी का स्थान बहुत ऊँचा है। आपकी कविता मे दुःख की तीव्र अनुभूति है। आप अपने मानस के सूनेपन को सारे संसार में विखरा पाती हैं। आपके रहस्यवाद को यह विशेषता है कि आप मनुष्य की सीमाबद्धता से संकुचित नहीं होती, उसकी लघुता को ही उसका गौरव समझती हैं। आप ससीम में भी असीम को देखती हैं और एक कण में ही असीमता के दर्शन कर लेती हैं—

सच है कण का पार न पाया, बन बिगड़े असंख्य संसार।
पर न समझना देव हमारी लघुता है जीवन की हार॥
चिर तृप्ति वासनाओं का कर जाती निष्फल जीवन,
बुझते ही प्यास हमारी पल में विरक्ति बन जाती॥

महादेवीजी विश्व में कोई ऐसा असीम नहीं पाती जिसका कि पता ससीम मे न मिले। ससीम की भी उतनी ही महत्ता है जितनी कि असीम की। ससीम का गौरव वर्तमान युग की विशेषता है:—

विश्व में वह कौन सीमा हीन है,
हो न जिसका खोज सीमा में मिला ?
क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
क्या तुम्हीं सर्वेश एक महान् हो।

महादेवीजी ने जहाँ कण-कण में असीम को देखा है वहाँ प्रकृति के विराट रूप में भी उनके दर्शन करने का प्रयत्न किया है—

आलोक तिमिर सित असित चीर,
सागर-गर्जन रुन-झुन मँजीर
*　*　*
रवि-शशि तेरे अवतंस लोल
सीमान्त-जटित तारक अमोल,
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्र धनुष
हिमकर बन झरते स्वेदनिकर
अप्सरि ! तेरा नर्त्तन सुन्दर।

महादेवीजी पर बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा है। वे स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं चाहतीं। वे अमरता को जीवन का ह्रास समझती है—

अमरता है जीवन का ह्रास,
मृत्यु जीवन का चरम विकास।

महादेवीजी ईश्वर और जीव का सम्बन्ध एक ओर रश्मि और प्रकाश का सा अभिन्न और दूसरी ओर घन और तड़ित-सा भिन्न मानती हैं—

मैं तुम से हूँ एक, एक है जैसे रश्मि प्रकाश।
मैं तुम से हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तड़ित-विलास॥

[ए]कात्मवाद से प्रभावित महादेवीजी का एक गीत और देखिए—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागनी भी हूँ।
दूर तुम से हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ॥

तार भी आघात भी झङ्कार की गति भी।
पात्र भी, मधु भी, मधुर भी, मधुर विस्मृति भी,
अधर भी हूँ और स्मिति की चाँदनी भी हूँ!

आपने दुख को हेय नहीं माना है। दुःख मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है। मनुष्य की विरह वेदना का आरम्भ जन्म से ही होता —'जन्म ही हुआ वियोग, तुम्हारा ही तो उच्छ्वास' जीव रूप से जन्म पार्थक्य का द्योतक है। महादेवीजी दुख की उपासिका हैं। वे स्वयं जलने को ही जीवन का लक्ष्य मानती हैं। 'प्राणों का दीप जलाकर करती रहती दीवाली।' वे अपने मरने के अधिकार के आगे अमरत्व को नहीं चाहती हैं, देखिए—

क्या अमरों का लोक मिलेगा।
तेरी करुणा का उपहार ?
रहने दो हे देव! अरे।
यह मेरा मिटने का अधिकार॥

अपना व्यक्तित्व मिटाने को ही आप परम लक्ष्य समझती हैं। अपने को 'नीर भरा दुःख की बदली' कह कर उसका अन्तिम ध्येय मिटना ही बतलाती हैं, देखिए—

'उमड़ी कल थी मिट आज चली।'

अपना अस्तित्व स्थिर रख कर पीड़ा का फल आप सुख में नहीं चाहतीं। आप कहती हैं 'काटूँ वियोग-पल रोते संयोग समय छिप जाऊँ'। खोज और प्यास को ही आप महत्ता देती हैं।

महादेवीजी के दुःख में भौतिकता कम है और वह नैराश्य जनित भी नहीं है। वे लिखती हैं, कि उनको जीवन में सुख बहुत मिला है, दुःख शायद उसकी प्रतिक्रिया हो।

'नीहार' और 'रश्मि' के बाद आपकी 'नीरजा' और सान्ध्य-गीत' नाम की दो और पुस्तकें निकली हैं। दोनों में साहित्य और

संगीत का सुन्दर समन्वय है। 'नीहार' में बालकों की सी विस्मय-पूर्ण अनुभूति है। नामानुरूप उसमें कुछ रूप-रेखा-हीनता है। 'रश्मि' में अनुभूति के साथ चिन्तन और प्रकाश है। 'नीरजा' और 'सान्ध्य-गीत' में भावना के प्राधान्य के साथ लक्ष्य की झाँकी भी है। जब साधारण भाषा भावना का वहन नहीं कर सकती है तभी गीत की सृष्टि होती है। आपके गीत में कैसी तीव्र वेदना होती है? देखिए—

देव अब वरदान कैसा ?

× × × ×

इन्द्रधनु से नित सजी-सी,
विद्यु—हीरक से जड़ी-सी,
मैं भरी बदली रहूँ।
चिर मुक्ति का सम्मान कैसा ॥
युगयुगान्तर की पथिक मैं छू कभी लूँ छाँह तेरी,
ले फिरूँ सुधि दीप-सी, फिर राह में अपनी अँधेरी,
लौटता लघु पल न देखा,
नित नये क्षण-रूप-रेखा,
चिर बटोही मैं, मुझे,
चिर-पगुता का दान कैसा !

क्षितिज के उस पार की वस्तु बनने को महादेवीजी इतनी व्याकुल सी हो जाती हैं कि वे जीवन को भी भारी समझती हैं। देखिए—'क्यों मेरे प्राचीर बनकर आज मेरे श्वास घेरे।' कबीर की भाँति महादेवीजी ने कहीं-कहीं विरोधात्मक वाक्यों द्वारा तथ्य-कथन किया है—

तरी को ले जाओ मँझधार, डूब कर ही जाओगे पार।

यह पंक्ति बिहारी की 'अनबूड़े बूडे, तिरे जे बूढ़े सब अंग' वाली उक्ति की याद दिलाती है।

श्रीमती महादेवी वर्मा यद्यपि संस्कृत-गर्भित भाषा लिखती हैं, तथापि उसमें एक विशेष सरलता और प्रभाव है। भाव भाषा में से स्वयं ही प्रस्फुटित होते मालूम होते हैं। आपके भावों में छायावाद काल की सुकुमारता पूर्ण रूप से परिलक्षित होती है और भाषा ने भी उसी कोमलता का अनुसरण किया है। आपके विरह में विशेष विदग्धता है जिसके कारण पाठकों का जी नहीं ऊबने पाता। आप विरह की आराधना करते-करते विरहमय हो जाती हैं और फिर विरह दुखमय नहीं रहता—

हो गयी आराध्यमय मै विरह की आराधना से।

'दीपशिखा' आपकी नवीनतम कृति है।

महादेवी वर्मा के अतिरिक्त श्रीयुत भगवतीचरण वर्मा और श्रीयुत रामकुमार वर्मा का भी आजकल के कवियों में बहुत ऊँचा स्थान है। ये तीनों कवि 'वर्मा त्रय' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

श्री भगवतीचरण वर्मा—(जन्म सं० १९६०)

वर्माजी की कविताओं का संग्रह 'मधुकण' नाम से निकला है। वे भी आजकल के दुःखवाद से प्रभावित कवियों मे से हैं। ये दुःख में ही एक शान्ति और सुख की रेखा देखते हैं—

इस दुख में पाओगे सुख की धुँधली एक निशानी।
आहों के जलते शोलों में तुम्हें मिलेगा पानी॥

आपकी कविता में एक नैराश्य और अतृप्ति की झलक रहती है।—आप न तो थक जाना जानते हैं और न छक जाना—

लेकर अतृप्त तृष्णा को
आया हूँ मैं दीवाना
सीखा ही नहीं यहाँ है
थक जाना या छक जाना।

वर्माजी के दुःख में नैराश्य की झलक मिलती है और उनकी

वेदना कहीं-कहीं उर्दू फारसी की कबाब और सीख की शैली धारण कर लेती है। आपकी कविता में ऐसा प्रतीत होता है मानों संसार से आपको यथोचित सहानुभूति नहीं मिली। संसार को आप कृतघ्न कहते हैं—

आह ! कृतघ्न विश्व का झोंका
मुझे बनाता है उद्भ्रान्त

आपकी रचनाओं का एक और संग्रह 'प्रेम-संगीत' नाम से निकला है। आपके प्रेम में पार्थिवता कुछ अधिक है। यह आवश्यक नहीं है कि सभी प्रेम अपार्थिव हों। वर्माजी प्रेम के मधु में सब कुछ भूल जाना चाहते हैं। इसकी उन्हें परवाह नहीं कि वह क्षणिक है या शाश्वत। वे रो-रोकर हँसना सीख गये हैं, किन्तु उनके रोने में निष्कामता नहीं, उसमें मिलन की चाह है। 'मेरे जीवन में आओ मेरे जीवन की रानी' इसके विपरीत महादेवीजी प्रियतम की अपेक्षा प्रियतम के विरह को अधिक महत्व देती है।

'नूरजहाँ की कब्र पर' नाम की आपकी कविता में कथानक और भावावेश का अच्छा सम्मिश्रण है। 'मानव' आपकी कविताओं का नवीनतम संग्रह है।

वर्माजी देश की परिस्थितियों से प्रभावित होकर प्रगतिवाद की ओर बढ़े रहे हैं। आपने भैंसा-गाड़ी का वर्णन करते हुए ग्रामों का जो करुण चित्र खींचा है वह बड़ा हृदयस्पर्शी है। आपकी यह कविता काफी ख्याति पा चुकी है। इसका कुछ अंश यहाँ दिया जाता है।

चरमर चरमर चूँ चरर मरर
जा रही चली भैंसा गाड़ी।
उस ओर क्षितिज के कुछ आगे
कुछ पाँच कोस की दूरी पर।
भू की छाती पर फोड़ों से,

हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर।
नर पशु बनकर पिस रहे जहाँ,
नारियाँ जन रही हैं गुलाम।
पैदा होना फिर मर जाना,
बस इन लोगों का एक काम।

वर्माजी की भाषा में माधुर्य की अपेक्षा ओज की मात्रा अधिक है और कहीं-कहीं उसमें अँग्रेजी मुहावरों का (जैसे—नया अध्याय खोलना आदि) ज्यों का त्यों अनुवाद मिलता है।

श्री रामकुमार वर्मा—(जन्म सं० १९६२)

वर्माजी की कई कृतियाँ निकल चुकी हैं। उनमें 'अञ्जली', 'अभिशाप', 'निर्णय' 'रुपराशि', 'चित्ररेखा' प्रधान' हैं। 'चित्ररेखा' की भूमिका में वर्माजी ने लिखा है कि 'रूप-राशि' कल्पना-प्रधान ग्रन्थ है और 'चित्ररेखा' अनुभूति-प्रधान। वह अनुभूति करुणा-प्रधान है। आप भी दुःखवाद के कवियों में हैं। आप क्षणिक सुख में भी दुःख छिपा हुआ देखते हैं और प्रातः में सध्या की कालिमा और जीवन में मृत्यु छिपा हुई पाते हैं।

धूल हाय! बनने ही को खिला है फूल अनूप;
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप!

× × ×

क्यों लिखते हो खींच-खींच,
विद्युत की उज्ज्वल रेखा
मैंने तो नभ को केवल
पृथ्वी पर रोते देखा
बादल के तिरछे तन स्थिर
मैंने कभी न पाया

प्रातः में भी दौड़ गयी
संध्या की काली छाया।

आपकी रचनाओं में निराशा है, किन्तु उस निराशा के कारण आप अनीश्वरवाद में नहीं पहुँच जाते। इतना ही नहीं वरन् आप अपने प्रियतम को छिप कर, आते हुए मानते हैं—

रजनी मलीन है, सजे किन्तु
आशाओं के सुन्दर प्रदीप,
बिस्तृत सागर के अश्रु पूर्ण
उर में सञ्चित है एक दीप,
स्वाती-शिशु मोती हृदय-रूप
ज्योतित करता है सरस सीप,
इस भाँति न जाने किस पथ से
वे मुझ में आज समाये !!

'हिम-हास' आपकी नवीनतम कृति है जिसमें काश्मीर का वर्णन है। यह उच्चकोटि का गद्य काव्य है।

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी'—(जन्म सं० १९४९)

आपकी गणना रहस्यवादी कवियों में है। आप यद्यपि सिद्धान्त रूप से सोऽहम के मानने वाले हैं तथापि आप भगवान् को द्वैतभाव प्रियतम के रूप में देखते हैं और सच्चे प्रेमी की भाँति आप उनकी नेठुराई एवं निर्दयता से विचलित नहीं होते। कभी-कभी आप भी आलङ्कारिक हाला के प्याले की सुधि कर लेते हैं:—

तेरे अधरामृत-सा प्याला
यह होठों से लगा रहे।
पीने का अनुराग 'वियोगी'
प्रबल रूप से जगा रहे।

इतना ढले कि सारे जग को—
मदिरा का प्याला लेखूँ।
अपने में मैं तुम्हें, और
तुम में मैं अपने को देखूँ।

श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'—(जन्म सन् १९०४)

आप बड़े भावुक कवियों में से हैं। बड़े दीनभाव से प्रार्थना करते हैं। आपकी विनय बड़ी करुणा से भरी है—

मिटावे मेरी पीड़ा कौन ?
पड़ी किसको है क्या परवाह।
तुम्हीं हो एक मिटाओ आज,
हृदय रख देता हूँ निज खोल।
दया कर अपना पावन प्रेम,
मधुरता-रस में दे दो घोल।

कवि अपने प्रियतम के विरह में अपने को मिटा देना चाहता है। वह अन्तर्ज्वाला को 'अमर शान्ति की जननि' सम्बोधित करते हुए उससे जला देने की प्रार्थना करता है। 'हाँ खूब जला दे ! रह न जाय अस्तित्व, और जब वे आवें चरणों पर दौड़ लिपट जाने वाली, केवल विभूति पावें।'

श्री रामधारीप्रसादसिंह 'दिनकर'—(जन्म सन् १९०८)

आप पर राष्ट्रीयता की छाप अधिक है। आपकी करुणार्द्र हृदय अमीर और पूँजीपतियों की शोषण नीति से व्यथित हो जाता है। आपकी कल्पना भी कभी-कभी शिव का-सा प्रलयङ्कारी ताण्डव नृत्य करती है, आपने गङ्गा, हिमालय आदि के सम्बन्ध में प्राकृतिक वर्णन भी किया है, उसमें देश-प्रेम की भावना प्रधान है। हिमालय का वर्णन देखिए:—

मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
साकार दिव्य, गौरव विराट !
पौरुष के पूँजीभूत ज्वाल ?
मेरी जननी के हिम-किरीट !
मेरे भारत के दिव्य भाल !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !
युग-युग अजेय, निर्बन्ध मुक्त,
युग युग गर्वोन्नत, नित महान।
निस्सीम व्योम में तान रहा,
युग से किस महिमा का वितान ?

दिनकरजी विहार के कवि हैं। आपने मिथिला के विगत वैभव को अश्रु पूर्ण नेत्रों से देखा है—

मैं पतझड़ की कोयल उदास बिखरे वैभव की रानी हूँ।
मैं हरी-भरी हिमशैल-तटी की विस्तृत स्वप्न कहानी हूँ॥

जैसे निरालाजी ने यमुना द्वारा अतीत की स्मृति जगाई है वैसे ही दिनकरजी ने गङ्गा वर्णन में प्राचीन गाथाओं का गान किया है। आपकी कविताओं के संग्रह 'रेणुका' 'रसवन्ती', 'द्वन्द्वगीत', 'हुँकार', 'धूपछाँह' 'श्यामधेनी', और 'बापू' हैं।

आपने अपनी 'कस्मै देवाय' शीर्षक कविता में वर्तमान सभ्यता का बड़ा भीषण चित्र खींचा है—

सिर धुन-धुन सभ्यता सुन्दरी होती है बेवस निज रथ में—
हाय! दनुज किस ओर मुझे ले खींच रहे शोणित के पथ में

× × × ×

विद्युत की इस चकाचौंध में देख, दीप की लौ रोती है।
अरी, हृदय को थाम, महल के लिये झोंपड़ी बलि होती है॥

देख कलेजा फाड़ कृषक दे रहे हृदय शोणित की धारें।
बनती ही उन पर जाती हैं वैभव की ऊँची दीवारें ॥

'कस्मै देवाय' को पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने और भी ख्याति दी है। उनका कहना है कि कृषक ही काव्य का विषय होना चाहिए। श्रीमन्नारायण अग्रवाल का 'रोटी का राग' इसी वृत्ति का फल है।

दिनकरजी देश के आगे कल्पना के स्वर्ग न्यौछावर करने को तैयार हैं।

आज न उड़के नील कुञ्ज में स्वप्न खोजने जाऊँगी।
आज चमेली में न चन्द किरणों से चित्र बनाऊँगी ॥'

दिनकरजी के 'जाग्रति' की शंख-ध्वनि में आशा का एक सन्देश है—'जागरूक की जय निश्चित है हार चुके सोने वाले'। आपने 'रसवन्ती' में जीवन के कोमल पक्ष का स्पर्श किया है जिसमें नारी के विभिन्न रूपों का चित्रण है किन्तु आपकी अधिकांश कविताओं में विरोध की अन्तर्ज्वाला है। 'कुरुक्षेत्र' आपकी नवीनतम कृति है। लिखी तो यह प्रबन्ध काव्य के रूप में है किन्तु इसमें युद्ध की मीमांसा अधिक है।

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान (जन्म सं० १६६१ स्वर्गवास-सं० २०००४) आपकी कविताएँ अधिकतर राष्ट्रीय हैं, यों आपने वात्सल्य रस की भी सुन्दर कविता की है। आपकी 'झाँसी की रानी' नाम की कविता बड़ी लोक-प्रिय हुई है। उसमें नारी गौरव की भावना के साथ पूर्णरूप से देश-प्रेम की झलक मिलती है। रानी लक्ष्मीबाई की समाधि का वर्णन देखिए—

बढ़ जाता है मान वीर का,
रण में बलि होने से।
मूल्यवती होता सोने की,
भस्म यथा सोने से ॥

रानी से भी अधिक हमें अब,
यह समाधि है प्यारी।
यहाँ निहित है स्वतन्त्रता की,
आशा की चिनगारी॥

आपकी भाषा सरल स्वाभाविक और जन-साधारण के हृदय को स्पर्श करने वाली है। देखिए, बालिका का कैसा सुन्दर परिचय है—

दीप शिखा है अन्धकार की, घनी घटा की उजियाली।
ऊषा है यह कमल भृङ्ग की, है पतझड़ की हरियाली॥
कृष्णचन्द्र की क्रीड़ाओं को अपने आँगन में देखो।
कौशल्या के मातृ-मोद को, अपने ही मन में लेखो॥

आपकी कविताओं का संग्रह 'मुकुल' नाम से प्रकाशित हुआ है आपकी कुछ कविताएँ 'त्रिधारा' में भी संग्रहीत हैं। 'सभा का खेल' शीर्षक संग्रह में बालोपयोगी कविताएँ हैं।

श्री गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

राष्ट्रीयता के आदर्श में मुसलमानों का भी स्थान है। उनकी सभ्यता में भी वहुत-कुछ काव्य की सामग्री रही है। जहाँगीर और नूरजहाँ तथा शाहजहाँ और मुमताज-महल की प्रेम कहानियाँ कवि-प्रतिभा के लिए सुन्दर क्रीड़ा क्षेत्र हैं। ताजमहल तो स्वयं ही संसार-व्यापिनी-भाषा का प्रस्तराङ्कित काव्य है। गुरुभक्तजी ने नूरजहाँ के ऊपर एक पूरा काव्य लिखा है। आपकी दो विशेषताएँ हैं—प्रकृति वर्णन और मुहावरों का प्रयोग। मुहावरों के प्रयोग में आप पर हरिऔधजी का प्रभाव है। आप ग्रामीण सभ्यता के पूर्ण पक्षपाती हैं। 'नूरजहाँ' नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा पुरस्कृत हुई है, आपके मुहावरों के प्रयोग का एक नमूना लीजिए। इसमें पक्षियों से सम्बन्धित मुहावरों का प्रयोग हुआ है, देखिए—

अब तक खूब उड़ाये हैं तू ने आनन्द-कबूतर।
हाथों के तोते अब उड़ते, कैसा कतर दिया पर॥

अब मेरी तूती बोलेगी, नया खिलाऊँगी गुल।
वह प्यारा सलीम हो जावेगा, मुझ पर ही बुल-बुल॥
उल्लू मुझे बनाने आई, उड़ती मै पहिचानूँ।
निकल जाय मेरे पंजे से, कोई तब मैं जानूँ॥

शहरी शिष्टाचार का वर्णन देखिए—

कामुकता का हृदय हृदय में डेरा,
केवल स्वार्थ-साधना ही से मानस-मानस प्रेरा।
नहीं हृदय से जिसको भाती रसना की रचनाएँ;
ऐसे शिष्टाचार वाक्यपटुता की शुचि प्रतिमाएँ॥

'नूरजहाँ' के सोलहवें सर्ग में ग्रामीण दृश्यों का सुन्दर वर्णन आया है। आजकल भी प्रबन्धात्मक काव्य लिखने की प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत मात्रा में है, 'नूरजहाँ' उसी का फल है। हाल ही मे 'विक्रमादित्य' नाम का आपका एक प्रबन्ध-काव्य निकला है। इसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय और ध्रुवदेवी की प्रणयकथा तथा चन्द्रगुप्त की विजय यात्राओं का वर्णन है। इसमें गाँधीवाद की अहिंसात्मक नीति की दुष्टों के बल प्रयोग द्वारा दमन की ओर अधिक झुकाव है, देखिए—

हिंसक को यों साधु समझना भक्षक को रक्षक करना
विश्व- प्रकृति प्रतिकूल सदा है ऐसे उद्यम में मरना
नीच नहीं उपदेश सुनेंगे उन्हें दण्ड ही उपकारी
सज्जन ही होते हैं अच्छे उपदेशों के अधिकारी।

श्री नरेन्द्र एम० ए०

आजकल के नवयुक कवियों में आपका ऊँचा स्थान है। 'शूल-फूल' और 'कर्णफूल' आपके प्रारम्भिक काव्य-संग्रह हैं। 'प्रभात फेरी' और 'प्रवासी के गीत' आपके पीछे के संग्रह हैं। आपने शृङ्गार और वीर-रस दोनों को ही अपनाया है। आपकी वीरता सामाजिक बन्धनों और रूढ़ियों के गढ़ ढाने के सम्बन्ध में अधिक है।

आपकी कविता में निराशावाद है किन्तु प्रगतिवादी होने के नाते आप उसे चिरस्थायी नहीं मानते। आप नत-शिर वन्दी को उठाकर उसकी निर्जीव श्वासों में नव जीवन फूँकने का सन्देश सुनाते हैं। आपकी 'ज्येष्ठ के मध्याह्न' शीर्षक कविता की अधिक ख्याति हुई है। देखिए—

मध्याह्न-काल, ज्यों अहि विशाल,
केन्द्र में सूर्य—
शोभित दिन-मणि से गर्वोन्नत ज्यों भीम भाल
कर गरल-पान सब विश्व शान्त
तृण-तरु न कहीं भय से हिलते—
जीवनी शक्ति, जैसे परास्त हो महामृत्यु से, पड़ी क्लान्त !

नरेन्द्रजी का नवीन काव्य-संग्रह 'पलाशवन' के नाम से निकला है। उसमें प्रेम-पीड़ा के साथ प्रकृति का चित्रण भी है किन्तु उसमें उनके हृदय की ज्वाला की प्रतिच्छाया अधिक दिखाई पड़ती है। पलाश की लाली क्रान्ति का प्रतीक है।

लो, डाल डाल से उठी लपट। लो, 'डाल डाल फूले पलाश।'
यह है वसन्त की आग लगादे आग जिसे छूले पलाश।

नरेन्द्रजी ने पहले प्रकृति का सौम्य रूप देखा था। अब उनका झुकाव उसके उग्र रूप की ओर है। सौम्य रूप उदाहरण लीजिए—

मधुमय स्वर से सिंचित मधुवन,
सुरभित नीम, नवल दल पीपल,

श्री अञ्चल—आपका पूरा नाम है श्री रामेश्वरप्रसाद शुक्ल 'अञ्चल'। 'मधुकर', 'अपराजिता', 'किरणवेला' और 'करील' आपके चार काव्य-संग्रह हैं। आपने वासनामय प्रेम के ऊपर आध्यात्मिक आवरण डालने का प्रयत्न नहीं किया है। अञ्चलजी ने तृष्णा को जीवन का एक सत्य मान कर कहा है—

चिर तृष्णा में प्यासे रहना।
मानवता का सन्देश यही

अञ्चलजी के वासना और तृष्णा सम्बन्धी अतृप्ति के गान असन्तोष और विद्रोह भावना में परिणत हो जाते हैं। अञ्चलजी अब प्रगतिवाद की ओर आये हैं। वे शोषित-पीड़ित मानवता का पक्ष लेकर क्रान्ति की ज्वाला धधकाना चाहते हैं। यद्यपि मैं महामरण को त्यौहार मानने का पक्षपाती नहीं हूँ तथापि यह स्वीकार करना पड़ेगा कि आपने पीड़ित मानवता के जो चित्र खींचे हैं, वे करुणा-जनक हैं। देखिए—

और कई बच्चों की माँ आ रही उधर से अन्न बटोरे
आँचल में कुछ लिए चबाती कुछ बिखरे धोती के डोरे
वह देखती पेड़ तले यह खड़ी मानवी कृश जर्जर
देती बाँध फटे दामन में थोड़े से दाने अकुलाकर
किन्तु खड़ी रहती वह जड़ पत्थर निज निरमोही की प्यासी।
घर के बिकते तो बीतेंगी पेड़ तले फिर रातें त्रासी।

अञ्चलजी ने करील को शोषित का प्रतीक माना है क्योंकि उसमें वसन्त में भी पत्र नहीं आते और उसे काँटों का ही भार सहना पड़ता है। संस्कृत के कवि ने तो करील की पत्र हीनता के लिए बसन्त को दोषी नहीं ठहराया था—'पत्रं नैव करील विटपे दोषो वसन्तस्य किम्' किन्तु अञ्चलजी व्यक्ति की हीन अवस्था के लिए समाज को ही दोषी मानते हैं। अञ्चलजी की कविता में प्रकृति प्रेम की अपेक्षा मनुष्य के प्रति प्रेम अधिक है।

कहीं-कहीं अञ्चलजी की भाषा में उर्दू का पुट अधिक हो जाता है। जो लोग राष्ट्रीय कविता करते हैं उनके लिए यह आश्चर्य की बात नहीं है।

श्री उदयशङ्कर भट्ट—आपकी स्फुट कविताओं का संग्रह 'राका' है। आपका लिखा हुआ 'तक्षशिला' नाम का एक प्रबन्ध काव्य भी

है जो पञ्जाब सरकार द्वारा सम्मानित हो चुका है। आपके कई और कविता संग्रह निकल चुके हैं (जैसे युग दीप) उनमें प्रगतिवाद की ओर आपकी प्रवृत्ति दिखाई देती है।

एक मजदूर का करुणा पूर्ण चित्रण देखिए—

मेरी बरसात आँसू है मेरा वसन्त पीला शरीर
गरमी झरनों सा स्वेद स्रोत मेरे साथी दुख दर्द पीर
दिन उनको मुझको रात मिली, श्रम मुझे उन्हें आराम मिला
बलि दे देने को प्राण मिले हन्टर को सूखा चाम मिला

'यथार्थ और कल्पना' आपका नवीनतम काव्य संग्रह है। उसमें यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों से प्रभावित कविताएँ हैं।

श्री सोहनलाल द्विवेदी—आप पहले तो बच्चों के लिए कविता करते थे अब राष्ट्रीय कवि के रूप में अधिक दिखाई देते हैं। आप गाँधीवाद से अधिक प्रभावित हैं। आपकी कविताओं का दूसरा संग्रह 'वासवदत्ता' के नाम से निकला है। यद्यपि वासवदत्ता नाम की कविता में ऐतिहासिक भूलें हैं, तथापि उसका सांस्कृतिक पक्ष बड़ा सराहनीय है। उसकी भाषा का प्रभाव भी बड़ा ओजमय है। आपके प्रथम संग्रह 'भैरवी' में बड़े सुन्दर अभिनय गीत (Marching Songs) हैं। गाँधीजी की अहिंसात्मक नीति से प्रभावित द्विवेदीजी का एक अभियान गीत उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जाता है:—

न हाथ एक शस्त्र हो,
न साथ एक अस्त्र हो।
न अन्न नीर वस्त्र हो,
हटो नहीं, डटो वहीं॥
बढ़े चलो, बढ़े चलो।
रहे समक्ष हिम शिखर।
तुम्हारा प्रण उठे निखर॥

भले ही जाये तन बिखर ।
रुको नहीं झुको नहीं ॥
बढ़े चलो, बढ़े चलो ।

स्फुट कविगण

आजकल जितनी कविताएँ लिखी जा रही हैं उनका परिचय देना इस ग्रन्थ की सीमा और लेखक की शक्ति से बाहर है। सभी ने अपनी सूझबूझ के अनुसार सरस्वती देवी की अर्चना की है, किन्तु उनमें से कुछ के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जो नीचे दिये जाते हैं—

श्री गोकुलचन्द शर्मा—आपने 'तपस्वी तिलक', गाँधीगौरव', 'प्रणवीर प्रताप' आदि पुस्तकें लिखी हैं, जो राष्ट्रीयता से पूर्ण हैं। आप स्फुट कविताएँ भी अच्छी लिखते हैं।

श्री हरिशङ्कर शर्मा—अपना घास पात शीर्षक कविता-संग्रह देव पुरस्कार से सम्मानित हो चुका है।

श्री अनूप शर्मा—आपका 'सिद्धार्थ' नाम का एक प्रबन्ध काव्य निकला है। यह 'प्रियप्रवास' की भाँति संस्कृत छन्दों में लिखा गया एक स्वतन्त्र काव्य ग्रन्थ है।

श्री गोविन्दवल्लभ पन्त—आपके नाटकीय गीत बहुत सुन्दर होते हैं।

श्री रामनाथलाल 'सुमन'—आपकी रचनाएँ 'विपञ्ची' में सग्रहीत हैं।

श्री लक्ष्मीनारायण मिश्र—'अंतर्जगत' और 'तपोवन' के लेखक हैं।

श्री हरिकृष्ण प्रेमी—'आँखों में' 'जादूगरनी' 'अनन्त के पथ पर' 'स्वर्ण विहार', 'अग्नि गान' आपकी रचनाएँ हैं। अग्निगान में हम असन्तोष की आग उग्ररूप में पाते हैं किन्तु उनकी क्रान्ति अहिंसात्मक ही है। आप हिंसा की ही हिंसा चाहते हैं। आपका आदर्श है—

वन के भृङ्ग से सब जन घूमें, हिंसा के हम प्राण निकालें,
विष की जननि सभ्यता के हम, आज गले में फाँसी डालें।

श्री मिलिन्द—आपकी स्फुट कविताओं का संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ है।
श्री पद्मकान्त मालवीय—'त्रिवेणी' 'प्याला' 'प्रेम-पत्र' 'रुबाइयातपद्म'

मधु में बौर आम मञ्जरित,
फैले द्रुम-द्रुम विद्रुम से दल,

* * *

पिक-श्यामल मॅडराते अलि दल
मुह-मुह कुहु-कुहु कुहकी कोयल !

श्री बालकृष्ण राव—आप प्रसिद्ध पत्रकार और नेता स्वर्गीय सर सी० वाई० चिन्तामणि के पुत्र हैं। मद्रासी होते हुए भी आपको ब्रज-भाषा और खड़ी बोली दोनों पर ही अच्छा अधिकार है। 'कौमुदी' और 'आभास' नाम से आपके दो सग्रह निकले हैं। आपका 'कवि और छवि' नाम का एक और संग्रह ग्रन्थ निकला है।

श्री गोपालसिह नैपाली—आपने प्रकृति-सम्बन्धी बहुत सुन्दर कविता की है। आपकी 'पीपल', 'हरी घास' आदि कविताएँ बड़ी सुन्दर हैं। आपका 'नवीन' नाम का काव्य-संग्रह कुछ दिन हुए निकला है।

श्री आरसीप्रसादसिंह—'कलेजे के टुकड़े', 'कलापी', 'आरसी'।

श्री उपेन्द्रनाथ अश्क—'प्रात प्रदीप', 'उर्मियाँ'।

श्री शिवमङ्गलसिंह सुमन—'हिल्लोल', 'जीवन के गान'। इसमें मानव गौरव कुछ बढ़े-चढ़े रूप में दिखाई पड़ता है। देखिए:—

यह हार एक विराम है
जीवन महा संग्राम है
तिल तिल मिटूँगा पर
दया की भीख माँगूगा नहीं

श्री सुमनजी की 'मास्को अब भी दूर है' आदि रूस सम्बन्धी कविताएँ बहुत प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी हैं।

श्री जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'—आपकी 'वैकाली' में प्रकृति के कुछ अच्छे चित्र हैं।

श्री रांगेयराघव—'अजेयखण्डहर', मेधावी' इस महाकाव्य में सभ्यता के विकास की कथा वैज्ञानिक और मार्क्सवादी दृष्टिकोण से कही गई है।

हिन्दी काव्य गगन मे बहुत से और भी तारे उदय हो रहे हैं, उनमें सर्वश्री चन्द्रप्रकाश (रैन बसेरा) श्री निरंकार देव 'सेवक' (स्वस्तिका), श्री श्यामबिहारी शुक्ल 'रतल' (मानव), श्री कृष्णचन्द्र शर्मा 'चन्द्र' (मरीचिका), श्री हॅसकुमार तिवारी (रिमझिम), श्री नीलकण्ठ तिवारी (इन्द्रधनुष), श्री भारतभूषण अग्रवाल (छवि के बन्धन, मुक्ति-मार्ग), श्री सुधीन्द्र (प्रलयवीणा, जौहर), श्री रामकृष्ण भारती (निर्झर), श्री पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' (तू युवक है), श्री तेज नारायण काक (मुक्ति की मशाल), आदि का नाम उल्लेखनीय है। सर्व श्री मुक्ति बोध, नेमीचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा और वात्सायनजी की कविताओं का सम्मिलित संग्रह 'तार सप्तक' नाम से निकला है। इसमे विविध प्रकार की कविताओं का प्रयोग है। इसके कुछ उदाहरणों में प्रगतिवाद में छायावाद की कला का मिश्रण दिखलाई पड़ता है।

स्फुट कवयित्रियों में सुश्री तोरनदेवी शुक्ल 'लली', रामेश्वरी देवी 'चकोरी', तारा पाण्डेय, पुरुषार्थवती देवी आर्य, लीलावती भॅवर 'सत्य', विष्णुकुमारी श्रीवास्तव 'मञ्जु', कुमारी राजराजेश्वरी देवी 'नलिन', राजकुमारी चौहान, विद्यावती 'कोकिल', सूमित्राकुमारी सिन्हा, दिनेशनन्दिनी चोरड्या आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। दिनेशनन्दिनी के 'मौक्तिकमाल' नाम के गद्य-काव्य सग्रह पर सेकसरिया पुरस्कार भी मिला है। श्रीमती होमवती कहानी लिखने के साथ-साथ कविता भी करती हैं। 'प्रतिच्छाया' और उद्गार नाम के सग्रह निकल चुके हैं।

हालावाद

हालावाद हिन्दी-साहित्य में फारसी-साहित्य का प्रभाव है। सूफी लोग अपने को शरीयत वालों से भिन्न समझा करते हैं, क्योंकि उनके मत से शरीयत वालों के विचार कुछ संकुचित होते हैं, शरीयत वालों के ढोंग और आडम्बर की अपेक्षा वे रिन्दों (मजहब को न मानने वाले फक्कड़ लोगों) की सहृदयता को अधिक महत्व देते हैं और अपने को भी रिन्द कहना पसन्द करते हैं। वे शराब को आध्यात्मिक मस्ती का संकेत मानते हैं।

फारसी के हालावादी साहित्य में उमर खय्याम का नाम बहुत प्रसिद्ध है। फिट्‌जराल्ड द्वारा किया हुआ उनकी रुबाइयों का अँग्रेजी अनुवाद बहुत लोकप्रिय हुआ। हिन्दी में भी इसके कई अनुवाद निकले हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी एक अनुवाद किया है। बच्चनजी ने उमरखय्याम की मधुशाला लिखी, और उसके साथ ही स्वतन्त्ररूप से अपनी 'मधुशाला' भी। बच्चनजी आजकल मधु साहित्य के प्रतिनिधि कवि समझे जाते हैं। इन्होंने 'मधुबाला', 'मधुकलश', निशा-निमन्त्रण' 'एकान्त सङ्गीत' और 'आकुल-अन्तर' नाम की चार पुस्तकें और लिखी हैं। यद्यपि बच्चनजी ने भी हाला का गुणगान आलङ्कारिक रूप से किया है तथापि उसमें कहीं-कहीं वास्तविक हाला का स्तुति पाठ-सा सुनायी पड़ता है। विषय चाहे जैसा हो, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि बच्चनजी ने इसकी अभिव्यक्ति बड़े सुन्दर ढङ्ग से की है।

बच्चन के काव्य में एक विशेष तन्मयता है। इसके कारण वह लोकप्रिय हो गया है। इसके कई अनुकरण निकले हैं, जैसे श्रीकृष्णचन्द्र की 'मदशाला' और श्री रञ्जनजी की 'टीशाला' आदि। प० हृषिकेश चतुर्वेदी ने भी भारतीय-संस्कृति के अनुकूल विजया की प्रशंसा में 'विजया-वाटिका' नाम की एक पुस्तक लिखी है।

बच्चनजी ने स्वतन्त्र प्रेम की भी बहुत-सी कविताएँ लिखी हैं किन्तु वे प्रेम और हाला की मादकता मे संसार की वास्तविकता को भुलाना नहीं चाहते हैं। उनके 'एकान्त-सङ्गीत' और 'निशा-निमन्त्रण में संसार के लोहे के चनों की ओर ध्यान गया है—

मधुवाला का राग नहीं अब,
अँगूरों का बाग नहीं अब,
अब लोहे के चने मिलेंगे,
दाँतों को अजमाओ,
आगे हिम्मत करके आओ।

बच्चनजी अब स्वप्नमयी कल्पना और मधुर शब्दावली के भुलावे में नही पड़ना चाहते हैं, वे 'एकान्त-सङ्गीत' मे कहते है—

सत्य हुआ मुखरित जीवन मे
मत सपनों का गीत सुनाओ
मुझे न सपनों मे बहलाओ

बच्चनजी अब एक पुरुषार्थवादी के रूप में दिखाई देते हैं। इस पुरुषार्थवाद मे मानव-गौरव इस दशा को पहुँच गया है कि वे मनुष्य को प्रार्थना के अर्थ भी सिर झुकाने के लिए सलाह नहीं देते देखिए—

प्रार्थना मत कर, मत कर
युद्ध क्षेत्र में दिखला भुजबल
रह कर अविजित अविचल प्रतिपल
मनुज पराजय के स्मारक हैं मठ, मस्जिद, गिरजाघर
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर।

बच्चनजी पलायनवाद की विश्रान्ति को भी संघर्ष की सफलता के लिए आवश्यक मानते हैं। हम देखते हैं कि हमारे कवि हमको जीवन संघर्ष की ओर ले जा रहे हैं। 'सतरङ्गिणी' आपकी कविताओं का नवीनतम संग्रह है।

छायावाद और रहस्यवाद

वस्तु के बाहरी आकार-प्रकार के अतिरिक्त उसमें और कुछ न देखने को ही इतिवृत्तात्मकता कहते हैं। लोगों का ध्यान उपयोगिता की ओर अधिक होने से द्विवेदी युग में इस भावना का प्राधान्य था, इसमे कुछ वैज्ञानिकता और बुद्धिवाद का भी प्रभाव था। विज्ञान एक संकुचित प्रत्यक्ष का आश्रय लेता है। वह इन्द्रियजन्य ज्ञान से बाहर नहीं जाता। किन्तु ससार मे जो कुछ दिखाई पड़ता है वही सब कुछ नहीं है! मूर्त-जगत् में भी घण्टे की झङ्कार की-सी अमूर्त छाया रहती है। इन्द्रिय-गोचर जगत में इन्द्रियों के परे की चीज रहती है जो भावुक हृदय में प्रतिबिम्बित दिखाई देती है। सब चीजें कटी-छटी सीमाओं में आबद्ध नहीं रहती। एक की सीमा दूसरे की सीमा में प्रवेश कर जाती हैं। यह संसार जड़ और चेतन की सम्मेलन-भूमि है, किन्तु इनके भी क्षेत्र नितान्त अलग नहीं। चेतन जड़ से सीमित नहीं। जड वस्तुएँ भी अपनी सांकेतिक भाषा में मनुष्य से बोलती हुई मालूम पड़ती हैं और वे चेतन को प्रभावित करती हैं, यही इस बात का प्रमाण है कि जड़ और चेतन मे नितान्त पार्थक्य नहीं। यह भारतीय एकात्मवाद का प्रभाव है।

छायावाद वस्तुओं मे उनकी कटी-छटी सीमाओं के अतिरिक्त और कुछ देखने की प्रवृत्ति का फल है और वह इन्द्रिय गोचर जगत का भाव-जगत् के साथ समन्वय करता है। मनुष्य के लिए जड़ जगत् पत्थर की भाँति अभेद्य नहीं रहता वरन् वह मोम की भाँति उसके भावों के साँचे में ढल जाता है। जड़ चेतन के लिए बन्धन नहीं रहता और वह उसके प्रसार को सीमित नहीं करता वरन् वह आत्मा के प्रकाश के लिए पारदर्शक हो जाता है! जड़ पदार्थ भी आत्मीय भाव धारण कर लेते हैं और प्रकृति मनुष्य की सहचरी बन जाती है। छायावाद के लिए गुलाब का फूल केवल फूल न रहकर यौवन का प्रतीक

बन जाता है । यमुना की लहरों में अतीत की आकुल तान सुनाई पडने लगती है । 'जुही की कली' स्नेह और सुहाग से भरी नायिका का रूप धारण कर लेती है । झरना कुछ गहरी बात कहते सुनाई देता है (बात कुछ छिपी हुई है गहरी) सारी प्रकृति कवि के साथ भाव-साहचर्य में स्पन्दित होती है । ऐसे भाव जायसी आदि में भी आये हैं।

आजकल का छायावादी कवि प्रकृति में भी मानवी भावों की छाया देखता है । उसके लिए पुष्प की पखुरियाँ मधु के कटोरे बन जाते हैं, अलिबालाएँ मधु पान करती हैं । तारागण आकाश के नेत्र बन जाते हैं और कवि उनमें मौन संकेत पाता है । देखिए—

सौरभ का फैला केश-जाल
करती समीर हरियाँ विहार,
गीली केशर मद झूम-झूम,
पीते तितली के नव कुमार
मर्मर का मधुर सङ्गीत छेड़,
देते हैं हिल पल्लव अजान ।—पन्त

नीचे की पंक्तियों में प्रकृति में अलङ्कार रूप से मानवी भावों का आरोप है । देखिए—

अज्ञात लोक से छिप-छिप
क्यों उतर रश्मियाँ आतीं ।
मधु पीकर प्यास बुझाने,
फूलों के उर खुलवातीं ॥
छिप आना तुम छाया तनु—

—महादेवी

इन भावों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह सब कवि का मनोराज्य है । प्रकृति न किसी के साथ बोलती है और न हँसती है । यह मान भी लिया जाय, किन्तु इसके साथ यह प्रश्न अवश्य उठता है कि क्या प्रकृति की सार्थकता उसके अस्तित्व मात्र में है या

उससे कुछ ऊपर भी है। उससे 'अस्ति, भाँति-प्रिय' लगा हुआ है। वह भी प्रेम का विषय है। छायावाद कम-से-कम उस पार्थक्य और शुष्कता को मिटा देता है जो कि इतिवृत्तात्मक काव्य में रहती है।

यहाँ पर छायावाद नाम पर प्रकाश डाल देना अप्रासङ्गिक न होगा। आचार्य शुक्लजी ने छायावाद शब्द को (Phantasmata) अर्थात् छायाभास से निकला हुआ बतलाया है। कविवर जयशंकर प्रसाद ने बतलाया है कि प्राचीन संस्कृत काव्य में छाया मोती की आभा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है छाया स्त्रियों के गुणों में मानी गई। उसका अर्थ होता है अग्राम्यता सूचक सूक्ष्म भङ्गिमा। छायावाद का उसी छाया से सम्बन्ध है जो वस्तु का मूल्य बढ़ा देती है।

सम्भव है छायावाद को लोगों ने उसकी ईषत् अस्पष्टता के कारण इस नाम से पुकारा हो और फिर यह नाम प्रचलित हो गया हो। कुछ भी हो इसमें छाया की सी कोमलता और स्वप्नमयता रहती है। छायावाद कोरे वस्तुवाद से सन्तुष्ट नहीं रहता, वह वस्तु में एक आध्यात्मिकता और स्थूल में सूक्ष्म की स्वप्निल आभा देखता है।

छायावाद ने अपनी इस सूक्ष्म और स्वप्नप्रियता के अनुकूल एक शैली बनाली है। उस शैली की विशेषताओं का हम नवीन कविता की विशेषताएँ बतलाते हुए दिग्दर्शन करा चुके हैं। उनमें अमूर्त से मूर्त की तुलना करना, मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय अलङ्कारों का महत्व, सुन्दर शब्द चित्रण, भाषा में लाक्षणिक प्रयोगों का प्राचुर्य, छन्द में स्वच्छन्दता मुख्य हैं। शैली की इस नवीनता के अतिरिक्त छायावाद में बुद्धिवाद की अपेक्षा भावुकता को अधिक स्थान दिया गया है और वह कोरे वस्तुवाद से जरा ऊपर उठना चाहता है। छायावाद ने वासना के कर्दम से निर्मुक्त सौन्दर्य का शुद्ध निर्मल रूप दिया (उसने प्रेम के गीत अवश्य गाये हैं किन्तु उनमें आत्मसमर्पण की कोमल भावना अधिक है) और इसी के साथ हमारा ध्यान विश्व में एक व्याप्त चेतना की ओर आकर्षित किया। श्रीमती महादेवी वर्मा

ने अपने 'आधुनिक कवि' के संग्रह की भूमिका में इन दो बातों पर विशेष जोर दिया है।

छायावाद के प्रति सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि वह जीवन से हटा हुआ है और उसमें 'ले चल वहाँ भुलावा देकर मेरे नाविक धीरे-धीरे' तथा 'तज कोलाहल की अवनी रे' के पलायनवाद की-सी प्रवृत्ति है। छायावादी कवि जीवन की विशेषताओं का सामना न कर उसकी वेदना से बचने के लिए एक कल्पित सौन्दर्य लोक में विचरता है। जीवन में किसी अंश तक सौन्दर्योपासना और भावुकता आवश्यक है, लेकिन उनको जीवन का एकमात्र ध्येय न बना लेना चाहिए। छायावाद मे पलायनवाद की प्रवृत्ति अवश्य रही है किन्तु वह उसका आवश्यक अङ्ग नहीं है। कामायनी मे श्रद्धा मनु को पलायनवाद के विरुद्ध उपदेश देती है। महादेवी ने भी आशावाद के गीत गाये हैं। पन्तजी का स्वर्ण साहित्य एक नव-निर्माण की ओर ले जाता है।

रहस्यवाद

आत्मा सकोच की ओर नहीं जाती वरन् सदा विस्तारोन्मुखी रहती है क्योंकि इसका सम्बन्ध सीमारहित से है। वह न केवल प्रकृति से ही सामञ्जस्य स्थापित करना चाहती है वरन् प्रकृति और जीव की भीतरी सत्ता या आत्मा के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित सामञ्जस्य के भाव की पूर्णतया पूर्ति के लिए उत्सुक रहती है। यही रहस्यवाद है। जिस प्रकार छायावाद कोरे वस्तुवाद से आगे जाता है और प्रकृति में मानवी भावो की छाया देखता है उसी प्रकार रहस्यवाद छायावाद के आगे की वस्तु है। वह प्रकृति और मनुष्य के भीतर की व्यापक सत्ता के साथ एक भावात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। रहस्यवाद में एक आत्म-निवेदन रहता है। छायावाद में शैली की प्रधानता है, रहस्यवाद मे विषय की, वैसे दोनो ही भाव-प्रधान हैं। शायद इसीलिए आचार्य शुक्लजी ने रहस्यवाद को

छायावाद की एक प्रवृत्ति माना है। वह परम सत्ता जिसका ऊपर उल्लेख हुआ है, भीतरी है और व्यक्त भी होकर पूर्णतया जानी नहीं जाती। (नश्वर से कैसे गाऊँ आज अनश्व गीत) इसलिए उसके सम्बन्ध में कुछ रहस्य रहता है। रहस्यवाद नया नाम है, यद्यपि प्राचीन शास्त्रों में परा-विद्या को रहस्य और गुह्य कहा है, इसका अनुभव गूँगे के गुड़ के समान अवर्णनीय होता है।* इसलिए यह 'सैना-वैना'‡ सांकेतिक भाषा में समझाया जाता है और इसमें प्रायः प्रतीकों और अन्योक्तियों से काम लिया जाता है।

रहस्यवाद भाव-प्रधान होने के कारण उसकी अभिव्यक्ति गीतों में ही हुई है। वर्तमान युग के रहस्यवाद की धारा से अपना तादात्म्य रखने वाली कवयित्री श्री महादेवी वर्मा अपने 'सान्ध्य-गीत' की भूमिका में उसकी व्याख्या करती हुई लिखती हैं :—

उसने (रहस्यवाद ने) परा विद्या की अपार्थिवता ली, वेदान्त के अद्वैत की छाया मात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको सांकेतिक दाम्पत्य भाव-सूत्र में बाँध कर एक निराले स्नेह सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली जो मनुष्य के हृदय को पूर्ण अवलम्ब दे सका, उसे पार्थिव प्रेम से ऊपर उठा सका, हृदय को मस्तिष्कमय और मस्तिष्क को हृदयमय बना सका। इसमें सन्देह नहीं कि इस वाद ने रूढ़ि बन बहुतों को भ्रम में डाल दिया है परन्तु जिन इने-गिने व्यक्तियों ने इसे वास्तव में समझा उन्हें इस नीहार लोक में भी गन्तव्य मार्ग दिखाई दे सका।"

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध कुछ लोग अद्वैत का मानते

---

* नारद के भक्ति सूत्रों में प्रेम की अनुभूति को 'मूकास्वादवत्' कहा है। गूँगे का गुड़ भी वही चीज है।

‡ जो दीखे सो तौ है नहीं, है सो कहा न जाई।
सैना वैना कर समझाऊँ, गूँगे को गुर भाई॥—कबीर

है और कुछ उसे द्वैतात्मक मानते हैं। ये सम्बन्ध भी कई प्रकार के होते हैं। मनुष्य अपने ही सम्बन्धों के आधार पर आत्मा और पर-मात्मा के सम्बन्धों का वर्णन करता है। प्रायः लोगों ने प्रेमी-प्रेमिका क सम्बन्ध को महत्ता दी है। रहस्यवाद का सम्बन्ध परा-विद्या से है। अँग्रेजी में ये लोग मिस्टिक (Mistic) कहलाते हैं और कुछ लोग इनको मर्मी कहते हैं। दार्शनिक का सम्बन्ध बुद्धि से ही रहता है। वह कभी-कभी सहज बुद्धि (Intution) से भी काम ले सकता है, लेकिन उन्हें भावना की कमी रहती है, रहस्यवाद की अनुभूति में भावना की प्रधानता रहती है। इस अनुभूति के लिए कुछ साधन भी बतलाये गये हैं। आज-कल के रहस्यवादियों में उन साधनों का तो अभाव है, किन्तु कुछ अनुभूति अवश्य है। वह वास्तविक है या काल्पनिक, यह कहना कठिन है। मेरी समझ में उसमें कल्पना और काव्य अधिक है, फिर भी कुछ न कुछ अनुभूति का भी आधार है। अच्छी चीज की कल्पना के लिए भी इसकी ओर कुछ प्रवृत्ति चाहिए। मुलम्मे के लिये भी थोड़ा बहुत सोना दरकार होता है। इसलिए यह प्रवृत्ति निन्दनीय नहीं है। यह निन्दनीय तब होगी जब कि रहस्यवाद ही में काव्य संकुचित कर दिया जाय। काव्य का जीवन से सम्बन्ध रहना चाहिए। इस ओर आचार्य शुक्लजी ने लोगों का ध्यान आकर्षित करने में बड़ा योग दिया है। हर्ष की बात है कि आजकल के कवियों का ध्यान इस ओर आकर्षित हो रहा है। पन्तजी जैसे छायावादी कवि भी जीवन की ओर झुके हैं। सुश्री महादेवी वर्मा ने भी बङ्गाल के अकाल पर कविता लिखी है। आजकल का प्रगतिवाद इसी प्रेरणा का फल है। प्रगतिवाद में कवियों का शोषित वर्ग की ओर अधिक ध्यान गया है।

प्रगतिवाद

जिस प्रकार छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म की प्रतिक्रिया स्वरूप

था उसी प्रकार इसमें सूक्ष्म के प्रति स्थूल की प्रतिक्रिया दिखाई देती है। वह जीवन की विषमताओं को भुलाकर सौन्दर्य के स्वप्न नहीं देखना चाहता है। वैसे तो जहाँ नवीनता है वहीं प्रगति है (छायावाद भी एक प्रगति के रूप में आया था) किन्तु प्रगतिवाद अब एक पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है। वह काव्य को वस्तुवाद की कठोर और कर्कश भूमि पर खड़ा कर देना चाहता है। वह शोषित, पीड़ित मानव को ही अपने काव्य का आलम्बन बनाना चाहता है! सामन्तशाही और पूँजीवाद से उसका विरोध है। जो लोग उनसे सम्बन्ध रखने वाली कविता करते हैं अथवा वे जो प्रगतिवादी सिद्धान्तों को नहीं मानते वे प्रतिक्रियावादी कहलाते हैं।

प्रगतिवाद वर्गहीन समाज के पक्ष में है। वह एक प्रकार के मार्क्सवाद का साहित्यिक रूप कहा जा सकता है। सौन्दर्य और कला से उसका विरोध नहीं है किन्तु वह पहले उन भौतिक अभावों को और जनता के दैन्य और दारिद्रय को दूर करना चाहता है जिसके कारण उनकी सौन्दर्यानुभूति में कमी पड़ती है। उसका सिद्धान्त है 'भूखे भजन न होय गुपाला'। वह कला को जनसाधारण के उपभोग का विषय बनाना चाहता है। अभी प्रगतिबाद में वकालत और प्रचार का प्राधान्य है और कला की अपेक्षाकृत कमी है। जिस प्रकार प्रगतिवादी कवि यह मानता है कि निम्न श्रेणी के एवं दलितों मे भी मानवता के दर्शन हो सकते हैं उसी प्रकार प्रगतिवादी यह नहीं मानता कि उच्च वर्ग के लोगों में भी हृदय की उच्च भावनाएँ मिल सकती हैं। उनकी शिक्षा के कारण उनकी अनुभूति भी तीव्र होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त दुख में पड़ा हुआ अभिजात वर्ग का मनुष्य केवल मानवता के नाते हमारी सहानुभूति का विषय हो सकता है। इससे यह भी मानना पड़ेगा कि संसार में राम-राज्य स्थापन करने के लिए क्रान्ति ही एकमात्र साधन नहीं।

प्रगतिवाद ने अधिकाँश में रूस से प्रेरणा ग्रहण की है और वह वहाँ के मार्क्सवादी साहित्य से प्रभावित है। वह वहाँ के ही समाज को आदर्श समझता है। उसका स्तवन प्रगतिवाद का एक सैद्धान्तिक पक्ष सा होगया है।

जहाँ लहलहाती खेती पर कारिन्दे मँडराते ना
सजी रास की ढेरी पर लालाजी घात लगाते ना
ब्याज चुकाते ही न जवानी गई कसील जवानों की
लाल रूस का दुश्मन साथी दुश्मन सब इन्सानों का

सम्भव है रूस में वहाँ के लोगों के प्रति सामाजिक शोषण न हो किन्तु रूस में भी दोष हो सकते हैं। उसमें साम्राज्य-लिप्सा आ सकती है।

छायावाद की भाँति प्रगतिवाद भी रूढ़िग्रस्त हो गया है। उसकी शोषित वर्ग के साथ जो सहानुभूति है वह अधिकतर बौद्धिक है। शायद यह फैशन कभी सच्ची सहानुभूति उत्पन्न करदे। हमको काव्य में प्रगतिवाद की वास्तविकता के साथ छायावाद के सौन्दर्य का समन्वय करने की आवश्यकता है। हमको चक्की के कर्कश स्वर को कोमलता प्रदान करने तथा उस कार्य को सुलभ बनाने के लिए कुछ राग चाहिए और राग में चक्की पीसना न भूलना चाहिए।

हर्ष की बात है कि अब हमारा साहित्य इस समन्वय की ओर अग्रसर हो रहा है। छायावाद और रहस्यवाद की सजग 'दीपशिखा' महादेवी जैसी कवयित्री बङ्गालके अकाल पर कविता लिखती हैं (वे गद्य में तो पहले ही से प्रगतिवादिनी थीं) और अज्ञेय जैसे प्रगतिवादी सस्कृतगर्भित छायावादी शब्दावली को अपनाते हैं।

प्रेम का स्रोत जो छायावाद और प्रगतिवाद के बीच में अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति बहता था वह अब भी दिखाई पड़ता है किन्तु थोड़े निरावरण रूप में, अर्थात् उस पर ईश्वरीय प्रेम की पालिश नहीं की जाती।

आजकल वस्तुवाद की भी कई शाखाएँ और काव्य में और भी बहुत से वाद स्थान पाते जा रहे हैं। उनका उल्लेख विस्तार भय से नहीं किया जाता।

उपसंहार

छायावाद और रहस्यवाद के काव्य में अभिव्यञ्जनावाद का होना (अर्थात् अभिव्यक्ति या कहने के ढङ्ग को विशेष महत्व देना) अवश्यम्भावी है। किन्तु नीति और मर्यादा की अवहेलना नहीं हुई है। यदि हुई है तो बहुत कम। स्वच्छन्दतावादी होते हुए भी लोगों ने बहुत मर्यादा से काम लिया है। रहस्यवाद के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जायगा कि वास्तविक अनुभूति की ओर ध्यान न देकर उसमें कहने के ढङ्ग का अधिक महत्व है, किन्तु वह विषय ही ऐसा है जिसमें अनुभूति सुलभ नहीं है। जहाँ तक कविता का सम्बन्ध है वर्तमान काव्य बहुत ऊँचा जा रहा है। इसके लिए हम सबको गर्व करना चाहिए। रही सच्ची अनुभूति और भावना की बात, वह आजकल के युग में बहुत कठिन है। व्यक्तियों का दोष नहीं, युग का दोष है। विना थोड़ी बहुत अनुभूति के काव्य में वह निजीपन और नवीनता नहीं आ सकती जो आज कल के काव्य में है। जैसा कि ऊपर कहा गया है आज-कल के काव्य में भी कुछ रूढ़िवाद आ चला है किन्तु वह नगण्य है। सच्चे कवि तो हर युग में कम रहे हैं।

संक्षेप में हम कह सकते है कि कविता रहस्यवाद और छायावाद से हट कर प्रगतिवाद की ओर जा रही है। आजकल की कविता आदर्शवाद से हट कर वास्तविकता की ओर झुकी है। हमको एक ओर तो वासना के मधु में जीवन की कटुता को भुला देने की प्रवृत्ति मिलती है अथवा आदर्श और स्वप्नों की झलक दिखाकर सुधार की ओर प्रवृत्त किया जाता है और दूसरी ओर जीवन की घोर वास्तविकताओं को स्वीकार कर उनसे लड़ने की तैयारी दिखाई

देती है। यह पिछली प्रवृत्ति अब प्रबलतर होती जाती है। काव्य जीवन से उदासीन न रह कर सोने की रेशमी चादर की अपेक्षा युद्ध क्षेत्र में आने के लिए कमर में बँधे हुए फेंटे का काम देने लगा है। प्रगतिवादी दल भी अब उतना उग्र और कट्टर नहीं रहा जितना कि पहले था। इधर विज्ञान प्रधान सभ्यता के विध्वंसक प्रभाव के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न होती जा रही है और पन्तजी जैसे कवियों का झुकाव आध्यात्मिकता की ओर हो रहा है और हमारे कवि सांस्कृतिक पक्ष को अपनाते जाते हैं इसी कारण महाभारत आदि के प्राचीन आख्यानों पर काव्य रचे जा रहे हैं। देश में स्वतन्त्रता का अरुणोदय हो गया है। दासता से कुण्ठित साहित्य को भी गति मिलेगी। उन्नत वास्तविकता के साथ उज्ज्वल स्वप्न भी देखने को मिलेंगे। नयी सांस्कृतिक चेतना भी जाग्रत होगी। हिन्दी का भी मान बढ़ेगा, स्वदेशाभिमान के साथ स्वभाषा के प्रति गौरव भावना का उदय होगा। उच्च शिक्षा के माध्यम बनने के साथ-साथ हिन्दी में नये वैज्ञानिक साहित्य की सृष्टि होगी। अभी निराशा के बादल बिल्कुल हटे तो नहीं किन्तु आशा-वाद का अरुणोदय हो गया है—'सूखी री यह डाल वसन बासन्ती लेगी।'

लेखक का आलोचनात्मक साहित्य

१—सिद्धान्त और अध्ययन (तृतीय संस्करण)—इस पुस्तक में प्राचीन अलङ्कार शास्त्र की आधार भूमि पर समालोचना शास्त्र के व्यापक सिद्धान्तों का विवेचन है। इसमें रस सम्बन्धी तत्वों का, जैसे साधारणीकरण, रस मैत्री, रसाभास, भावाभास आदि विषयों का विशद विवेचन है। साहित्य और कला से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी प्रमुख समस्याओं पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। मू० ४॥)

२—काव्य के रूप—यह सिद्धान्त और अध्ययन का पूरक ग्रथ है। इसमें दृश्यकाव्य, महाकाव्य, प्रगीतकाव्य, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, जीवनी आदि साहित्य की विधाओं का शास्त्रीय विवेचन है। साथ ही उनका हिन्दी और अँग्रेजी साहित्यों में क्रम विकास भी दिखाया है। सिद्धान्त और अध्ययन तथा काव्य के रूप मिल कर साहित्यालोचन का क्षेत्र पूरा कर देते हैं और साथ ही हिन्दी साहित्य के विविध अङ्गों के विकास का भी परिज्ञान हो जाता है। मूल्य ४|||)

३—साहित्य और समीक्षा—इस पुस्तक में इन्टर और बी० ए० के विद्यार्थियों के लिए रस अलङ्कार छन्द और दोषों का वर्णन किया गया है। मूल्य १॥)

लेखक की आत्म-कथा

मेरी असफलताएँ—इस पुस्तक में लेखक ने स्वयं अपने को हास्य-व्यङ्ग का विषय बनाया है। इस पुस्तक के साहित्यिक-हास्य का युवक और वृद्ध सभी आनन्द ले सकते हैं। मूल्य २)

आलोचना सम्बन्धी साहित्य

सुमित्रानन्दन पन्त—ले० डा० नगेन्द्र। इस पुस्तक में छायावाद के स्वरूप के साथ उसके टेकनीक का विवेचन और पन्तजी की नवीनतम कृतियों की आलोचना की है। मूल्य २।।)

साकेत एक अध्ययन—ले० डा० नगेन्द्र। इसमें साकेत के भावपक्ष, कलापक्ष और सांस्कृतिक-पक्ष के सम्बन्ध में विस्तृत आलोचना है। मूल्य २।।)

साहित्य वातायन—लेखक श्री शिवनन्दन प्रसाद, एम० ए०। विद्यापति, जायसी और महादेवी पर इसमें पठनीय सामग्री है। मू० १।)

साहित्य की झाँकी—लेखक डाक्टर गौरीशङ्कर सत्येन्द्र। इसमें कृष्ण-काव्य, कहानी साहित्य और समालोचना शास्त्र पर उपयोगी लेख हैं। मूल्य १।।)

ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन—ले० डा० सत्येन्द्र एम० ए०, पी-एच० डी०। प्रस्तुत पुस्तक . क का पी-एच० डी० के लिए लिखा गया प्रबन्ध एक अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें ब्रजलोकवार्ता का वैज्ञानिक किन्तु रोचक अध्ययन उपस्थित किया गया है। मूल्य ६)

प्रसादजी की ध्रुवस्वामिनी—ले० श्री कृष्णकुमार सिन्हा। प्रसादजी के अन्तिम नाटक ध्रुवस्वामिनी का इसमें सुबोध शैली में मूल्याङ्कन और अध्ययन है। मूल्य १)

परीक्षार्थी-प्रबोध (दो भागों में)—हिन्दी-साहित्य के परीक्षार्थियों को सामयिक सहायता के लिए तय्यार की गई है। प्रथमा, मध्यमा, उत्तमा, विदुषी, सरस्वती, रत्न-प्रभाकर, प्रवेशिका-भूषण-साहित्यालङ्कार, इण्टर, बी० ए० तथा एम० ए० आदि परीक्षार्थियों के लिए चुने उपयोगी विषयों पर इसमें अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत की गयी सामग्री दी गई है। प्रत्येक का मूल्य ३)

सभी तरह की पुस्तके मिलने का पता—

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।